डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

काशी-विश्वविद्यालय, वाराणसी

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना

द्वितीय संस्करण २००० प्रतियाँ; विक्रमाब्द २०२१; शकाब्द १८८६; खृष्टाब्द १९६४

मूल्य : नौ रुपये, पचास पैसे

मुद्रक
प्रभात प्रेस, मीठा
पटना—१

वक्तव्य

श्लेषे केचन शब्दगुम्फविषये केचिद्रसे चापरे-
ऽलङ्कारे कतिचित्सदर्थविषये चान्ये कथावर्णके।
आः सर्वत्र गभीरधीरकविताविन्ध्याटवीचातुरी-
सञ्चारी कविकुम्भिकुम्भभिदुरो बाणस्तु पञ्चाननः॥

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् को दो-तीन वर्ष में ही जो थोड़ी-घनी सफलता मिली है, वह इस बात का सिद्ध प्रमाण है कि साहित्य के निमित्त सरकारी संरक्षण प्राप्त होने पर, हिन्दी में मननशील मनस्वी विद्वान्, हिन्दी-साहित्य के अभावों की पूर्त्ति के लिए, कितनी-लगन और आस्था के साथ काम कर सकते हैं।

बिहार-राज्य के शिक्षा-विभाग की छत्रच्छाया में अपनी पूरी आंतरिक स्वतंत्रता के साथ काम करते हुए परिषद् ने यह अनुभव किया है कि हिन्दी के विशेषज्ञ और अधिकारी विद्वानों को यदि सुअवसर दिया जाय और उन्हें हिन्दी-संसार के सर्वविदित प्रकाशकीय व्यवहारों का अनुभव न होने दिया जाय, तो साहित्य में ऐसे ग्रंथों की संख्या-वृद्धि हो सकती है, जिनसे राष्ट्रभाषा का गौरव अक्षुण्ण रहे।

परिषद् ने ग्रंथ अथवा भाषण के चुनाव में ग्रंथकार अथवा वक्ता की इच्छा को ही बराबर प्रधानता दी है। विद्वानों ने परिषद् के उद्देश्यों को समझकर, अपनी स्वतंत्र रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार, परिषद् को अपने आधुनिकतम अनुशीलन और अनुसंधान का फल प्रदान करना चाहा है और परिषद् ने निःसंकोच उसका स्वागत और सदुपयोग किया है। यही कारण है कि परिषद् को साहित्य के उन्नयन में हिन्दी-जगत् के सभी चोटी के विद्वानों का हार्दिक सहयोग क्रमशः प्राप्त होता जा रहा है।

परिषद् की ओर से प्रतिवर्ष दो तीन विशिष्ट विद्वानों की भाषणमाला का आयोजन किया जाता है। प्रत्येक भाषण एक सहस्र मुद्रा से सादर पुरस्कृत होता है। भाषण के पुस्तकाकार में छपने पर वक्ता लेखक को रॉयल्टी भी दी जाती है। जिस समय डॉ० वासुदेव-

इच्छा प्रकट की। परिषद् ने लेखक की इच्छा का सम्मान करने में कोई असमंजस नहीं देखा; क्योंकि लेखक की 'भूमिका' में यह बात स्पष्ट है कि इस ग्रंथ में बाणभट्ट की एक ही कृति का केवल सांस्कृतिक अध्ययन उपस्थित किया गया है। और, महाकवि के समस्त साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन लेखक स्वयं कर रहे हैं और उनकी उस गम्भीर गवेषणा का फल किसी दूसरे ग्रंथ का विषय होगा।

संयोगवश, जिस समय डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल भाषण करने पटना आये थे, उसी समय आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी अपनी आदिकालीन हिन्दी-साहित्य-संबंधी व्याख्यानमाला के लिए यहाँ पधारे हुए थे। परिषद् की ओर से दोनों विद्वानों के भाषण लगातार पाँच दिनों तक, प्रतिदिन एक-एक घंटा, आगे-पीछे हुए थे। उस समय स्वयं आचार्य द्विवेदीजी ने डॉक्टर अग्रवाल साहब के भाषण पर आश्चर्य और संतोष प्रकट किया था। आश्चर्य उन्हें इस बात का हुआ कि डॉक्टर अग्रवाल ने हर्षचरित की हीर टटोलकर उसमें से हीरे की कितनी कणियाँ निकाल डाली हैं और आजतक बहुत-से विद्वानों ने हर्षचरित का अध्ययन किया; पर किसी को इतनी बारीकियाँ और खूबियाँ न सूझीं। और, संतोष उन्हें इस बात का हुआ कि डॉक्टर अग्रवाल ने संस्कृत काव्यों के अध्ययन के लिए शोध की एक नई दिशा सुझाई है तथा अग्रवाल साहब की यह सूझ उनकी ओर से साहित्य को एक नई देन है। आचार्य द्विवेदीजी ने उसी समय यह भी विचार प्रकट किया था कि मृच्छकटिक नाटक, पद्मावत आदि का अध्ययन-अन्वेषण डॉक्टर अग्रवाल के प्रदर्शित मार्ग से ही होना चाहिए।

भारतीय वाङ्मय और पुरातत्त्व के अनुशीलन-परिशीलन में डॉक्टर अग्रवाल ने जैसी विमल दृष्टि पाई है वैसी हिन्दी संसार में कहीं कोई आँख पर नहीं चढ़ती। आरंभ से ही उनका झुकाव इसी ओर रहा। सन् १९२९ ई० में लखनऊ-विश्वविद्यालय से एम्० ए० पास करने के बाद, सन् १९४० ई० तक, मथुरा के पुरातत्त्व-संग्रहालय के अध्यक्ष-पद को उन्होंने सुशोभित किया। इसी समय उन्होंने सन् १९४१ ई० में पी-एच्० डी० और सन् १९४६ ई० में डी० लिट्० की सम्मानित उपाधि प्राप्त की। तदुपरांत, सन् १९४६ से १९५१ई० तक उन्होंने सेण्ट्रल एशियन एण्टिक्विटीज म्युजियम के सुपरिण्टेण्डेण्ट और भारतीय पुरातत्त्व-विभाग के अध्यक्ष का काम बड़ी प्रतिष्ठा और सफलता के साथ किया। इसके बाद वे नवम्बर, १९५१ ई० से काशी विश्वविद्यालय के आर्ट ऐण्ड आरकिटेक्चर कॉलेज ऑफ् इण्डोलॉजी (भारती-महाविद्यालय) में प्रोफेसर रहे। सन् १९५२ ई० में लखनऊ-विश्वविद्यालय में राधाकुमुद मुकर्जी-व्याख्याननिधि की ओर से व्याख्याता नियुक्त हुए थे। व्याख्यान का विषय 'पाणिनि' था। वे निम्नलिखित सुविख्यात और सुप्रतिष्ठित संस्थाओं के सभापति भी हो चुके हैं—भारतीय मुद्रा-परिषद् (नागपुर), भारतीय संग्रहालय परिषद् (पटना), इण्डियन

हिन्दी में संस्कृत-साहित्य के इतिहास लिखनेवाले विद्वानों और संस्कृत-साहित्य के पारखी पाश्चात्य मनीषियों ने बाणभट्ट के व्यक्तित्व और कवित्व के संबंध में जो उद्‌गार व्यक्त किये हैं, उन सबका यदि संकलन कर दिया जाय, तो एक खासी प्रशस्तिमाला अवश्य बन जायगी और महाकवि की विशेषताओं की कुछ झलक भी मिल जायगी; पर वह बाबत पैदा न होगी, जो डॉ० अग्रवाल ने पैदा की है। उन्होंने महाकवि का जो मर्मोद्‌घाटन किया है, जिस रूप में महाकवि को हमारे सामने रखा है, वह अभूतपूर्व ही प्रतीत होता है। एक तरफ तो उनकी प्रतिभा के आलोक ने महाकवि के सघन गद्य गगन को उद्‌भासित कर दिया है, दूसरी तरफ उनके मनश्चक्षु महाकवि के गहन गद्य-गह्वर में गहराई तक पैठकर सांस्कृतिक कांतिवाले अनूठे रत्न निकाल लाये हैं। वास्तव में डॉक्टर अग्रवाल ने महाकवि का अंतःपट खोल दिया है। साथ ही, पुरातन प्रामाणिक चित्रों से अलंकृत करके एकत्र ही काव्य के दोनों रूप उपस्थित कर दिये हैं। इस प्रकार, यह ग्रंथ हिन्दी पाठकों के लिए जहाँ एक नेत्र-महोत्सव है, वहाँ चित्त-प्रसादकर भी।

परिषद् के प्रकाशनाधिकारी श्रीअनूपलाल मण्डल ने इस ग्रंथ के चित्रों के तैयार कराने और उन्हें सजाकर पुस्तक के शीघ्र निकालने में जो अहर्निश तत्परता दिखलाई है, उसके हम कायल हैं।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् को संतोष है कि उसके द्वारा बिहार के एक विश्वविख्यात महाकवि की रचना इतने रमणीय रूप में प्रकाशित हो सकी। आशा है कि बाणभट्ट के साहित्य पर हमारे मननशील ग्रंथकार का जो गंभीर स्वाध्याय चल रहा है, उससे निकट भविष्य में ही हिन्दी-साहित्य को बहुमूल्य सांस्कृतिक निधियाँ प्राप्त होंगी। तथास्तु।

श्रीरामनवमी
सं० २०१० वि०

शिवपूजन सहाय
परिषद्-मंत्री

वक्तव्य

[द्वितीय संस्करण]

यह हमारे लिए परम प्रसन्नता की बात है कि डॉ० वासुदेवशरण अग्रवालजी की अध्ययन-चिन्तनपूर्ण पुस्तक 'हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन' का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो रहा है। प्रस्तुत संस्करण प्रथम संस्करण का पुनर्मुद्रणमात्र नहीं है, बल्कि इसके विद्वान् लेखक को विगत १० वर्षों में अपने एतद्विषयक अनुसंधान के क्रम में जो भी नवीन तथ्य और सामग्री प्राप्त हो सकी है, उसका यथास्थान समावेश इस संस्करण में उन्होंने कर दिया है। संशोधन-परिवर्द्धन के क्रम में पिछले संस्करण की भूलें भी विद्वान् लेखक द्वारा सुधार दी गई हैं। अतएव, अब निःसंकोच भाव से कहा जा सकता है कि अनुसन्धित्सु पाठकों के लिए इस द्वितीय संस्करण की उपयोगिता प्रथम संस्करण की अपेक्षा निश्चय ही और अधिक बढ़ गई है।

डॉ० अग्रवाल की इस विद्वत्तापूर्ण और शोधपूर्ण पुस्तक के प्रथम संस्करण का देश-विदेश में सर्वत्र स्वागत हुआ तथा सुविज्ञ एवं सुधी पाठकों ने इसे उदारतापूर्वक अपनाया है, जिसके फलस्वरूप हमने इसके द्वितीय संस्करण के यथाशीघ्र प्रकाशन की आवश्यकता समझी। जहाँ एक ओर चोटी के विद्वानों एवं समालोचकों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की, वहाँ दूसरी ओर देश की कई राज्य-सरकारों ने इसे पुरस्कृत कर विद्वान् लेखक को अभिनन्दित एवं परिषद् को गौरवान्वित भी किया है।

प्रखर प्रतिभापूर्ण महाकवि बाणभट्ट की 'हर्षचरित' नामक रचना पर आधृत इस ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण का भी सर्वत्र स्वागत होगा तथा हिन्दी-जगत् के एक गौरव-ग्रंथ के रूप में इसे सादर अपनाया जायगा, यह दृढ़ विश्वास है। परिषद् ऐसे ग्रंथों के प्रकाशन से अपने को धन्य एवं अपने अस्तित्व को सार्थक मानती है।

निपटना आवश्यक हो जाता है। अतएव, मन के एक कोने में यह अभिलाषा पड़ी रही कि कभी अनुकूल अवसर मिलने पर डूबकर इन ग्रन्थों का अध्ययन करूँगा। सौभाग्य से वह चिर-प्रतीक्षित अवसर मुझे मिला, जब बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से उसके कर्मण्य मन्त्री ने व्याख्यानों के लिए मुझे पटना आमन्त्रित किया। मैंने बाण को अपने व्याख्यानों के लिए चुना और शीघ्र ही हिरण्यबाहु शोण की कछारभूमि के कल्पनाशील, मेधावी, पैनी आँखवाले हँसतामुखी उस महान् पृथिवीपुत्र का चित्र मेरे साहित्यिक मानस-लोक में भर गया। अजन्ता के एकाश्मक-लयन मण्डपों में लिखे चित्र अपने समकालीन भारत का जो समृद्ध रूप प्रस्तुत करते हैं, उससे कम रूप-सम्पत्ति शब्द और अर्थ के द्वारा बाण में नहीं है। बाण के ग्रन्थ भारतीय जीवन के चलचित्र हैं। राजाओं के अन्तःपुर, बाह्यास्थान मंडप (दरबार-आम), भुक्तास्थानमण्डप (दरबार-खास), स्कन्धावार (छावनी), सैनिक-प्रयाण आदि से लेकर विन्ध्याटवी के जंगली गाँवों में रहनेवाले किसानों और आश्रमों के दिवाकरमित्र जैसे ज्ञानसाधकों के अनेक सूक्ष्म चित्र बाण ने खींचे हैं, जिनकी सूची पृ० ६–१२ पर दी गई है। इन चित्रों के सम्पूर्ण अर्थ को समझने के लिए हमें अपने मन को पुनः उसी युग में ले जाना होगा, जहाँ बाण के अनेक शब्दों का अर्थ, जो आज धुँधला हो गया है, निश्चित और सुस्पष्ट था। उन चित्रों की प्रत्येक रेखा विशेष-विशेष भाव की अभिव्यक्ति के लिए खींची गई थी। इस दृष्टिकोण के प्राप्त हो जाने पर कवि के लंबे वर्णनों से ठिठकने के स्थान में हम उन्हें अर्थाकर पूरा रस लेना चाहेंगे। यही बाण को समझने का यथार्थ दृष्टिकोण है।

बाण के समग्र अध्ययन के लिए निम्नलिखित कार्य पूरा करना आवश्यक ज्ञात होता है--

१. कादम्बरी का प्रामाणिक संस्करण, जिसमें हस्तलिखित प्रतियों और प्राचीन टीकाओं की सहायता से पाठ का संशोधन किया गया हो।

२. कादम्बरी का हिन्दी-भाष्य, जिसमें पूर्व टीकाओं की छानबीन करके श्लेषों में छिपे हुए अर्थों को प्रकट किया जाय।

३. हर्षचरित का, संख्या १ की भाँति तैयार किया गया प्रामाणिक संस्करण। इस विषय में काश्मीरी प्रतियों की सहायता से फ्यूहरर का संस्करण अच्छा है, पर प्रामाणिक और सुरुचिसम्पन्न मुद्रण के साथ नया संस्करण तैयार करने की आवश्यकता है। ऐसे संस्करण में उच्छ्वासों को अलग-अलग अनुच्छेदों (पैराग्राफ) में बाँटकर अंक और उपयुक्त पृष्ठ-शीर्षक देना उचित होगा, जिससे ग्रन्थ का अभ्यास और उद्धरण देना सरल हो जाय।

(इंडेक्स वरबोरम) का काम दे। इस प्रकार का कोश संस्कृत-शब्दावली के विकास का अध्ययन करने में सहायक होगा।

६. हर्षचरित और कादम्बरी के आधार पर बाण की सम्मिलित सांस्कृतिक सामग्री का ऐतिहासिक विवेचन। इस प्रकार का कुछ कार्य हर्षचरित के लिए प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है। पर पूरे कार्य को एक विशिष्ट पुस्तक का ही विषय बनाना उचित है।

७. बाण का साहित्यिक अध्ययन, जिसमें उनकी उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं और वर्णनों की नवीनता का तुलनात्मक विवेचन किया जाय। भारतीय प्रकृति के पट-परिवर्त्तन में बाण ने कितने प्रकार के रंगों को अपने शब्दों में उतारा है—अकेले इसका विचार भी कम रोचक न होगा। जब वे शीत ऋतु की प्रातःकालीन धूप की उपमा चमचम करते फूल के बरतनों से, अथवा हर्ष के द्वारा पिता के लिए दिये हुए प्रेतपिण्डों के रंग की उपमा मोम के गोलों से, अथवा प्रभाकरवर्द्धन की चिता के फूलों की उपमा चिरौंटे के गले के रंग से देते हैं, तब ऐसा लगता है कि जानी-पहचानी वस्तुओं के निरीक्षण और वर्णन में वे कोई नया अध्याय जोड़ रहे हैं। विष्णु और शिव की कितनी लीलाओं का उन्होंने प्रसंगवश उल्लेख किया है, इसकी सूची पुराणों की लीलाओं के विकास को समझने में सहायक होगी। वृक्षों और पुष्पों के सम्बन्ध में बाण की सामग्री भारतीय वनस्पति-जगत् का समृद्ध चित्र ही माना जा सकता है। मानवी सौन्दर्य का वर्णन और तद्वाची शब्दों की विकसित सामग्री का परिचय बाण और कालिदास के तुलनात्मक अध्ययन से ही सामने आ सकेगा। सर्वांगपूर्ण साहित्यिक अध्ययन के अन्तर्गत इस प्रकार के और भी दृष्टिकोण हो सकते हैं।

मेरा पहले विचार था कि ऊपर अंक छः में निर्दिष्ट कादम्बरी और हर्षचरित की पूरी सांस्कृतिक सामग्री का ऐतिहासिक विवेचन तैयार करूँगा। किन्तु, शीघ्र ही मुझे प्रतीत हुआ कि इस प्रकार के पुष्कल कार्य के लिए पहले दोनों ग्रन्थों का पृथक्-पृथक् अध्ययन आवश्यक है। अतएव, हर्षचरित की सांस्कृतिक टीका के रूप में ही इस कार्य को सीमित किया गया। बाण के भावी अध्ययन के लिए मेरा यह प्रयत्न भूमि निराने के समान ही है। विचार है कि कादम्बरी के विषय में भी इस प्रकार की सांस्कृतिक टीका पूरी हो। तभी दोनों ग्रन्थों की सम्पूर्ण सांस्कृतिक सामग्री का एक साथ विवेचन सम्भव होगा। बाणकालीन संस्कृति के विविध अंगों का पूरा चित्र भी इसी प्रकार के अध्ययन से प्राप्त होगा। उदाहरण के लिए वेषभूषा को लें। क्षौम और अंशुक में क्या अंतर था? अंशुक कितने प्रकार के होते थे? इन प्रश्नों के उत्तर अत्यन्त रोचक हैं। जैसे, रंगों की दृष्टि से नीलांशुक की जाली मुँह पर डाली जाती थी (३२), नीलांशुक की चादर (प्रच्छदपट) पलंग पर ढकने के काम आती थी (का० १८६)। पाटल पट्टांशुक अनुमरण करनेवाली सती का मंगल-चिह्न माना जाता था (१६५)। मन्दाकिनी के प्रवाह की भाँति सितांशुक व्रत पालनेवाली स्त्रियों का वेष था (६०)। इन्द्रा-

का बना हुआ अंशुक); (२४२), बिसतन्तुमय अंशुक (१०), सूक्ष्म विमल-अंशुक (९), मग्नांशुक, शरीर से सटकर 'डूबा हुआ' सूक्ष्म रेशमी अंशुक, सुकुमार ध्यानांशुक (३६), तरंगित उत्तरीयांशुक (१६३), आदि विभिन्न प्रकार के अंशुकों का अध्ययन उत्तर गुप्त-कालीन संस्कृति का उज्ज्वल चित्र प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार पुरुषों की वेषभूषा, स्त्री-पुरुषों के आभूषण आदि के कितने ही अध्ययनों की सामग्री बाण के ग्रन्थों में विद्यमान है। आशा है, इन व्याख्यानों से उस प्रकार के विवेचन की कुछ आँख पाठकों को प्राप्त होगी। सांस्कृतिक सामग्री की दृष्टि से भारतीय साहित्य का अध्ययन अभी बहुत कुछ करना शेष है। अश्वघोष से श्रीहर्ष तक के एक सहस्र वर्षों का भारतीय सांस्कृतिक जीवन का अतिसमृद्ध चित्र संस्कृत के काव्य, नाटक, चम्पू और कथा-साहित्य से प्राप्त किया जा सकता है। यह ऐसी सामग्री है, जो किसी शिलालेख या ताम्रपत्र में तो नहीं लिखी गई, पर शताब्दियों से हमारे सामने रही है। उसके पूरे संकेत और अर्थ को अब समझना उचित है। भारतीय इतिहास के चित्र में पूरा रंग भरने के लिए यह आवश्यक कर्त्तव्य है।

बाण के अप्रज्ञात और अस्फुट अर्थों को समझने में भारतीय कला की उपलब्ध सामग्री से अत्यधिक सहायता मिली है। यदि यह सामग्री सुलभ न होती, तो बाण के कितने ही अर्थों को ठीक प्रकार से समझना कठिन होता। उदाहरण के लिए 'दिङ्नागकुम्भकूट-विकटबाहुशिखर (पृ० १२८-१२१) का अर्थ उलझा हुआ था; अन्त में अजन्ता-गुफा के 'मारधर्षण' चित्र में हाथी के मस्तक से अलंकृत, 'भुजाली' के मिल जाने से ही अर्थ ठीक-ठीक लग सका। बाहु शब्द का यह अर्थ किसी कोश में नहीं दिया गया, पर बाण के समय में अवश्य प्रयुक्त होता था। इसी प्रकार, पृ० ६८-१०२ तक 'मग्नांशुकपटान्ततनुताम्रलेखा' आदि १७ शब्दों के समास का अर्थ समझने में भी देर तक जूझना पड़ा और अन्त में तक्षशिला से प्राप्त हंसाकृति चाँदी के पात्र (रजत राजहंस) की जानकारी से ही बाण के अर्थ के विषय में मैं आश्वस्त हो सका। इसका कारण स्पष्ट है। बाण ने समकालीन जीवन से अपने वर्णन लिये हैं। शिल्पी और चित्रकारों ने उसी जीवन को कला में स्थायी कर दिया है। अजन्ता की जिन शिल्पकृतियों और चित्रों को हम आज देख रहे हैं, उन्हें ही कालिदास और बाण ने भी देखा था। काव्य और कला दोनों जीवन के समान सत्य से समृद्ध बने हैं। वे एक दूसरे की व्याख्या करते हैं। मैं समझता हूँ, इस दृष्टि से भी भविष्य में भारतीय साहित्य का अध्ययन होना उचित है।

हर्षचरित के कई स्थल ऐसे हैं, जो पहली बार ही यहाँ स्पष्ट मिलेंगे। मेरे सामने सदा यह प्रश्न टकराता था कि शब्द के बाहरी आडम्बर से ऊपर बाण ने वास्तविक जीवन की कौन-सी बात कही है? शब्द तो ठीक है, पर बात क्या हुई, जबतक इसका स्पष्टीकरण न हो, तबतक सन्तोष नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिए, सैनिक प्रयाण के ७७ समासोंवाले लंबे वर्णन का अध्ययन करते हुए यह प्रश्न हुआ कि यह वर्णन क्रमबद्ध है या

अर्थ हाथ लगा। प्रकरण-संगति या वजन के आधार पर ही पृ० १४२ पर कीमती सवारियों के वर्णन में 'कुप्रयुक्त' (=गुंडे इस शब्द को अपपाठ मानते हुए उसके स्थान पर '*कुप्ययुक्त' (=पीतल की जड़ाऊ, बहली आदि) इस बुद्धिगम्य अग्र्य पाठ का सुझाव दिया गया है। पाठों के सम्बन्ध में इस प्रकार के निजी सुझाव बहुत ही कम दिये जाते हैं; पर प्रामाणिक सम्पादन-विधि के अन्तर्गत यह मान्य शैली अवश्य है, जैसा पूना से प्रकाशित होनेवाले महाभारत के संस्करण में भी कुछ स्थलों पर किया गया है। फिर भी, यह लिखना आवश्यक है कि अधिकांश स्थलों में जो क्लिष्ट पाठ थे, उनसे ही बाण का वास्तविक अर्थ ठीक-ठीक मिल सका। क्लिष्ट पाठों को सरल करने के लिए ही बाद में पाठान्तर कर दिये जाते हैं। वे मूल अर्थ से दूर हटते चले जाते हैं और उनमें कवि या लेखक की अभिमत व्यंजना फीकी पड़ जाती है। उदाहरण के लिए, 'भद्राढ्यमभविष्यति भुक्तास्थाने दास्यति दर्शनं परमेश्वरः निष्पतिष्यति वा बाह्यां कक्ष्याम्' (६०) वाक्य में 'आढ्यमभविष्यति' (आढ्य भविष्यति) मूल पद का चमत्कारपूर्ण अर्थ यह था—भाई', क्या सजाये जाते हुए भुक्ता-स्थानमण्डप (दरबार खास) में सम्राट् दर्शन देंगे, या बाह्यस्थानमण्डप (बाह्यकक्ष्या=दरबार आम) में निकलकर आयेंगे? किन्तु 'आढ्यमभविष्यति' इस क्लिष्ट पद को बदलकर 'अद्य भविष्यति' पाठ कर दिया गया—'क्या आज सम्राट् से भेंट हो सकेगी?' इत्यादि वाक्य में 'भविष्यति' और 'दास्यति' दो क्रियाएँ हो जाने से भविष्यति' पद निरर्थक हो जाता है। एवं भुक्तास्थान और बाह्यकक्ष्या की परिभाषाओं का भेद न समझने से मूल के अर्थ का घोटाला हो गया। कश्मीरी संस्करण में 'भुक्तास्थाने' शुद्ध पाठ टिप्पणी में डालकर 'आस्थानं' अशुद्ध पाठ मूल में रख लिया गया। कहीं-कहीं भारतीय प्रथाओं का ठीक परिचय न होने से अर्थ की उलझन उत्पन्न होती रही है, जैसे—'लाज-सक्तु' का अर्थ भुजिया के सत्तू, जो प्रचलित आहार है, न समझकर कावेल ने 'दही मिला आटा' और कणे ने 'जौ का आटा' अर्थ किया। अथवा अँधेरी कोठरी में चौड़े मुँह के घड़ों में उगाये जानेवाले यवांकुरों या जवारों की प्रथा को न जानने से 'सेकसुकुमारयवाङ्कुरदन्तुरैः' वाक्य का अर्थ पूर्व टीकाओं में अनबूझ पहेली बन गया था (पृ० १४)। राज्यवर्द्धन की बुद्धभक्ति (पृ० ११३), शशांक की मुद्रा (पृ० ११७) और दिङ्नाग के स्थूलहस्तावलेप (पृ० १२१)-सम्बन्धी श्लेषान्तर्गत अर्थ भी द्रष्टव्य हैं।

इन उदाहरणों से यह अनुमान किया जा सकता है कि हर्षचरित के प्रामाणिक पाठों का विचार करते हुए उसका शुद्ध संस्करण तैयार करने की आवश्यकता अभी बनी हुई है। क्या ही अच्छा हो, यदि इस कार्य के लिए प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों की और अधिक सामग्री मिल सके। श्री आरल स्टाइन कश्मीर से शारदा-लिपि में हर्षचरित की कई प्रतियाँ लाये थे, जिनमें से एक प्रति राजानक रत्नकंठ (१७वीं शती) के हाथ की लिखी हुई और भट्ट हरक के हाथ के संशोधन और टिप्पणियों से युक्त है। वह प्रति केवल पाँचवें (उच्छ्वास तक) इस समय ऑक्सफोर्ड के इण्डिया इंस्टीट्यूट के संग्रह में सुरक्षित है[1]

प्राचीन टीका उपलब्ध है, यह है शंकरकृत 'संकेत'। ये शंकर सुखाकर के पुत्र थे और कश्मीर के ज्ञात होते हैं। उन्होंने अपना अन्य कुछ परिचय नहीं दिया, केवल अन्तिम श्लोक में इतना लिखा है कि उन्होंने यह टीका प्राचीन टीकाओं के अनुसार (सम्प्रदायानुरोधतः) लिखी। यह टीका केवल गूढ़ार्थ को खोलने के लिए संक्षिप्त शैली में लिखी गई है, जैसा उसके 'संकेत' नाम से ही प्रकट है।[2] निस्सन्देह, शंकर की टीका बड़ा सहारा देती है और हमें उसका कृतज्ञ होना चाहिए, अन्यथा बाण के शब्दों का अर्थ जानने के लिए हमें न जाने कितना भटकना पड़ता।

पुस्तक की अनुक्रमणिका तैयार करने के लिए मैं आयुष्मान् स्कन्दकुमार का अनुगृहीत हूँ। श्रीअंबिकाप्रसाद दुबे (भारत-कलाभवन, काशी) भी चित्र बनाने के लिए धन्यवाद के पात्र हैं। सेंट्रल एशियन ऐंटिक्विटीज म्यूजियम के मेरे भूतपूर्व सहकारी (वर्त्तमान स्थानापन्न सुपरिण्टेण्डेण्ट) श्री जे० के० राय का मैं उपकृत हूँ कि उन्होंने राष्ट्रीय संग्रहालय में सुरक्षित बाणकालीन 'त्रिकंटक' नामक (दो मोतियों के बीच जड़ाऊ पन्नेवाले) कान के आभूषण का फोटो मुझे भेजा। उसी का रंगीन चित्र बनाने के लिए वहाँ के चित्रकार श्रीबिश्त मेरे धन्यवाद के पात्र है। विभागीय फोटोग्राफर श्रीदेवीदयाल माथुर का उपकार भी मैं नहीं भूल सकता, जिन्होंने सहर्ष तत्परता से मेरे लिए कई आवश्यक चित्र सुलभ किये। अपने मित्र श्री बी० बी० लाल का भी मैं ऋणी हूँ कि उन्होंने हस्तिनापुर की खुदाई में प्राप्त 'कंटकित कर्करी' (पत्तों से ढका हुआ कटहल के आकार का मिट्टी का पात्र) का चित्र प्रकाशित करने की सुविधा प्रदान की। पुस्तक की पाण्डुलिपि लिखने में श्रीस्कन्दकुमार और पं० तिलकधर ने जो कष्ट किया, उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। अन्त में, इन व्याख्यानों के अवसर पर पटना में अपने मान्य सुहृद् श्रीराधाकृष्णजी जालान से मुझे जो स्वागत और आतिथ्य प्राप्त हुआ, उसके लिए मैं उनका हार्दिक आभार मानता हूँ। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ, जिसने यह ग्रंथ लिखने और समाप्त करने के लिए मुझे प्रेरणा दी और आवश्यक चित्र सम्मिलित करने की सहर्ष स्वीकृति दी।

माघ-शुक्ल-पूर्णिमा, २००६
काशी-विश्वविद्यालय

वासुदेवशरण

---

१. भानुचन्द्र, सिद्धिचन्द्र, तिलकसूरि, हरिदास, शिवराम, वैद्यनाथ, बालकृष्ण, सुरचन्द्र, महादेव, सुखाकर, अर्जुन, घनश्याम—इन टीकाओं के तुलनात्मक अध्ययन से बाण के अर्थों और पाठों की मूल्यवान् सामग्री प्राप्त की जा सकेगी।

२. श्रीकृष्णमाचार्य ने रंगनाथ की लिखी हुई अन्य टीका का भी उल्लेख किया है (मद्रास

किये गये भाषणों का परिणाम है। उसका प्रथम संस्करण अब समाप्त होकर दूसरा संस्करण मुद्रित हुआ है, इसकी मुझे प्रसन्नता है। इस पुस्तक का व्यापक स्वागत हुआ। लन्दन और लाईडेन (हॉलैंड) से भी मेरे पास इसके विषय में सूचनाएँ आईं कि मेरी इस पुस्तक को वहाँ के विद्वानों ने अपने शोधकार्य के लिए पढ़ा। स्वर्गीय आचार्य नरेन्द्रजी ने भी इस पुस्तक को आद्यन्त पढ़कर इसके विषय में अपनी उत्तम धारणा बनाई थी और अपनी विदेश-यात्रा में इसकी चर्चा की थी। इस पुस्तक से प्रथम बार यह निर्देशन मिला कि सांस्कृतिक दृष्टि से संस्कृत-साहित्य का अध्ययन किस प्रकार किया जा सकता है। इसके पहले संस्करण में जो व्याख्या-सम्बन्धी कुछ भूलें थीं, उन्हें इस संस्करण में यथामति सुधार दिया गया है।

'हर्षचरित' पर व्याख्या लिखने के बाद ठीक वैसा ही कार्य मैंने बाण की कादम्बरी पर स्वयं ही समाप्त किया जो 'कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन' के नाम से प्रकाशित हुआ है और वह चौखम्भा संस्कृत सीरीज से प्राप्य है। 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' दोनों को मिलाकर बाण का साहित्य पूरा होता है और समग्र दृष्टि बनती है। भारतीय संस्कृति के विषय में बाण के अनोखे वर्णन कितने अनमोल हैं, यह बात पाठकों को इन दो ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात हो सकती है। मैंने 'हर्षचरित' के प्रथम संस्करण में बाणविषयक साहित्य-के निर्माण का जो प्रस्ताव रखा था, उसकी पूर्ति अभी अपेक्षित है। विशेषतः मेरी इच्छा है कि 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' के संशोधित संस्करण, टीका के साथ सुन्दर अक्षरों में अवश्य छापे जायँ। मेरा यह भी अनुरोध है कि 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' इन दो ग्रन्थों को बार-बार पढ़ना चाहिए। तभी इनकी पारिभाषिक शब्दावली का पूरा चित्र मन में आ सकेगा। संस्कृत-साहित्य में बाण अपने ढंग के एक ही लेखक हैं।

यद्यपि दण्डी ने अवन्तिसुन्दरी में (जो अब प्राप्य हो गई है) और धर्मपाल ने 'तिलकमञ्जरी' में बाण की शैली को अपनाने का प्रयास किया, तथापि बाण की रसवत्ता एवं चित्रग्राहकता उनमें नहीं आ सकी। यदि मूल संस्करण एवं टीकाग्रन्थों के अतिरिक्त बाण का शब्दकोश भी हम बना सकें, तो बहुत अच्छा होगा। आशा है, समय पाकर ये सब कार्य सम्पन्न होंगे। तबतक 'हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन' और 'कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन' इन दो ग्रन्थों को बाण के दो चमकीले नेत्र समझकर उनमें जितना प्रकाश है, उससे भारतीय संस्कृति के दर्शन का लाभ उठाना चाहिए।

काशी-विश्वविद्यालय

आवश्यक टिप्पणी

स पुस्तक में कोष्ठक में जो अंक दिये गये हैं, वे निर्णयसागर प्रेस में मुद्रित हर्ष-के १९२५ ई० में प्रकाशित पंचम संस्करण के हैं। मूलपाठ के लिए उसी संस्करण को चाहिए। सुविधा के लिए प्रत्येक पृष्ठ पर उच्छ्वास का अंक और पृष्ठ-शीर्षक दे ये हैं। जहाँ कोष्ठक में संख्या से पहले पृष्ठ-संकेत भी हैं, वे पृष्ठांक इन्हीं व्याख्यानों क हैं।

ादम्बरी के लिए मैंने वैद्य-कृत मूल पाठ (पूना ओरिएण्टल एजेंसी से प्रकाशित) का ग किया है। उसके पृष्ठांक कोष्ठक में (का० २५) इस प्रकार दिये गये हैं।



पहला उच्छ्वास

(वात्स्यायन वंश-वर्णन) पृ० १—३०

बाण का व्यक्तित्व और दृष्टिकोण १-२, गद्यशैली के विषय में बाण के विचार ३, बाण की शैली ४, पूर्वकवि वन्दना ५, पूर्वकवि-परिचय ६-८, श्रीपर्वत ९, हर्षचरित की संक्षिप्त विषय-सूची १०—१२, गोष्ठियाँ १३, सरस्वती १४, सावित्री १५, प्रदोष-समय १६, सरस्वती का मर्त्यलोक में आना १७, च्यवनाश्रम की पहचान १८, सरस्वती की शिवपूजा १९, पदाति सेना २०, युवक दधीच २१, दधीच का अंगरक्षक २२, दधीच की सखी मालती का वेश २३, वात्स्यायन-वंश २४, तत्कालीन सुसंस्कृत परिवार २५, बाण का बाल्यजीवन २६, देशान्तर-प्रवास और स्वभाव २७, बाण के मित्र २८—३० ।

दूसरा उच्छ्वास

(राजदर्शन) पृ० ३१—५०

बाण का प्रवास से लौटना, और ब्राह्मणों के घरों का वर्णन ३१, कवि बाण अपने बन्धु-बान्धवों के बीच और ग्रीष्म-वर्णन ३२, आरभटी-नृत्य ३३-३४, लेखहारक मेखलक का संदेश-कथन ३५, यात्रा के लिए बाण का निश्चय और प्रस्थान ३६, बाण का राजभवन में पहुँचना ३७, स्कन्धावार का वर्णन ३८, हर्ष की गजसेना ३९, हस्तिसेना के युद्ध-प्रयोग ४०, हर्ष का खासा हाथी दर्पशात ४१, घोड़ों का वर्णन ४२, निर्जित सामन्तों के प्रति हर्ष की नीति ४३, प्रतीहार और दौवारिक ४४, बाह्यास्थानमंडप और भुक्तास्थानमंडप (दीवाने आम और दीवाने खास) ४५, हर्ष का वेश ४६, दरबार में वारविलासिनियाँ ४७, बाण की हर्ष से भेंट ४८, हर्ष और बाण की तीखी बातचीत ४९, बाण और हर्ष का मेल ५० ।

तीसरा उच्छ्वास

(राजवंश-वर्णन) पृ० ५१-६२

बाण का दरबार से अपने गाँव लौटना ५१, पुस्तक शब्द पर नया प्रकाश ५२, प्राचीन पोथियों का आकार-प्रकार ५३, हर्ष के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ ५४, बाण ने हर्षचरित सुनाना आरम्भ किया ५५, श्रीकंठ-जनपद और स्थाण्वीश्वर का वर्णन ५६

आठवाँ उच्छ्वास

(विन्ध्याद्रि-निवेशन) १८६—२०६

(परिशिष्ट १) २०७—२२०

चित्रसूची

फलक १

चित्र १ (पृ० १२)—खिले हुए कमल के आसन पर बैठे हुए ब्रह्मा, उनके दाहिनी ओर ऐरावत वाहन पर इन्द्र और मयूर-वाहन पर कार्त्तिकेय। बाईं ओर वृष-वाहन पर शिव-पार्वती। देवगढ़ के दशावतार-मंदिर में लगे हुए शेषशायी विष्णु नामक रथिका-शिलापट्ट के ऊर्ध्वभाग में उत्कीर्ण मूर्त्ति का रेखाचित्र, गुप्त-काल।

चित्र २ (पृ० १४)— मकरिका, दो मकरमुखों को मिलाकर बनाया हुआ आभूषण, जो केशों में पहना जाता था। मकरमुख भारतीय आभूषणों में बहुत बाद तक प्रयुक्त होता रहा। यह चित्र मथुरा की गुप्तकालीन विष्णु-मूर्त्ति (ई ६) के मुकुट से लिया गया है। इसके बीच में मकरिका आकृति स्पष्ट है। खुले हुए मकरमुखों से मोतियों के झुग्गे लटक रहे हैं।

चित्र ३ (पृ० १५)—उत्तरीय की गात्रिका ग्रन्थि, अर्थात् गाती लगाकर पहना हुआ उत्तरीय। चित्र ३ मथुरा से प्राप्त वृष्णिवीर की मूर्त्ति (ई २२) से लिया गया है। चित्र ३ अ उसी आधार पर कल्पित है। इसमें 'उन्नतस्तनमध्य-बद्धगात्रिकाग्रन्थि' लक्षण स्पष्ट है।

चित्र ४ (पृ० १५)—बायें कंधे से लटकता हुआ कुंडलीकृत योगपट्ट, जो वैकक्ष्यक की तरह दाहिनी बगल के नीचे से पीठ की ओर चला गया है। योगपट्ट को कुंडलीकृत कहने का कारण यह है कि उसका ऊपर का लपेट आधी दूर तक नीचे आकर पुनः कन्धे की ओर घूम गया है। देवगढ़ के दशावतार-मंदिर के कृष्ण-सुदामा-शिलापट्ट की सुदामा-मूर्त्ति से (दे० पंडित माधवस्वरूप वत्स-कृत देवगढ़ का गुप्त मन्दिर, फलक १६ डी)।

चित्र ५ (पृ० १५)-कमण्डलु, जिसकी आकृति कमल-मुकुल के सदृश है। गोकर्णेश्वर टीला, मथुरा से प्राप्त बोधिसत्त्व मैत्रेय की मूर्त्ति (संख्या ३२५८) से (म्यूजियम्स जर्नल, १९४८)। देवगढ़-मंदिर के नरनारायण-शिलापट्ट पर अंकित नारायण-मूर्त्ति के बायें हाथ में भी इसी प्रकार का कमंडलु है।

चित्र ६ (पृ० १७)—मकरमुखी महाप्रणाल। सारनाथ-संग्रहालय में सुरक्षित [Di/107]। इस रेखाचित्र के लिए मैं अपने मित्र श्रीशिवराममूर्त्ति, सुपरिण्टेण्डेण्ट, इंडियन म्यूजियम आर्कियालॉजिकल सेक्शन, कलकत्ता, का अनुगृहीत हूँ।

चित्र से (औंध-कृत अजंता, फलक २८ पर चौथी पंक्ति का चौथा चित्र)।

चित्र १० (पृ० १६)—पंचमुखी शिवलिंग या पंचब्रह्म-पूजा। मथुरा का गुप्तकालीन शिवलिंग (संख्या ५१६)।

चित्र ११ (पृ० २०)—ललाटजूटक या माथे पर बँधे हुए जूड़े-सहित मस्तक (मथुरा संग्रहालय, जी २१)। गुप्तकालीन मस्तक।

चित्र १२ (पृ० २०)-पदाति-युवक, कमर की पेटी में खोंसी हुई कटारी-सहित। अहिच्छत्रा से प्राप्त गुप्तकालीन मिट्टी की मूर्त्ति।

फलक ३

चित्र १३ रंगीन (पृ० २१)—त्रिकण्टक नामक कान का आभूषण। दो मोतियों के बीच में जड़ाऊ पन्ने-सहित। राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली के स्थानापन्न सुपरिण्टेण्डेण्ट श्री जे० के० राय की कृपा से प्राप्त फोटो और वहीं के चित्रकार श्रीभूपाल सिंह बिश्त द्वारा बनाये हुए रंगीन चित्र के आधार पर।

चित्र १४ (पृ० २२)—कच्छ के बाहर निकले हुए पल्ले-सहित धोती (अधोवस्त्र) पहनने का ढंग। चित्र-संख्या ५ में उल्लिखित मूर्त्ति का पिछला भाग।

चित्र १५ (पृ० २३)—रकाब में पैर डाले हुए घोड़े पर सवार स्त्री। मथुरा से प्राप्त शुंगकालीन सूचीपट्ट से। यह इस समय बोस्टन संग्रहालय में सुरक्षित है।

चित्र १६ (पृ० २४)—सीमन्तचुम्बी चटुलातिलकमणि। अहिच्छत्रा से प्राप्त गुप्तकालीन मिट्टी के खिलौने से।

चित्र १८ (पृ० ३५)—पेटी से कसा हुआ ऊँचा घाघरा (चंडातक)। (औंधकृत अजंता, फलक ६४)।

फलक ४

चित्र १७ (पृ० ३३)—हल्लीसक या मंडलीनृत्य। स्त्री-मंडल के बीच में नृत्य करता हुआ युवक। बाघ के गुफा-चित्र से।

चित्र १६ (पृ० ३५)—सिर से बँधा हुआ और पीठ पर फहराता हुआ चीरा। अहिच्छत्रा से प्राप्त दंडवत् प्रणाम करते हुए पुरुष की मूर्त्ति।

चित्र २० (पृ० ४०)—वागुरा या कमंद। अहिच्छत्रा से प्राप्त सूर्यमूर्त्ति पर अंकित पार्श्व-चर के हाथ में (अहिच्छत्रा मृण्मय मूर्त्तियाँ, चित्र ६७)।

चित्र २० अ(पृ०४०)-पाश। (श्री जी०एच० खरे-कृत मूर्तिविज्ञान फलक० ६४, चित्र ३०)।

चित्र २१ (पृ० ४१)—दानपट्टों पर लिखे हुए सम्राट् के विभ्रम—(सजावट) -युक्त

चित्र २३ (पृ० ४६)—शेष नामक हार अथवा डुंडुभ सर्प की तरह बलेवड़ा लम्बा हार। (अहिच्छत्रा से प्राप्त दम्पती मृण्मय मूर्त्ति' सं०२२६ से)।

चित्र २४ (पृ० ४६)—चतुर्भुजी विष्णुमूर्त्ति की दो बालभुजाएँ। मथुरा से प्राप्त विष्णु-मूर्त्ति। (मथुरा संग्रहालय, संख्या ५१२)।

चित्र २५ (पृ० ४७)—मालती-पुष्प की मुण्डमालिका (औंधकृत अजंता, फलक ७७)।

चित्र २६ (पृ० ४७)—हर्ष का मुकुट, जिसमें नीचे पद्मराग की चूडामणि है, और ऊपर मोती और मरकत लगा हुआ शिखंडाभरण या कलगी है। गुफा १ में वज्रपाणि चित्र (औंधकृत अजंता, फलक ७७)।

चित्र २७ (पृ० ५६)—ऊपर चोली और नीचे दामन पहने हुए श्रीकंठ-जनपद (थानेश्वर) की स्त्री। (अहिच्छत्रा के खिलौने, संख्या ३०७)।

फलक ६

चित्र २८ (पृ० ५६)—यष्टिप्रदीप (डंडीदार दीपक)। मथुरा से प्राप्त वेदिकास्तम्भ पर उत्कीर्ण शक-स्त्रीमूर्त्ति (लखनऊ संग्रहालय)।

चित्र २९ (पृ० ५७)—घोड़े के निचले होंठ की तरह लटकता हुआ अधर (भैरवाचार्य के शिष्य के वर्णन में)। गुप्तकाल की मूर्त्तियों में यह विशेषता प्रायः मिलती है। (अहिच्छत्रा मृण्मय मूर्त्ति, चित्र २९७)।

चित्र ३१ (पृ० ६१)—गुल्फ तक चढ़े हुए नूपुर। मथुरा के समीप महोली गाँव से प्राप्त कुषाणकालीन स्त्रीमूर्त्ति से (जर्नल ऑफ़ इंडियन सोसाइटी ऑफ़ ओरियंटल आर्ट, कलकत्ता, १९३८ का अंक)।

चित्र ३२ (पृ० ६१)—तरंगित वस्त्र। (देवगढ़ गुप्तकालीन मंदिर की मूर्त्ति से)।

चित्र ३४ (पृ० ६२)—राजच्छत्र में मोरनी का अलंकरण। (मथुरा की गुप्तकालीन बुद्ध-मूर्त्ति, ए० ५ के पद्मातपत्र प्रभामंडल से)।

चित्र ३५ (पृ० ६५)—सात रत्नों से युक्त चक्रवर्त्ती। चक्ररत्न, मणिरत्न, स्त्रीरत्न, गज-रत्न, मन्त्रीरत्न, परिणायकरत्न। (जग्गय्यपेट्ट के स्तूप से)।

फलक ७

चित्र ३० (पृ० ५७)—भैरवाचार्य की झोली।

फलक ८

चित्र ३३ (पृ० ६२)—स्तम्भशालभंजिकाओं के विविध रूप।

फलक ९

चित्र ३६ (पृ० ६७)—पहले चित्र में आलिंग्यक, दूसरे में अंक्य और तीसरे में ऊर्ध्वक नामक तीन प्रकार के मृदंग (पहला औंधकृत अजंता, फलक ७५; दूसरा-

चित्र ३७ (पृ० ६७,१६०)—तंत्रीपटहिका, जो डोरी से गले में लटकाकर बजाई जाती थी। कोटा के दरा नामक स्थान में गुप्तकालीन शिव मंदिर के वास्तुखंड पर उत्कीर्ण मूर्त्ति से (उत्तरप्रदेश इतिहास-परिषद् की पत्रिका, १६५०, पृ० १६६, पर चित्र है)।

चित्र ३८ (पृ० ६७)—पदहंसक नूपुर या मुड़े हुए बाँक कड़े।

चित्र ३९ (पृ० ६८)—कंधों के दोनों ओर फहराते हुए उत्तरीय छोर (मथुरा, स्मिथ का जैन स्तूप, फलक १९)।

चित्र ४० (पृ० ६८)—बच्चे के गले में बघनख का कठुला (भारत-कलाभवन, काशी में गोवर्धनधारी कृष्ण की गुप्तकालीन मूर्त्ति से)।

फलक १०

चित्र ४१ (पृ० ६८)—बच्चों का काकपक्ष केश-विन्यास।

चित्र ४२ (पृ० ६८)—हरिहर-मूर्त्ति का मस्तक। दाहिने आधे भाग में शिव का जटा-जूट और वामार्द्ध में विष्णु का किरीट अंकित है। (मथुरा से प्राप्त हरिहर-मस्तक, गुप्तकाल, मथुरा-संग्रहालय, संख्या १३३६; उत्तरप्रदेश इतिहास-परिषद् की पत्रिका, १९३२, फलक १८)।

चित्र ४४ (पृ० ७१)—गुप्तकालीन मकरमुखी टोंटी। (भारत कलाभवन में सुरक्षित)।

चित्र ४५ (पृ० ७४)—बाँधनू की रँगाई से तैयार की गई भाँत-भतीली चूनड़ी।

चित्र ४६ (पृ० ७६)—टेढ़ी चाल के ठप्पों की छपाई से युक्त उत्तरीय। अजन्ता के चित्र से लिया गया। इसमें हंस की आकृति के ठप्पों का हंस-दुकूल दिखाया गया है। बाण ने पल्लव या फूल-पत्तियोंवाली छपाई (कुटिलक्रमरूप-क्रियमाण माणपल्लवपरभाग) का वर्णन किया है।

चित्र ४७ (पृ० ७६,१७१)—भंगुर उत्तरीय या माँजा हुआ चुन्नटदार दुपट्टा, जो गोलियाकर तहाया जाता था और बेंत की करंडी में रखा जाता था। अहिच्छत्रा के गुप्तकालीन शिवमंदिर से प्राप्त मिट्टी की मूर्त्ति (संख्या ३०२) के परिधान को देखने से ही बाण का 'भंगुर उत्तरीय' पद स्पष्ट समझ में आता है।

फलक ११

चित्र ४३ (पृ० ६९)—कटिप्रदेश, जिसके पार्श्वभाग मानों खराद पर चढ़ाकर तराशे गये हैं (उल्लिखित पार्श्व से युक्त पतला और गोल मध्यभाग)। मथुरा से प्राप्त गुप्तकालीन विष्णुमूर्त्ति (ई ६)। इसके मस्तक में बीच में पत्रभंग-मकरिका, नीचे पद्मराग मणि और ऊपर शेखर में मुक्तामाला का उद्गिरण करते हुए सिंहमुख आभरण है (दे० चित्र २)। गले में आमलकफलान्तकारि

छँटे हुए हैं, शरीर की अंगलेट मानों खराद पर तराशी गई है। गुप्तकालीन मूर्त्तियों के ऊर्ध्वकाय या वदामा भाग की यह विशेषता कुषाणकालीन मूर्त्तियों से अलग पहचानी जाती है।

फलक १२

चित्र ४८ (पृ० ८१,१५४)—मोतियों के झुग्गों से खचित स्तवरक नामक ईरानी वस्त्र। अहिच्छत्रा से प्राप्त सूर्यमूर्त्ति (सं० १०२) का कोट और नर्त्तकी-मूर्त्ति (सं० २८६) का घाघरा इसी वस्त्र के बने हैं (अहिच्छत्रा की मृण्मय मूर्त्तियाँ, रेखाचित्र १६-१७।

चित्र ४९ (पृ० ८६)—वर-वधू के चतुर्थी कर्म के लिए सम्पादित वासगृह, चादर से ढका हुआ पलंग, सिरहाने तकिया, गोल दर्पण, पार्श्व में कांचन आचामरुक (आचमनचरुक) और भृंगार (अजंता-चित्र; औंध कृत अजंता, फलक ५७)

फलक १३

चित्र ५० (पृ० ८६)—जालगवाक्षों (झरोखों) से झाँकते हुए स्त्रीमुख। गुप्तकालीन वास्तुकला।

चित्र ५१ (पृ० ९२)—धवलगृह के भीतर त्रिगुण तिरस्करिणी (तिहरी कनात से) तिरोहित वीथी में बैठे हुए राजा और रानी। अजन्ता के चित्र से (औंधकृत, अजंता, फलक ६७)। पहली छोटी तिरस्करिणी राजा के ठीक पीछे डोरी पर लटकी है; दूसरी उसके पीछे खम्भों के भीतर उससे ऊँची है; और तीसरी खम्भों से बाहर है। अजंता के इस चित्र से ही धवलगृह के अन्तर्गत त्रिगुण तिरस्करिणी से तिरोहित सुवीथी का बाणकृत वर्णन स्पष्ट होता है। देखिए धवलगृह के चित्र में चतुःशाल के सामने पथ और बीच में सुवीथियाँ। पथ और वीथियों के बीच में कनात का पर्दा लगाया जाता था। पथ में लोगों के आने-जाने का मार्ग था, किन्तु सुवीथी में राजाज्ञा से ही प्रवेश सम्भव था।

फलक १४

चित्र ५१ (पृ० ९१)—धवलगृह के भीतर वीथी में प्रवेश करने के लिए पक्षद्वार। अजंता के चित्र से (औंधकृत अजंता, फलक ७७)

चित्र ५२ (पृ० ९७)—तरंगित उत्तरीयांशुक (लहरिया दुपट्टा) देवगढ़ गुप्तकालीन मन्दिर की मूर्त्ति से सातवीं शती में और उसके बाद की मूर्त्तियों के परिधान की यह विशेषता थी।

चित्र ५३ (पृ० ९८)—धम्मिल्ल केशरचना या बालों को समेटकर एक साथ बाँधा हुआ जूड़ा। यह केशविन्यास दक्षिणभारत (तमिल-द्रमिल-धम्मिल) से लगभग गुप्त-

चित्र ५५ (पृ० १००)—चाँदी का हंसाकृति पात्र (राजत राजहंस)। तक्षशिला की खुदाई में प्राप्त।

चित्र ५६ (पृ० १०१)—इस बुद्धमूर्त्ति में गुप्तकालीन मग्नांशुक पट (शरीर से सटी हुई झीनी चादर और उसके अन्त भाग में छाती पर पतली डोरी (तनुलेखा) स्पष्ट दिखाई देती है। मूर्त्तियों में प्राप्त इन विशेषताओं से ही बाण के 'मग्नांशुक-पटान्ततनुताम्रलेखालाञ्छितलावण्य' पद का अर्थ स्पष्ट होता है।

चित्र ५७ (पृ० १०३)—कुब्जिका (अष्टवर्षा) परिचारिका। मथुरा-महोली से प्राप्त 'मधुपान' दृश्य में अंकित घूर्णित स्त्री और उसकी कुब्जिका (मथुरा संग्रहालय की परिचय-पुस्तिका, फलक ११)।

फलक १६

चित्र ५८ (पृ० १२२)—अष्टमंगलकमाला। मथुरा से प्राप्त जैन आयागपट्ट से। शेष दो मंगलकमालाएँ साँची-स्तूप के स्तम्भ पर अंकित हैं (मार्शल-कृत साँची महा-स्तूप, भाग २, फलक ३७)।

फलक १७

चित्र ५८ (पृ० ११८)—शशांक की स्वर्णमुद्रा। शिव और नन्दी, एवं शशांक-मंडल की आकृति से अंकित (सी० जे० ब्राउन, क्वाइन्स ऑफ् इंडिया, फलक ५, मुद्रा १२)।

चित्र ६० (पृ० १२३)—गजमस्तक से अलंकृत भुजाली का कोश। अजंता-गुफा में चित्रित मारधर्षण चित्र से (औंधकृत अजंता, फलक ३१ और ७६)।

चित्र ६१ (पृ० १३२)—हाथ में डंडा लिये हुए प्यादा। अहिच्छत्रा से प्राप्त मिट्टी की मूर्त्ति, संख्या १६२)।

चित्र ६२ (पृ० १३३,१६२)—कर्पटी नामक हस्ति-परिचारक, जिनके मस्तक पर प्रभु-प्रसाद से प्राप्त चीरा या फीता (पटच्चरकर्पट) बँधा हुआ होता था। औंधकृत अजंता फलक ३७)।

चित्र ६३ (पृ० १३७)—कोटवी-संज्ञक नंगी स्त्री। अहिच्छत्रा से प्राप्त मिट्टी की मूर्त्ति (संख्या २०३-२०४)।

चित्र ६४ (पृ० १३७)—भद्रासन। (औंधकृत अजंता, फलक ४१)।

फलक १८

चित्र ६५ (पृ० ४१)—हर्ष की वृषांकित मुद्रा, सोनीपत से प्राप्त (फ्लीट-सम्पादित गुप्त

चित्र ६८ (पृ० १५१) —घोड़े की काठी में आगे की ओर लगे हुए लकड़ी के दो डंडे या नले। (औंधकृत अजंता, फलक ३५, गुफा १७, विश्वन्तर जातक के दृश्य से)।

फलक १६

चित्र ६९ (पृ० १५१)—स्वस्थान (तंग मोहरी का पाजामा)। देवगढ़ की मूर्त्ति से।

चित्र ७० (पृ० १५२)—पिंगा (चौड़ी मोहरी की पिंडलियों तक लम्बी सलवार। (अहिच्छत्रा से प्राप्त मिट्टी की मूर्त्ति संख्या २५२)।

चित्र ७१ (पृ० १५३)—सतुला (चौड़ी मोहरी का धारीदार घुटन्ना। अजंता गुफा १७ से। पुरुष और स्त्री दोनों रंगीन नीली पट्टियों की सतुला पहने हैं। (औंधकृत अजंता, फलक ६८, पुरुष-मूर्त्ति; फलक ७३। स्त्री-मूर्त्ति) रंगीन फलक, २४)।

चित्र ७२ (पृ० १५०)—कंचुक। नीले रंग का कंचुक पहने स्त्री-परिचारिका, अजंता गुफा १ (औंधकृत अजंता, फलक २६)। श्वेत रंग का कंचुक पहने स्त्री-परिचारिका, अजंता-गुफा १७ (औंधकृत अजंता, फलक ६७)। रंगीन फलक २४।

चित्र ७३ (पृ० १५४)-वारबाण (घुटनों तक नीचा ईरानी कोट)। मथुरा से प्राप्त की गई मूर्त्ति (मथुरा-संग्रहालय, संख्या १२५६)।

चित्र ७४ (पृ० १५५)—चीनचोलक; चीन देश का लम्बा चोगा, धुराधुर खुले गले का (कनिष्क की मूर्त्ति से); तिनकोनिया गले का (मथुरा से प्राप्त चष्टन की मूर्त्ति से)।

फलक २०

चित्र ७५ (पृ० १५६)—कूर्पासक (कोहनी तक आधी बाँह की, विना बाँह की और पूरी बाँह की फतुई)। विना बाँह की (अजंता गुफा १७, यशोधरा का चित्र, औंधकृत अजंता, फलक ७२), आधी बाँह की (अजंता-गुफा १७, औंधकृत-फलक ५७), पूरी बाँह की (अजंता गुफा १, औंधकृत, फलक ७५, ईरानी नर्त्तकी)।

चित्र ७६ (पृ० १५६)—आच्छादनक (कन्धों पर छोटी हल्की चादर, सामने छाती पर गठियाई हुई)। मथुरा से प्राप्त पिंगल मूर्त्ति (संख्या ५१३) से; और अजंता-गुफा में १७ में लाजवर्दी रंग का धारीदार आच्छादनक ओढ़े हुए सासानी सैनिक (औंधकृत अजंता, फलक ३३)।

चित्र ७७ (पृ० १५७)—बालपाश या केशों को यथास्थान रखने के लिए सिर पर बाँधने का सोने का पात नामक आभूषण। अजंता-गुफा १ में नागराज-द्रविडराज (औंधकृत अजंता, फलक ३३)।

चित्र ७८ (पृ० १५८)— पद्मांकुर का कर्णपूर या झूमक का कुण्डल और कर्णोत्पल (औंधकृत अजंता, फलक ३३)।

मिट्टी की मूर्त्तियाँ, सं० २२३, २२७।

चित्र ८२ (पृ० १६०, १७२)—कार्दरंग देश के चमड़े की बनी हुई ढालें, छोटी चौरियों के घेरे से सुशोभित। अहिच्छत्रा मृण्मय मूर्त्ति संख्या १२३; देवगढ़ के मन्दिर से प्राप्तमूर्त्ति पर ढाल की चौरिया अपेक्षाकृत बड़ी हैं।

चित्र ८३ (पृ० १६१)—महाहार (दोनों कन्धों पर फैला हुआ बड़ा हार)। अजंता-गुफा १ में वज्रपाणि बोधिसत्त्व के चित्र में (औंधकृत अजंता, फलक ७८)।

चित्र ८४ (पृ० १६४)—वंठ (हाथी से लड़नेवाले पट्ठे)। अहिच्छत्रा से प्राप्त मिट्टी की मूर्ति, सं० २६१।

फलक २२

चित्र ८५ (पृ० १७१)—राजच्छत्र, मोतियों के बने हुए जाले का परिसर; चौरियों की किनारी और पंख फैलाये हुए हंस के अलंकरण से युक्त। औंधकृत अजंता, फलक ७६ में छत्र के नीचे मौक्तिक जाल-परिसर लगा हुआ है और किनारे पर छोटी चौरियों की गोट है।

चित्र ८६ (पृ० १८१)—शोकपट। मथुरा-संग्रहालय में सुरक्षित बुद्ध के परिनिर्वाण-दृश्य से।

चित्र ८७ (पृ० १८६)—कंटकित कर्करी (कटहल के फल-जैसी छोटी गगरी, जिसकी जिल्द पर छोटे काँटे हैं) विना पत्तों की, अहिच्छत्रा की खुदाई में प्राप्त। पत्तों से ढकी हुई (इसके लिए मैं अपने मित्र श्रीव्रजवासीलालजी सुपरिण्टेण्डेण्ट, पुरातत्त्व-विभाग का अनुगृहीत हूँ)।

फलक २३

चित्र ८८ (पृ० १८६)—वोटकुट (वोट नामक अमृतबान) अजंता-गुफा १ के चित्र से (औंधकृत अजंता, फलक ३६)।

चित्र ८९ (पृ० १८८)—गंडकुसूल (मिट्टी की गोल चकरियों को ऊपर नीचे जमाकर बना हुआ कुठिला या डेहरी। खैरागढ़ जिला बलिया के प्राचीन ढूह से (इस चित्र के लिए मैं सारनाथ-संग्रहालय के क्यूरेटर श्रीअद्रीश बनर्जी का कृतज्ञ हूँ।

चित्र ९० (पृ० १९०)—शबर-युवक का मस्तक अजंता, गुफा १ में द्रविडराज-नागराज चित्र से।

चित्र ९१ (पृ० १९४)—चैत्य (स्तूप) मूर्त्तियों से अंकित पकाई मिट्टी की लाल मुहरें (पाटलमुद्राचैत्यक मूर्त्ति)। भारत-कलाभवन-संग्रह से।

फलक २४

रंगीन चित्र ७१ (स्तुला); चित्र ७२ (कंचुक); चित्र ८० (केसरिया शिरोवस्त्र); चित्र ६२ (एकावली)।

फलक २५

हर्ष का स्कन्धावार (सैनिक छावनी)।

फलक २६

हर्ष का राजकुल।

फलक २७

धवलगृह का भूमितल —चतुःशाल या संजवन, एवं सुर्वीथियों का चित्रण।

फलक २८

धवलगृह का ऊपरी तल —प्रग्रीवक, चन्द्रशाला और प्रासाद-कुक्षियाँ।

हर्षचरित :
एक सांस्कृतिक अध्ययन

महाकवि बाण सम्राट् हर्ष के समय (६०६—६४८ ई०) में हुए। उनके दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—हर्षचरित और कादम्बरी।[1] इन व्याख्यानों में मेरा विचार है कि हर्षचरित का एक अध्ययन सांस्कृतिक सामग्री की दृष्टि से प्रस्तुत करूँ।

बाण के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए दो बातें मुख्य ज्ञात होती हैं। एक तो जन्म से ही उनकी बुद्धि बड़ी गहरी (स्वभावगम्भीरधी) थी, उनकी मेधा का विस्तार बहुत था; जैसे एक बड़े पात्र में बहुत-सी सामग्री समाती है, वैसे ही उनके मन में प्रत्येक विषय की अतुलित सामग्री भर जाती थी। दूसरे, वे प्रत्येक वस्तु की जानकारी प्राप्त करने के लिए सदा उत्सुक रहते थे। वे कहते हैं—अतिपरवानस्मि कुतूहलेन (६४), अर्थात् किसी नई बात को जानने के लिए मेरे मन में तुरन्त ही कुतूहल का ऐसा वेग उठता है कि मैं लाचार हो जाता हूँ। हम आगे देखेंगे कि अजिरवती के किनारे मणितारा गाँव के पास पड़ी हुई हर्ष की छावनी में जब वे हर्ष से मिलने गये, तब महाप्रतीहारों के प्रधान दौवारिक पारियात्र के साथ सम्राट् के समीप जाते हुए उन्हें मार्ग के बाईं ओर एक बाड़ा दिखाई पड़ा और उन्होंने पूछा कि यह क्या है ? और, यह जानकर कि वह हर्ष की गजशाला थी, जहाँ उनका मुख्य हाथी दर्पशात रहता था, बाण ने कहा—'हाँ, मैंने दर्पशात का नाम सुना है, उत्कंठा से मैं परवश हूँ, यदि आपत्ति न हो, तो पहले उसी को देख लूँ' (६४)। इस प्रकार, गंभीर धारणाशक्ति और जानकारी की पैनी उत्सुकता, इन दो जन्मसिद्ध गुणों से बाण का व्यक्तित्व बना था। साथ ही, उनके जीवन के अल्हड़पन और घुमक्कड़ी प्रवृत्ति ने एक तीसरी विशेषता और पैदा कर दी थी और वह थी संसार का अपनी आँखों से देखा हुआ चौचक्क अनुभव। उन्होंने घाट-घाट का पानी पिया था, अनेक लोगों से मिले थे और सब तरह की दुनिया देखी थी। 'देशान्तर देखने की उत्कंठा से भरकर मैं घर से निकल पड़ा : देशान्तरालोकनकौतुकाक्षिप्तहृदयः गृहान्निरगात् (४७)। बड़े-बड़े राजकुलों के उत्तम व्यवहार और शिष्टाचार देखे, गुरुकुलों और विद्यापीठों में रहकर वहाँ का जीवन भी देखा कि किस प्रकार वहाँ निरवद्य विद्या, अर्थात् उत्तम ज्ञान की साधना की जाती थी। और, मैं उन गोष्ठियों में भी शामिल हुआ, जिनमें

१. 'पार्वती-परिणय' नामक नाटक कादम्बरीकार बाण की रचना नहीं है, किन्तु उसके कर्त्ता वामनभट्ट बाण नामक एक तैलंगदेशीय वत्सगोत्रीय महाकवि थे, जो चौदहवीं शती में हुए। वे दक्षिण के राजा वेमभूप (अपर नाम वीरनारायण) के कवि थे, जिनके लिए उन्होंने वीरनारायण-चरित नामक काव्य भी लिखा। देखिए वाणीविलास प्रेस से (१६०६ ई०) प्रकाशित पार्वती-परिणय नाटक की श्री र० व० कृष्णमाचार्य की विस्तृत भूमिका। उसका हिन्दी सारांश, श्रीजयकिशोरनारायण सिंह, साहित्यालंकार-कृत लेख में 'महाकवि बाण तथा पार्वती-परिणय,' ('माधुरी' सं० १६८८, पूर्ण संख्या १११, पृ० २८६—२६४)।

नहीं गया।' इस प्रकार, देशाचार और लोकाचारों का गाढ़ा अनुभव प्राप्त करके और अपने-आपको घूमने की खुली छूट देकर जब वे लम्बे अर्से के बाद फिर अपने घर वापस आये, तब उनके अन्दर पुश्तैनी विद्या की जो प्रतिभा थी, वह स्वाभाविक रस के साथ चमक उठी : पुनरपि तामेव वैपश्चितीमात्मवंशोचितां प्रकृतिमभजत् (४३)।

बाण की बुद्धि चित्रग्राहिणी थी। उसपर फोटो की भाँति प्रत्येक नये चित्र की गहरी छाप पड़ जाती थी, जिसमें उन-उन दृश्यों का सांगोपांग रूप देखा जा सकता था। सूक्ष्म दर्शन बाण की विशेषता है। पाणिनि के लिए भी काशिकाकार ने लिखा है कि उनकी निगाह वस्तुओं के ब्यौरेवार अवलोकन में बड़ी पैनी थी : सूक्ष्मेक्षिका वर्त्तते सूत्रकारस्य सूत्र, ४।२।७४)। बाण की सूक्ष्मावलोकन-शक्ति और कविसुलभ प्रतिभा के अनेक प्रमाण हर्षचरित और कादम्बरी में मिलते हैं। ये दो ग्रंथ भारतीय इतिहास की सांस्कृतिक सामग्री के लिए अमृत के झरने हैं; क्योंकि सौभाग्य से बाण का समय निश्चित है, इसलिए यह साक्ष्य और भी अधिक मूल्यवान् है।

सातवीं शती की भारतीय संस्कृति का रूप-चित्रण करने के लिए बाणभट्ट किसी विशिष्ट कला-संग्रह के उस संग्रहाध्यक्ष की भाँति हैं, जो प्रत्येक कलात्मक वस्तु का पूरा-पूरा ब्यौरा दर्शक को देकर उसके ज्ञान और आनन्द की वृद्धि करना चाहता है। अथवा बाण उस महास्थपति के समान हैं, जिसकी विराट् बुद्धि किसी अनगढ़ पहाड़ में से सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंग-प्रत्यंग-समेत कोई नवीन महाप्रासाद गढ़कर तैयार करती है। बाण वर्णनात्मक शैली के धनी हैं। तिलक-मंजरीकार धनपाल (ग्यारहवीं शती) ने उनकी उपमा अमृत उत्पन्न करनेवाले गहरे समुद्र से दी है। बाण के वर्णन ही उनके काव्य की निधि हैं। इन वर्णनों में उकताना ठीक नहीं। इनके भीतर पैठकर युक्ति से इनका रस लेना चाहिए। जब एक बार पाठक इन वर्णनों को अणुवीक्षण की युक्ति से देखता है, तब उनमें उसे रुचि उत्पन्न हो जाती है एवं बाण की अक्षराडम्बरपूर्ण शैली के भीतर छिपे हुए रसवाही सोते तक वह पहुँच जाता है। उस समय यह इच्छा होती है कि कवि ने अपने वर्णन के द्वारा चित्रपट पर जो चित्र लिखा है, उसकी प्रत्येक रेखा सार्थक है और चित्र का समग्र रूप प्रस्तुत करने में सहायक है। जिस प्रकार रंगवल्ली की विभिन्न आकृतियों से भूमि सजाई जाती है, उसी प्रकार बाण ने अपने काव्य की भूमि का मंडन करने के लिए अनेक वर्णनों का विधान किया है। कभी-कभी रसलोभी पाठक का मन चाहने लगता है कि यह वर्णन कुछ और अधिक सामग्री से हमारा परिचय कराता, विशेषतः सांस्कृतिक सामग्री के विषय में यह इच्छा उत्कट हो उठती है। महाप्रतिभाशाली इस लेखक ने अपनी विशेष प्रकार की श्लेषमयी वर्णनात्मक शैली के द्वारा जो कुछ हमें दिया है, वह भी पर्याप्त है और उसके लिए हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए।

बाण के सांस्कृतिक अध्ययन का अन्तर्यामी सूत्र कुछ गहराई तक उनके ग्रन्थ में

शब्द के निश्चित अर्थ तक पहुँचने के लिए हमारी जिज्ञासा उत्कट हो जाती है। उदाहरणार्थ, बाण के पाठकों के लिए बाह्यास्थानमंडप, भुक्तास्थानमंडप, राजद्वार, अलिन्द, धवलगृह, संजवन या चतुःशाल, प्रग्रीवक, चन्द्रशाला, प्रासाद-कुक्षि, दीर्घिका, स्नानभूमि, प्रतिहारगृह, प्रतोली, गवाक्ष आदि प्रत्येक शब्द का निश्चित अर्थ था, जिसके मूल तक पहुँचे विना हम हर्षचरित या कादम्बरी के वर्णनों को स्पष्टता से कभी नहीं समझ सकते। इस जिज्ञासा के साथ हम बाण के अध्ययन की नई दीक्षा लेते हैं और प्रत्येक नये शब्द के लिए क्या और क्यों प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ने लगते हैं। इस नये दृष्टिकोण को हम सांस्कृतिक संप्रश्न का व्रत कह सकते हैं। न केवल बाण के ग्रन्थों में, बल्कि समस्त संस्कृत-साहित्य के लिए यह संस्कृति-विषयक संप्रश्न का व्रत आवश्यक है।

बाणभट्ट का समय सातवीं शती का पूर्वार्द्ध है। उस समय गुप्तकालीन संस्कृति पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी। एक प्रकार से स्वर्णयुग की वह संस्कृति उत्तरगुप्तकाल अपनी संध्यावेला में आ गई थी और सातवीं शती में भी उसका बाह्य रूप भली भाँति पुष्पित, फलित और प्रतिमंडित था। कला, धर्म, दर्शन, राजनीति, आचार, विचार आदि की दृष्टि से बाण के अधिकांश उल्लेख गुप्तकालीन संस्कृति पर भी प्रकाश डालते हैं। अभी तक बाण का अध्ययन प्रायः काव्य की दृष्टि से ही होता रहा है, किन्तु इन व्याख्यानों के रूप में हर्षचरित का जो अध्ययन प्रस्तुत करने का हमारा विचार है, उसमें विशेषकर सांस्कृतिक सामग्री की दृष्टि से बाण के वर्णनों की जाँच-पड़ताल की जायगी। यह दृष्टिकोण बाण के काव्य के लिए पारस की तरह है। इसके प्रकाश में बाण के वे अनेक वर्णन जो पहले नीरस और बोझिल प्रतीत होते थे, अत्यन्त रुचिकर, सरस और हृदयग्राही लगने लगते हैं। इच्छा होती है कि एक-एक वाक्य, पदबन्ध और शब्द के भीतर प्रविष्ट होकर उसके प्रकट अर्थ एवं श्लेष में छिपे हुए गूढ़ अर्थ को अवगत किया जाय। इस युक्ति से बाण का हर्षचरित सांस्कृतिक इतिहास का अपूर्व साधन बन जाता है। उसे एक बार पढ़कर तृप्ति नहीं होती, किन्तु बारम्बार उसके अर्थों में रमकर शब्दों से निर्मित होनेवाले चित्रों को आत्मसात् करने की इच्छा होती है।

बाण ने काव्य और गद्य की शैली के विषय में अपने विचार प्रकट किये हैं 'इस समय लोक में राग-द्वेष से भरे हुए, वाचाल, मनमाने ढंग से कविता करनेवाले (कामकारिणः) कुकवि भरे हुए हैं। ऐसे कवि घर-घर में हैं, जो वस्तु के यथार्थ स्वरूपमात्र के वर्णन को ही कविता समझते हैं, किन्तु नवनिर्माणकारी, नई वस्तु उत्पन्न करनेवाले कवि थोड़े ही हैं : अगण्या जातिभाजः उत्पादका न बहवः कवयः (२,३)। इसमें 'जातिभाजः' पद में बाण अपने से पूर्ववर्ती शैली की ओर संकेत करते हैं। बौद्ध संस्कृत-साहित्य की काव्य-रचना, जिसका गुप्तकाल में उत्कर्ष हुआ, स्वभावोक्ति पसन्द करती है। वस्तु का जो यथार्थ

और वक्रोक्ति की ओर लोगों का झुकाव हुआ। वक्रोक्ति-शून्य कविता भी कोई कविता है, यह विचार जनता में फैल गया। लोगों का झुकाव श्लेष-प्रधान शैली की ओर हुआ। बाण के पूर्ववर्त्ती सुबन्धु ने अपनी वासवदत्ता में एक-एक शब्द में श्लेष डालकर काव्य-रचना करने की निपुणता का उल्लेख किया है : प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्धविन्यासवैदग्ध्य। बाण ने कादम्बरी की भूमिका में लगातार श्लेषों से भरी हुई (निरन्तरश्लेषघना) शैली की प्रशंसा की है। साथ-ही-साथ सुन्दर जाति, अर्थात् स्वभावोक्ति-प्रधान वर्णनों को भी ग्राह्य माना है। बाण का कहना है—'उदीच्य लोगों में श्लेष-प्रधान शैली का रिवाज है; पश्चिम भारत में शैली पर उतना ध्यान नहीं, जितना अर्थ या कथावस्तु पर; दाक्षिणात्य लोगों में कल्पना की उड़ान या उत्प्रेक्षा ही काव्य का गुण है; लेकिन गौड़-देशवासी, अर्थात् प्राच्य भारत में विकट शब्द-योजना (अक्षराडम्बर) ही पसन्द की जाती है।' वस्तुतः, यह काव्य-शैली की एकांगी दृष्टि थी। बाण स्वयं कहते हैं कि बढ़िया काव्य वह है, जिसमें पाँच बातों का एक साथ मेल हो, अर्थात् विषय की नवीनता, बढ़िया स्वभावोक्ति, ऐसा श्लेष, जो क्लिष्ट न हो, स्फुटरस, अर्थात् जिसकी प्राप्ति के लिए पाठक को हाथ-पैर न मारना पड़े, और भारी-भरकम शब्द-योजना।[1] जिसमें ये पाँच गुण एक साथ हों, वही रचना सचमुच श्लाघनीय है। इस समन्वय-प्रधान दृष्टि को अपनाना—यही बाण की विशेषता है और उनकी सफलता का रहस्य भी। बाण में विषय की नूतनता, श्लेष-प्रधान शब्दों की अद्भुत योजना, वस्तुओं के यथार्थ वर्णन—जैसे हाथी, घोड़े, सेना, सैनिक आदि के, और समास-बहुल पदविन्यास, ये चारों गुण एक साथ आहत हुए हैं, और इनके साथ कथावस्तु एवं शैली के ग्रथन में स्फुट रूप से बहती हुई रसधारा भी सहज ही प्राप्त होती है।

बाण की गद्यशैली तीन प्रकार की है, एक दीर्घसमासवाली, दूसरी अल्पसमासवाली और तीसरी समास से रहित। समासों से भरी हुई शैली का प्राचीन नाम उत्कलिका, छोटे-छोटे समासयुक्त पदों में बिखरी हुई शैली का नाम चूर्णक और समासरहित शैली का नाम आविद्ध था।[2] चतुर शिल्पी की भाँति बाण इन शैलियों को अदल-बदलकर इस प्रकार काव्य में सजाते हैं कि वर्णन बोझिल बनकर पाठक के मन को आक्रान्त न कर दे। उनकी रीति है कि समासबहुल उत्कलिका-शैली के बाद फिर ढील छोड़ देते हैं। प्रायः बड़े-बड़े वर्णनों में उत्कलिका-शैली का आश्रय लिया गया है। प्रचंड निदाघकाल (४६–४७), उसमें चलने-वाली गरम लू (४८–५०) और वन को जलाती हुई दावाग्नि (५०–५२) के वर्णन में इस शैली की अच्छी झाँकी मिलती है। कभी-कभी एक ही वर्णन में शब्दाडंबरपूर्ण उत्कलिका-शैली से आरम्भ करके समासरहित आविद्ध शैली से अन्त करते हैं। इसका अच्छा उदाहरण युवक दधीच का वर्णन है (२१–२४)। उसके तुरन्त बाद ही उसके

1. नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।

पार्श्वचरित के जीवन में छोटे-छोटे समासों से परिपूर्ण चूर्णक-शैली का आश्रय लिया गया है। बाण ने भट्टारहरिचन्द्र के गद्यकाव्य की शैली को आदर्श माना है। उसमें पदों की सुन्दर रचना थी और उसकी शैली या रीति भी मनोहर। इस समय हरिचन्द्र की यह गद्यरचना उपलब्ध नहीं है। बाण की दृष्टि में शब्द ऐसे होने चाहिएँ कि जो सुखप्रबोध हों, अर्थात् सरलता से समझ में आ सकें, एवं जो सुन्दर अक्षरों से बने हों। ऐसे शब्दों से ग्रथित आख्यायिका सबको अच्छी लगनेवाली होती है। बाण ने सराहनीय कथा के लिए एक विशेषण दिया है—भवंवृत्तान्तगामिनी, अर्थात् जो सत्पुरुषों के चरित, उपाख्यान या लोक-वृत्तान्त हैं, उन सबका परिचय कथालेखक को होना चाहिए। हर्षचरित और कादम्बरी दोनों में इस प्रकार की व्यापक जानकारी मौजूद है।

बाण के अनुसार हर्षचरित आख्यायिका है और कादम्बरी कथा। आख्यायिका में ऐतिहासिक आधार होना चाहिए। कथा कल्पनाप्रसूत होती है। कम-से-कम हर्षचरित और कादम्बरी के उदाहरण से ऐसा ज्ञात होता है। किन्तु, कथा और आख्यायिका के संबंध में बाण और दंडी के समय में बहुत कुछ वाद-विवाद था। दंडी ने उन दोनों का भेद बताने की कोशिश की—जैसे, आख्यायिका का वक्ता स्वयं नायक होता है, कथा का नायक या अन्य कोई; किन्तु यह नियम सब जगह लागू नहीं। फिर, नायक स्वयं वक्ता रूप में हो अथवा अन्य कोई व्यक्ति, इसमें कोई विशेष बात नहीं होती, इसलिए यह भेद अवास्तविक है। कुछ विद्वानों का मत था कि आख्यायिका में वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग किया जाता है और उसमें कथांश उच्छ्वासों में बँटा रहता है। यद्यपि दंडी ने प्रसंगवश कथा में भी इन लक्षणों का होना कहा है और इस भेद को अस्वीकार किया है, तथापि बाण के हर्षचरित में यह लक्षण अवश्य घटित होता है। दंडी के मत से तो कथा और आख्यायिका में केवल नाम का ही भेद है, दोनों की जाति एक ही है। पर, बाण ने हर्षचरित को आख्यायिका और कादम्बरी को कथा माना है। हर्षचरित के आरम्भ में कहा है कि चपलता-वश मैं इस आख्यायिका रूपी समुद्र में अपनी जिह्वा का चप्पू चला रहा हूँ। कादम्बरी की भूमिका में उसे वासवदत्ता और बृहत्कथा इन दोनों को मात करनेवाली (अतिद्वयी) कथा कहा है।

हर्षचरित के आरम्भ में बाण ने कुछ पुराने कवियों का उल्लेख किया है। इनमें सबसे पहले सर्वविद् व्यास हैं, जिन्होंने अपनी वाणी से भारत नामक ग्रंथ को ऐसे पवित्र किया, जैसे सरस्वती नदी भारतवर्ष को पवित्र करती है (२)। इससे ज्ञात होता है कि बाण के समय में देश की संज्ञा भारतवर्ष प्रयुक्त होती थी और वह एक भौगोलिक इकाई बन चुका था। उदीच्य, प्रतीच्य, दाक्षिणात्य और गौड़ या प्राच्य उसके चार मोटे विभाग थे। सातवीं शती में भारत या महाभारत अपने पूर्ण रूप में विकसित हो चुका था। अनेक स्थलों पर महाभारत और उसके पात्रों के उल्लेख बाण में आये हैं। इसी भूमिका में बाण ने कहा है कि महाभारत की कथा तीनों लोकों में फैल गई थी : कथैव भारती...व्याप्नोति जगत्त्रयम्, ४)।

बौद्धसंगीत अलंकार और ...

स्थल हर्षचरित में बहुत-कुछ मिलते हैं, विशेषतः जहाँ बाण ने पूर्वकाल के बीस राजाओं के चरित्रों में कलंक का उल्लेख किया है (८७-९०)।[1] उस सूची के पन्द्रह राजाओं का नामोल्लेख उसी प्रकार से सुबन्धु ने भी किया है। इन कारणों से विद्वानों का विचार है कि सुबन्धु निश्चित रूप से बाण के पूर्ववर्त्ती थे और वे छठी शताब्दी के अन्त में हुए।

जिन भट्टारहरिचन्द्र के मनोहर गद्य-ग्रंथ का बाण ने उल्लेख किया है, वे महेश्वर-विरचित विश्वप्रकाश-कोश के अनुसार साहसांकनृपति के राजवैद्य थे। उन्होंने चरक पर एक अतिप्रसिद्ध टीका लिखी। वाग्भट-विरचित अष्टांगसंग्रह के व्याख्याता इन्दु के अनुसार भट्टारहरिचन्द्र की उस टीका का नाम खरणाद संहिता था (कल्पस्थान, अध्याय ६)। चतुर्भाणी ग्रंथ में संगृहीत 'पादताडितकम्' नामक भाण में ईशानचन्द्र के पुत्र हरिश्चन्द्र भिषक् का उल्लेख आया है। यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि चरक के व्याख्याकार भट्टारहरिचन्द्र और बाणोल्लिखित भट्टारहरिचन्द्र एक ही व्यक्ति थे अथवा भिन्न। किन्तु, यह तो निश्चित ज्ञात होता है कि राजशेखर ने जिन हरिचन्द्र का उल्लेख किया है,[2] वे साहित्यकार थे। बाण के भट्टारहरिचन्द्र की पहचान उन्हीं से की जानी उचित है।

बाण ने सातवाहन-विरचित किसी प्रसिद्ध ग्रंथ का उल्लेख किया है, जिसमें सुभाषितों का संग्रह था। हर्षचरित में सातवाहन के इस ग्रंथ को कोश कहा गया है। सातवाहन-विरचित यह सुभाषित कोश हाल-कृत गाथासप्तशती का ही वास्तविक नाम था। हाल-सातवाहनवंशी सम्राट् थे। डॉ० भंडारकर गाथासप्तशती और सातवाहन-कृत कोश को एक नहीं मानते, किन्तु श्रीमिराशीजी ने निश्चित प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है कि गाथासप्तशती की अंतिम गाथा में एवं उसके टीकाकार पीताम्बर की संस्कृत-छाया में उस ग्रंथ को कोश ही कहा गया है। प्राकृत कुवलयमालाकथा के कर्त्ता उद्योतन (७७८ ई०) ने हाल के ग्रंथ को कोश कहा है। गाथासप्तशती के दो अन्य टीकाकार बलदेव और गंगाधर भी हाल के सुभाषित-संग्रह को गाथाकोश के नाम से पुकारते हैं। लगभग नवीं शती तक यह ग्रंथकोश या गाथाकोश ही कहलाता था। मध्यकाल में जबसे कोश शब्द अभिधान-ग्रंथों के लिए अधिक प्रयुक्त होने लगा, तबसे बाद से हाल का ग्रंथ गाथासप्तशती नाम से प्रसिद्ध हुआ।[3]

अन्य कवियों में बाण ने प्रवरसेन, भास और कालिदास का उल्लेख किया है। सब विद्वान् इस विषय में सहमत हैं कि प्रवरसेन प्राकृत-काव्य सेतुबन्ध के रचयिता हैं। पहले

---

१. डॉ० कार्टेलियरी (Dr. W. Cartellieri) : सुबन्धु और बाण, वियना ओरियंटल जर्नल (१८८७), भाग १, पृ० ११४—१२२।

२. श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा।
इह कालिदासमेण्ठावत्रामरसूरभारवयः।
हरिचन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्॥

में किया गया है और जो मातृगुप्त के बाद गद्दी पर बैठे। किन्तु, अधिक संभावना यह है कि ये प्रवरसेन वाकाटक-वंश के सम्राट् प्रवरसेन द्वितीय थे। श्रीमिराशीजी का मत है कि सेतुबन्ध अथवा रावणवहो नामक काव्य के कर्त्ता वाकाटक-प्रवरसेन के दरबार में कालिदास कुछ समय के लिए दूत बनाकर भेजे गये थे। वाकाटक राजा ही कुन्तलेश्वर कहे जाते थे। उनका मूल प्रदेश विदर्भ था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती गुप्ता वाकाटक वंश के राजा रुद्रसेन द्वितीय से ब्याही थीं। उन्हीं के पुत्र प्रवरसेन वाकाटक राज-सिंहासन पर बैठे। सेतुबन्ध के एक पुराने टीकाकार ने निर्देश किया है कि यह काव्य विक्रमादित्य की आज्ञा से प्रवरसेन के लिए कालिदास ने लिखा। डॉ० मिराशी के अनुसार अधिक संभावना यह है कि कालिदास के द्वारा सेतुबन्ध का संशोधन किया गया हो, जिससे ऊपर की अनुश्रुति प्रचलित हुई।[1]

भास के संबंध में बाण की सूचना बहुमूल्य है। बाण का कहना है कि भास के नाटकों का आरम्भ सूत्रधार के द्वारा किया जाता है। उनमें अनेक तरह के बहुसंख्य पात्र हैं, और उनमें कथावस्तु में 'सहायक पताका' नामक अंग पाये जाते हैं। बाण के इस उल्लेख को प्रो० कीथ बहुत प्रामाणिक समझते हैं। उनका कहना है कि बाण ने जो विशेषताएँ बताई हैं, वे दक्षिण में उपलब्ध भास के नाटकों में मिलती हैं, अतएव उन्हें भास की प्रामाणिक रचना मानना चाहिए।[2] भास संबंधी श्लोक में श्लेष से देवकुल या मन्दिरों का उल्लेख किया गया है। इस संबंध में बहुभूमिक पद महत्त्वपूर्ण है, अर्थात् ऐसे मंदिर, जिनके शिखरों में कई खंड होते थे। आरम्भिक गुप्तकाल के जो मंदिर साँची, भूमरा, तिगोवा, दरा आदि स्थानों में मिले हैं, वे बिना शिखर के हैं और उनकी छत का पटाव सपाट पत्थर रखकर किया जाता था। आरंभ में मन्दिर के गर्भगृह का स्वरूप इकमंजिला था। पीछे गर्भगृह की छत के ऊपर एक, दो या तीन छोटी मंजिलों की कल्पना होने लगी, जैसा कि देवगढ़ के मंदिर में मिलता है। इन भूमियों या मंजिलों के रूप-परिवर्त्तन से शिखर का प्रादुर्भाव हुआ। बाण का बहुभूमिक विशेषण इस प्रकार के विकसित शिखरों-वाले देवकुलों का उल्लेख करता है।

हर्षचरित की भूमिका में बाण ने स्पष्ट रूप से बृहत्कथा का उल्लेख किया है। अवश्य ही उनके समय में बृहत्कथा अपने पैशाची भाषा के रूप में लोगों के लिए विस्मयजनक थी। कादम्बरी में बाण ने लिखा है—कर्णीसुतकथेव सन्निहितविपुलाचला शशोपगता च (१६), अर्थात् 'कर्णीसुत की कथा में विपुल, अचल और शश इन पात्रों का संबंध था।' कर्णीसुत मूलदेव का नाम था। उसकी कहानी बृहत्कथा में आती है और वहाँ विपुल और शश इन पात्रों के नाम भी आते हैं। केशव-कृत कल्पद्रुकोश के अनुसार कर्णीसुत या मूलदेव का भाई शश था तथा विपुल और अचल मूलदेव के भृत्य थे।

दिये हैं।'

भूमिका के एक श्लोक में बाण ने आढ्यराज और उनके उत्साहों का उल्लेख किया है, और लिखा है कि उनका स्मरण करते ही मेरी जिह्वा भीतर खिच-सी जाती है और मुझमें कविता करने की प्रवृत्ति नहीं होती। यह श्लोक कुछ कठिन है, इसके तीन अर्थ संभव हैं। प्रथम यह कि आढ्यराज नामक किसी कवि ने प्राकृत भाषा में नृत्य के साथ गाये जानेवाले कुछ गीतिकाव्य रचे थे। उन 'उत्साह' नामक पदों को, जो इतने श्रेष्ठ थे, याद करके जैसी मेरी बोलती बन्द हो जाती है और कविता नहीं फूटती। किन्तु, आढ्यराज नामक कवि और उनके उत्साह का कुछ निश्चित पता नहीं। संभव है, वे कोई लोक-कवि रहे हों। पिशेल का मत था कि हर्ष ही आढ्यराज हैं, और कीथ का भी यही मत है। तदनुसार बाण यह कहना चाहते हैं कि हमारे महान् सम्राट् उदात्त कर्म ऐसे हैं कि उनका स्मरण मेरी जिह्वा को कुंठित करता है और कविकर्म की प्रवृत्ति को रोकता है। सरस्वती-कंठाभरण के टीकाकार रत्नेश्वर ने 'केऽभूवन्नाढ्यराजस्य काले प्राकृतभाषिणः' का अर्थ करते हुए आढ्यराज को शालिवाहन का दूसरा नाम कहा है। कथा है कि गुणाढ्य ने सात लाख श्लोकों में बृहत्कथा का निर्माण किया और उसे सातवाहन की सभा में उपस्थित किया, किन्तु उन्हें विशेष उत्साह न मिला। तब उसके छह लाख श्लोक उन्होंने नष्ट कर दिये, अन्त में जब एक लाख बचे, तब सातवाहन ने उनकी रक्षा की। यद्यपि यह किंवदन्ती अतिशयोक्ति-पूर्ण और पुराने ढर्रे की है, किन्तु सम्भव है, बाण के समय में प्रचलित रही हो। राजाओं से कवियों को मिलनेवाले प्रोत्साहन की ओर व्यंग्य करते हुए बाण का यह श्लोक चरितार्थ होता है। इसके पहले श्लोक में बृहत्कथा का नाम आ चुका है, इससे यह अर्थ सम्भव है—'आढ्यराज्य सातवाहन ने बृहत्कथा-लेखक गुणाढ्य को जैसा फीका उत्साह दिलाया, उसके स्मरणमात्र से कविता करने की मुझे इच्छा नहीं होती। लेकिन, फिर भी राजा हर्ष की भक्ति के वश मैं उनके इस चरित-समुद्र में डुबकी लगाऊँगा।' यही यहाँ सुसंगत जान पड़ता है।

बाण के समय में आन्ध्रदेश में स्थित श्रीपर्वत की कीर्ति सर्वत्र फैल गई थी। वह तन्त्र, मन्त्र और अनेक चमत्कारों का केन्द्र माना जाता था। दूर-दूर से लोग अपनी मनःकामना पूरी कराने के लिए श्रीपर्वत की यात्रा करते थे : सकलप्रणयिमनोरथसिद्धि-श्रीपर्वत : (७)। ऐसा जनविश्वास था कि श्रीपर्वत के चारों ओर जलती हुई अग्नि की दीवार उसकी रक्षा करती थी। शङ्कर ने उद्धरण दिया है कि त्रिपुरदहन के समय गणेशजी ने जो विघ्न उपस्थित किये, उनसे रक्षा करने के लिए शिव ने एक प्रचंड अग्नि का घेरा उत्पन्न किया, वही श्रीपर्वत की रक्षा करता है। बाण ने इसी किंवदन्ती को लिखा है।

महाभारत वनपर्व के अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में श्रीपर्वत का उल्लेख आया है और लिखा है कि देवी के साथ महादेव और देवताओं के साथ ब्रह्मा श्रीपर्वत पर निवास करते हैं।[1] श्रीपर्वत की पहचान श्रीशैल से की जाती है, जो कृष्णा नदी के दक्षिण तट पर कुरनूल से बयासी मील पर ईशानकोण में है। यहाँ द्वादश ज्योतिर्लिंगों में मल्लिकार्जुन नामक शिवलिंग है। श्रीशैलस्थल-माहात्म्य के अनुसार राजा चन्द्रगुप्त की कन्या चन्द्रावती श्रीशैल के मल्लिकार्जुन शिव के लिए प्रतिदिन एक माला भेजती थी। चन्द्रावती की पहचान श्रीअलतेकर महोदय गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त की पुत्री वाकाटक-सम्राज्ञी प्रभावती गुप्ता से करते हैं। ज्ञात होता है कि उनकी ओर से श्रीशैल पर नित्य शिवार्चन के लिए एक माला का प्रबन्ध किया गया था। अवश्य ही बाण के समय में श्रीपर्वत महाश्चर्यकारी सिद्धियों की खान गिना जाता था और वहाँ के बुड्ढे द्रविड़ पुजारी अपनी इन सिद्धियों के लिए दूर-दूर तक पुजवाते थे, जैसा कादम्बरी में कहा है : श्रीपर्वताश्चर्यवार्त्तासहस्राभिज्ञेन जरद्द्रविड-धार्मिकेन।

हर्षचरित नाम का चरित शब्द बाण के पहले ही साहित्य में प्रयुक्त होने लगा था। अश्वघोष के बुद्धचरित से तुलसी के रामचरितमानस तक चरित-काव्यों की अविच्छिन्न परम्परा मिलती है। हर्षचरित विशुद्ध ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं कहा जा सकता। उसमें काव्य के ढंग से बाण ने हर्ष के जीवन, उनके व्यक्तित्व, समकालीन कुछ घटनाएँ और सम्बद्ध पात्र इत्यादि बातों का काव्यमयी शैली से वर्णन किया है। दंडी ने महाकाव्य के लक्षण देते हुए जो यह कहा है कि उसमें नगर, पर्वत, समुद्र, ऋतुशोभा, चन्द्रोदय, सूर्योदय, उद्यान-क्रीडा, सलिल-क्रीडा, विवाह, पुत्रजन्म, मंत्रणा, सेना-प्रयाण आदि का वर्णन होना चाहिए, वह परम्परा बाण को भी विदित थी और ज्ञात होता है कि वह कालिदास के समय में पूरी तरह विकसित हो चुकी थी। प्रायः ये सभी वर्णन कालिदास के काव्यों में मिल जाते हैं। इनके सम्मेलन से महाकाव्यों का ठाट रचा जाता था। हर्षचरित में भी बाण ने काव्य के इन लक्षणों का जान बूझकर पालन किया है।

हर्षचरित की संक्षिप्त विषय-सूची इसी प्रकार है—

पहला उच्छ्वास

कथा	विशेष वर्णन
शुरू में बाण के वात्स्यायन वंश और पूर्वजों का और उसके आरंभिक जीवन का वर्णन है। दीर्घकाल तक देशान्तरों में घूम-	सरस्वती (८—९), सावित्री (१०—११) प्रदोषसमय (१४—१६), मंदाकिनी (१९), युवक दधीच (२१—२४), दधीच की सखी

दूसरा उच्छ्वास

कथा

हर्ष के भाई कृष्ण का लेखहारक मेखलक बाण के पास आता है और उसे हर्ष के पास आने के लिए निमंत्रित करता है। बाण अपने ग्राम से चलकर तीन पड़ावों के बाद अजिरवती के तट पर मणितारा ग्राम में पड़ी हुई हर्ष की छावनी में पहुँचकर हर्ष से मिलता है और उसका प्रेम और प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।

वर्णन

बाण के बान्धव ब्राह्मणों के घर (४४-४५), निदाघकाल (४६-४७), गरमी में चलनेवाली लू (४८--५०), दावाग्नि (५०—५२), हर्ष की छावनी में उसका राजभवन (५८—६१), हर्ष का महाप्रतीहार दौवारिक पारियात्र (६१-६२), राजकीय मन्दुरा या घुड़साल (६२-६३), राजकीय गजशाला और हर्ष का मुख्य हाथी दर्पशात (६४—६६), सम्राट् हर्ष और उनका दरबार (६६— ७७), सन्ध्याकाल (८०-८१)।

तीसरा उच्छ्वास

बाण घर लौटकर अपने चार चचेरे भाइयों के अनुरोध से हर्ष का चरित वर्णन करता है। श्रीकंठ जनपद, उसकी राजधानी थानेश्वर और वंश के संस्थापक पुष्पभूति की कथा कहने के बाद तांत्रिक साधना में उसके सहायक भैरवाचार्य का विशद वर्णन है। अन्त में पुष्पभूति श्रीकंठ नाग के दर्शन और लक्ष्मी से वंश-स्थापना का वर प्राप्त करता है।

शरत्समय (८३-८४), श्रीकंठ जनपद (६४—६६), स्थाण्वीश्वर (६७), भैरवाचार्य का शिष्य मस्करी (१०१-१०२), भैरवाचार्य (१०३-१०४), अट्टहास नामक महाकृपाण (१०७), टीटिभ, पातालस्वामी और कर्णताल नामक भैरवाचार्य के तीन शिष्य (१०८—१११), श्रीकंठ नामक नाग (११२), श्रीदेवी (११४-११५)।

चौथा उच्छ्वास

पुष्पभूति से उत्पन्न राजवंश की संक्षिप्त भूमिका के बाद राजाधिराज प्रभाकरवर्द्धन और उसकी रानी यशोवती का वर्णन है। पुनः रानी के गर्भ धारण करने और राज्य-वर्द्धन के जन्म की कथा है। तदनन्तर हर्ष और राज्यश्री के जन्म का अतिविस्तृत वर्णन है। यशोवती का भाई अपने पुत्र भंडि को दोनों राजकुमारों के साथी के रूप में अर्पित करता है। मालव राजकुमार कुमारगुप्त और माधवगुप्त

महादेवी यशोवती (१२१-१२२), उनकी गर्भिणी अवस्था (१२६-१२७), पुत्रजन्मोत्सव (१२६—१३३), राज्यश्री के विवाहोत्सव की तैयारियाँ (१४२-१४३), वर-वेश में ग्रहवर्मा (१४५), कौतुकगृह या कोहबर (१४८)।

कथा	वर्णन
हूणों को जीतने के लिए राज्यवर्द्धन सेना के साथ प्रस्थान करता है। हर्ष भी उसके साथ जाता है, किन्तु बीच में ही शिकार खेलने के लिए चला जाता है। वहाँ से प्रभाकरवर्द्धन की बीमारी का समाचार पाकर उसे अचानक लौटना पड़ता है। लौटने पर वह देखता है कि समस्त राजपरिवार शोक से विह्वल है। प्रभाकरवर्द्धन की असाध्य अवस्था देखकर रानी यशोवती सती हो जाती है। इसके बाद प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु, उसकी अंतिम क्रिया तथा हर्ष के शोक का वर्णन है।	संदेशहर कुरंगक (१५१), शोकग्रस्त स्कंधावार (१५३), शोकाभिभूत राजकुल (१५४), मरणासन्न प्रभाकरवर्द्धन (१५५–१५७), सतीवेश में यशोवती (१६४-१६५), यशोवती का अंतिम विलाप (१६६-१६७)।

छठा उच्छ्वास

कथा	वर्णन
राज्यवर्द्धन लौटकर आता है और हर्ष को राज्य देकर स्वयं छुटकारा चाहता है। हर्ष उससे धैर्य रखने का आग्रह करता है। इसी समय ग्रहवर्मा की मृत्यु और राज्यश्री का मालवराज के द्वारा बन्दी किये जाने का दुःखद समाचार मिलता है। उसे दंड देने के लिए राज्यवर्द्धन तुरन्त प्रस्थान करता है, हर्ष घर पर ही रहता है। शीघ्र ही समाचार मिलता है कि मालवराज पर विजयी राज्यवर्द्धन को गौड़ देश के राजा ने धोखे से मार डाला। इससे क्षुब्ध होकर हर्ष गौड़ेश्वर से बदला लेने की प्रतिज्ञा करता है। गजसेना का अध्यक्ष स्कन्दगुप्त हर्ष को प्रोत्साहित करता है।	राज्यवर्द्धन का शोक (१७६-१७७), सेनापति सिंहनाद (१८८–१९३), गजसाधनाधिकृत स्कन्दगुप्त (१९६-१९७), अट्ठाईस पूर्वराजाओं द्वारा किये हुए प्रमाददोष (१९८–२००)।

सातवाँ उच्छ्वास

कथा	वर्णन
हर्ष सेना के साथ दिग्विजय के लिए प्रयाण करता है। सेना का अत्यन्त ओजस्वी और अनूठा वर्णन किया गया है। उसी समय	प्रयाण की तैयारी (२०४–२०६), अनुयायी राजा लोग (२०६-२०७), प्रयाणाभिमुख हर्ष (२०७-२०८), प्रयाण

पर दखल कर लेता है।

आठवाँ उच्छ्वास

कथा

विन्ध्याटवी के एक शबर-युवक की सहायता से हर्ष राज्यश्री को, जो मालवराज के बंदीगृह से निकलकर विन्ध्याटवी में कहीं चली गई थी, ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है। शबर-युवक निर्घात की सहायता से हर्ष बौद्ध भिक्षुक दिवाकरमित्र के आश्रम में पहुँचकर राज्यश्री को ढूँढ़ने में सहायता की प्रार्थना करता है। दिवाकरमित्र यह कह ही रहा था कि उसे राज्यश्री के बारे में कुछ पता न था कि एक भिक्षु अग्नि में जलने के लिए तैयार किसी विपन्न स्त्री का समाचार लेकर आता है। हर्ष तुरन्त वहाँ पहुँचता है और अपनी बहन को पहचानकर उसे समझा-बुझाकर दिवाकरमित्र के आश्रम में ले आता है। दिवाकरमित्र राज्यश्री को हर्ष के इच्छानुसार जीवन बिताने की शिक्षा देता है। हर्ष यह सूचित करता है कि दिग्विजय-संबंधी अपनी प्रतिज्ञा पूरी होने पर वह और राज्यश्री साथ ही गेरुए वस्त्र धारण कर लेंगे।

वर्णन

विन्ध्याटवी का शबर-युवा (२३१-२३२), विन्ध्याटवी की वनराजि और वृक्ष २३४—२३६, दिवाकरमित्र का आश्रम (२३६—२३८), राज्यश्री का विलाप (२४६-२४८), दिवाकरमित्र की दी हुई एकावली का वर्णन २५१-२५२), दिवाकरमित्र का राज्यश्री को उपदेश (२५४-२५५), संध्या समय (२५७-२५८)।

हर्षचरित का आरम्भ पुराण की कथा के ढंग पर होता है। ब्रह्मलोक में खिले हुए कमल के आसन पर ब्रह्माजी बैठे हैं : विकासिनि पद्मविष्टरे समुपविष्टः परमेष्ठी (७)। पद्मासन पर बैठे हुए ब्रह्माजी की यह कल्पना भारतीय कला में सर्वप्रथम देवगढ़ के दशावतार-मंदिर में लगे हुए शेषशायी मूर्त्ति के शिलापट्ट पर मिलती है [चित्र १]। बाण ने लिखा है कि इन्द्र आदि देवता ब्रह्माजी को घेरे हुए थे : शुनासीरप्रमुखैर्गीर्वाणैः परिवृत : (७)। इस शिलापट्ट में भी हाथी पर इन्द्र ब्रह्मा के दाहिनी ओर दिखाये गये हैं।[1] ब्रह्मा की सभा में विद्या-गोष्ठियाँ चल रही थीं। गोष्ठियाँ प्राचीन भारत में अर्वाचीन क्लब की भाँति थीं। इनके द्वारा नागरिक अनेक प्रकार से अपना मनोविनोद करते थे। गोष्ठियों में विदग्धों, अर्थात् बुद्धिचतुर और बातचीत में मँजे हुए लोगों का जमावड़ा होता था। शंकर ने गोष्ठी का लक्षण यों किया है—विद्या, धन, शील, बुद्धि और आयु में मिलते-जुलते लोग जहाँ अनुरूप बातचीत

यहाँ निरवद्य (दोषरहित) गोष्ठी का उल्लेख किया है। गुप्तकालीन और उसके बाद की गोष्ठियों की तुलना अशोककालीन समाज से की जा सकती है। अशोक ने बुरे समाजों का निराकरण करके अच्छे नीतिप्रधान समाजों को प्रोत्साहन दिया था।

गोष्ठियाँ कई प्रकार की होती थीं; जैसे पद-गोष्ठी, काव्य-गोष्ठी, जल्प-गोष्ठी, गीत-गोष्ठी, नृत्य-गोष्ठी, वाद्य-गोष्ठी, वीणा गोष्ठी आदि (जिनसेनकृत महापुराण, नवीं शती, १४। १९०—१९२)। नृत्य, गीत, वाद्य, चित्र आदि कलाएँ, काव्य और कहानियाँ इन गोष्ठियों के विषय थे। बाण ने विद्या-गोष्ठी का विशेष उल्लेख किया है: निरवद्या विद्यागोष्ठीः भावयन्। इनमें से पद गोष्ठी, काव्य-गोष्ठी और जल्प-गोष्ठी विद्या-गोष्ठी के ही भेद जान पड़ते हैं। काव्य-गोष्ठी में काव्य-प्रबन्धों की रचना की जाती थी, जैसा कि बाणभट्ट ने शूद्रक की सभा का वर्णन करते हुए उल्लेख किया है। जल्प-गोष्ठियों में आख्यान, आख्यायिका, इतिहास, पुराण आदि सुनने-सुनाने का रंग रहता था: कदाचित् आख्यानकाख्यायिकेतिहासपुराणाकर्णनेन (का० ७)। जिनसेन ने जिसे पदगोष्ठी कहा है, बाण के अनुसार उसके विषय अक्षरच्युतक, मात्राच्युतक, बिन्दुमती, गूढचतुर्थपाद आदि तरह-तरह की पहेलियाँ जान पड़ती हैं (का० ७)। हर्ष के मनोविनोदों का वर्णन करते हुए बाण ने वीर-गोष्ठी का उल्लेख किया है, जिसमें रणभूमि में साका करनेवाले वीरों की वीरता की कहानियाँ कही-सुनी जाती थीं: वीरगोष्ठीषु अनुरागसन्देशमिव रणश्रियः शृण्वन्तम् (७१)। इन गोष्ठियों में अनेक प्रकार से वैदग्ध्य या बुद्धिचातुर्य के फव्वारे छूटते थे। बाण को स्वयं इस प्रकार की विद्वद्गोष्ठियों में बहुत रुचि थी। अपने घुमक्कड़पन के समय उसने अनेक गुणवानों की गोष्ठियों में शामिल होकर उनकी मूल्यवान् बातचीत से लाभ उठाया था: महार्घालापगम्भीरगुणवद्गोष्ठीश्चोपतिष्ठमानः (४२)। हर्ष के दरबार में आने का जब उसे न्यौता मिला, तब 'जाऊँ या न जाऊँ', यह निश्चित करने के पहले अन्य बातों को सोचते हुए उसने यह भी सोचा था कि राजसभा में होनेवाली विद्वद्गोष्ठियों में भाग लेने के लिए जो बड़ी-बड़ी चातुरी (विदग्धता) चाहिए, वह उसमें नहीं है: न विद्वद्गोष्ठीबन्धवैदग्ध्यं (५६)। राजसभाओं में इस प्रकार के विदग्धों का मंडल जुटता था और वहाँ विद्या, कला और शास्त्रों में निपुण विद्वानों की आपस में नोक-झोंक का आनंद रहता था। गोष्ठियों में वैदग्ध्य प्राप्त करना नवयुवकों की शिक्षा का अंग था। अट्ठारह वर्ष के युवक दधीच को अन्य यौवनोचित गुणों के साथ वैदग्ध्य का चढ़ता हुआ पूर कहा गया है: यशःप्रवाहमिव वैदग्ध्यस्य (२४)।

कभी-कभी इन गोष्ठियों में आपसी मतभेद से; दुर्भाव से नहीं, विद्या के विवाद भी उठ खड़े होते थे। ऐसा ही एक विवाद दुर्वासा और मन्दपाल नामक मुनि के बीच हो गया। स्वभाव के क्रोधी दुर्वासा अटपट स्वर में सामगान करने लगे। मुनियों ने मारे डर के

दी छिप्यों-से लगते थे। बाण के युग में ऋग्वेद, यजुर्वेद के पाठ और सामगान का काफी प्रचार था, यह उनके अनेक उल्लेखों से ज्ञात होता है। शिलालेख और ताम्रपत्रों में भी अपने-अपने चरण और शाखाओं के अनुसार वेदाभ्यास करनेवाले ब्राह्मणकुलों का उल्लेख आता है। सरस्वती का मध्यभाग मेखला से सजा हुआ था, जिसपर उनका बायाँ हाथ रखा था : विन्यस्तवामहस्तकिसलया (८) कट्यवलंबित वामहस्त की मुद्रा भारतीय कला में सुपरिचित है। शुंगकाल से मध्यकाल तक बराबर इसका अङ्कन मिलता है। सरस्वती के शरीर पर कंधे से लटकता हुआ ब्रह्मसूत्र (अंसावलम्बिना ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकृतकाया) सुशोभित था। महाश्वेता के वर्णन में भी बाण ने ब्रह्मसूत्र का उल्लेख किया है। वह मोतियों का हार पहने थी, जिसके बीच में एक नायक या मध्यमणि गुँथी हुई थी। एक कान में सिन्धुवार की मञ्जरी सुशोभित थी। शरीर पर महीन और स्वच्छ वस्त्र था : सूक्ष्मविमलेन अंशुकेन आच्छादितशरीरा। बारीक वस्त्र, जिसमें शरीर झलकता हुआ दिखाई देता था, गुप्तकाल की विशेषता थी और गुप्तकालीन मूर्तियों में इस प्रकार का वस्त्र प्रायः मिलता है। आगे मालती के वेष का वर्णन करते हुए बाण ने इसपर और भी अधिक प्रकाश डाला है।

सरस्वती को हँसती देख दुर्वासा की भौंहें तन गईं और वे शाप देने पर उतारू हो गये। उनके ललाट पर कालिमा ऐसे छा गई, जैसे शतरंज खेलने के पट्टे पर काले रंग के घर बने रहते हैं : अंधकारितललाटपट्टाष्टापदा (६)। प्रतिपंक्ति आठ घरोंवाला शतरंज का खेल बाण के समय में चल चुका था और उसके खाने काले या सफेद रङ्ग के होते थे। उसी का यहाँ 'अंधकारित अष्टापदपट्ट' इन शब्दों में उल्लेख किया गया है। पहलवी भाषा की 'मादीगान-ए-शतरंज' नामक पुस्तक में आरम्भ में ही इस बात का उल्लेख है कि 'दीवसारम्' नाम के भारतीय राजा ने खुसरू नौशेरवाँ की सभा के विद्वानों की परीक्षा के लिए बत्तीस मोहरोंवाला शतरंज का खेल ईरान भेजा। खुसरू परवेज या नौशेरवाँ हर्ष के समकालीन ही थे। अनुश्रुति है कि दक्षिण के चालुक्यराज पुलकेशिन् की सभा में खुसरू परवेज ने अपना दूत-मंडल प्राभृत या भेंट लेकर भेजा था। अरबी इतिहास-लेखक तबारी के ग्रन्थ में पुलकेशी और खुसरू के बीच हुए पत्र-व्यवहार का भी उल्लेख है। फिरदौसी ने भी भारतीय राजा (राय हिन्दी) के द्वारा शतरंज के खेल का ईरान भेजा जाना लिखा है। एक स्थान पर 'राय हिन्दी' को 'राय कन्नौज' भी कहा गया है।[1]

दुर्वासा की सिकुड़ी हुई भृकुटि की उपमा स्त्रियों के पत्रभंगमकरिका नामक आभूषण से दी गई है। मकरिका पहने का उल्लेख बाणभट्ट ने अनेक स्थानों पर किया है। दो मकरमुखों को मिलाकर फूल-पत्तियों के साथ बनाया हुआ आभूषण मकरिका कहलाता था। गुप्तकालीन मूर्तियों के मुकुट में प्रायः मकरिका आभूषण मिलता है [चित्र २]। दुर्वासा के शरीर पर कन्धे से लटकते हुए कृष्णाजिन का भी उल्लेख किया गया है। कृष्णाजिन की उपमा के

का कल्पद्रुम से उत्पन्न दुकूल वल्कल था। कल्पवृक्ष से वस्त्र, आभूषण, अन्नपान आदि के इच्छानुसार उत्पन्न होने की कल्पना साहित्य और कला में अति प्राचीन है। उत्तरकुरु के वर्णन में रामायण और महाभारत दोनों में इस अभिप्राय का उल्लेख हुआ है। साँची और भरहुत की कला में कल्पलताओं से वस्त्र और आभूषण उत्पन्न होते हुए दिखाये गये हैं।[1] कालिदास ने मेघदूत में इस अभिप्राय का उल्लेख करते हुए लिखा है कि अकेला कल्पवृक्ष ही स्त्रियों के शृंगार की सब सामग्री अलका में उत्पन्न कर देता है। उसमें चित्र-विचित्र वस्त्रों का स्थान प्रथम है।[2] सावित्री के शरीर के ऊपरी भाग में महीन अंशुक की स्तनों के बीच बँधी हुई गात्रिका ग्रन्थि थी : स्तनमध्यबद्धगात्रिका ग्रंथि, १० [चित्र ३]। गात्रिका से ही हिन्दी का गाती शब्द निकला है। ब्रह्मचारी या संन्यासी अभी तक उत्तरीय की गाती बाँधते हैं। माथे पर भस्म की त्रिपुण्ड्ररेखाएँ लगी हुई थीं। त्रिपुण्ड्रतिलक का प्रयोग सप्तम शती से पूर्व लोक में चला गया था। सावित्री के बाँयें कंधे से कुण्डलीकृत योगपट्ट लटक रहा था, जो दाहिनी बगल के नीचे होकर कमर की तरफ जाता था [चित्र ४]। इस वर्णन में कुण्डलीकृत, योगपट्ट और वैकक्ष्यक ये तीनों शब्द पारिभाषिक हैं। वैकक्ष्यक बाण के ग्रंथों में कई बार आता है। माला, हार या वस्त्र बाँये कन्धे से दाहिनी काँख (कक्ष) की ओर जब पहना जाता था, तब उसे वैकक्ष्यक कहते थे। योगपट्ट वह वस्त्र था, जिसे योगी शरीर का ऊपरी भाग ढकने के लिए रखते थे। साहित्य में अनेक स्थानों पर इस शब्द का प्रयोग हुआ है। अपभ्रंश-भाषा के 'यशोधरचरित' काव्य में इसका रूप जोगवट्ट आया है : गलजोगवट्टट्टु सज्जिउ विचित्तु। पुरानी अवधी में इसी का रूप जोगवाट जायसी ने प्रयुक्त किया है।[3] बाण का यह लिखना कि योगपट्ट कुन्डली करके या मोड़कर पहना गया था, गुप्तकालीन मूर्त्तियों को देखने से ही समझ में आ सकता है, जिनमें बाँयें कंधे पर से उतरता हुआ योगपट्ट दुहरा करके डाला जाता है। सावित्री के बाँयें हाथ में स्फटिक का कमंडलु था, जिसकी उपमा पुंडरीक-मुकुल से दी गई है। गुप्त-कालीन अमृतघट, जो बोधिसत्त्व आदि मूर्त्तियों के बायें हाथ में रहता है, ठीक इसी प्रकार का लम्बोतरा नुकीली पेंदी का होता है [चित्र ५]। सावित्री दाहिने हाथ में शंख की बनी हुई अंगूठियाँ (कम्बुनिर्मित ऊर्मिका) पहने और अक्षमाला लिये थी। सावित्री के

---

१. देखिए मेरा लेख 'कल्पवृक्ष'—कलापरिषद्, कलकत्ता का जर्नल, १९४३, पृ० १,८।

२. वासश्चित्रं मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं
पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान्।
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्या-
मेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः॥

सावित्री बीच में पड़कर दुर्वासा से क्षमा माँगना चाहती थी कि क्रोधी दुर्वासा ने चट शाप दे दिया कि सरस्वती मर्त्यलोक में जन्म ले। शाप सुनकर ब्रह्माजी ने पहले धीर स्वर से दुर्वासा को समझाया और पुनः सरस्वती से कहा—'पुत्री, विषाद मत करो। यह सावित्री भी तुम्हारे साथ रहेगी और पुत्रजन्म-पर्यन्त तुम वहाँ निवास करोगी।' ब्रह्मा के शरीर को 'धवलयज्ञोपवीती' कहा गया है। गुप्तकालीन ब्राह्मणधर्म-संबंधी मूर्त्तियों में यज्ञोपवीत का अंकन आरम्भ हो गया था। कुषाणकालीन मूर्त्तियों में इसका अंकन नहीं पाया जाता। ब्रह्माजी के उपदेशवाक्यों में बाण के समकालीन बौद्धों के धार्मिक प्रवचन की झलक पाई जाती है। 'जिन्होंने इन्द्रियों को वश में नहीं किया, उनके इन्द्रियरूपी उद्दाम घोड़ों से उठी हुई धूल दृष्टि को मलिन कर देती है। चर्मचक्षु कितनी दूर देख सकते हैं? ज्ञानी लोग भूत और भविष्य के सब भावों को विशुद्ध बुद्धि से देखते हैं।'[1] बुद्ध की प्रज्ञा के संबंध में बौद्ध लोग यही बात कहते थे। विश्व की सब वस्तुओं का ज्ञान बुद्ध को करतलगत था। इसे बुद्ध का 'चक्षु' कहा जाता था। इसी का विवेचन करने के लिये रत्नकरतल चक्षुर्विशोधन-विद्या (धर्मरक्षकृत, २६६—३१२ ई०) आदि ग्रंथ रचे गये। कालिदास ने भी वसिष्ठ के सम्बन्ध में इस प्रकार के निष्प्रतिघ चक्षु का उल्लेख किया है।[2]

इसके बाद संध्या हो गई। यहाँ बाण ने प्रदोषसमय का साहित्यिक दृष्टि से बड़ा भव्य वर्णन किया है—'तरुण कपि के मुख की भाँति लाल सूर्य अस्ताचल को चले गये। आकाश ऐसे लाल हो गया, मानों विद्याधरी अभिसारिकाओं के चरणों में लगे महावर से पुत गया हो। संध्या की कुसुंभी लाली दिशाओं को रँगती हुई रक्तचन्दन के द्रव की भाँति आकाश में बिखर गई। हंस तालों में कमलों का मधु पीकर छके हुए ऊँघने लगे। रात की साँस की तरह वायु मन्द-मन्द बहने लगी। पके तालफल की त्वचा की कलौंस-मिली ललाई की भाँति संध्या की लाली के साथ पहला अँधेरा धरती पर फैल गया। कुटज के जंगली फूलों की तरह तारे नभ में छिटक गये। निशालक्ष्मी के कान में खोंसी हुई चम्पा की कली-जैसे दीपक बढ़ते हुए अँधेरे को हटाने लगे। चन्द्रमा के हल्के और पीले उजाले से अंधकार के हटने पर पूर्वी दिशा का मुख ऐसे निकला, मानों सूखते हुए नीले जल के घटने से यमुना का बालू-भरा किनारा निकला हो। चहे के पंख के रंग-सा अँधेरा घटता हुआ आकाश छोड़कर धरती पर खिले नीले कमलों के सरोवरों में छा गया। रात्रिवधू के अधर-राग की भाँति लाल चन्द्रमा उग आया, मानों वह उदयाचल की खोह में रहनेवाले सिंह के पंजों से मारे गये अपनी ही गोद के हिरन के रुधिर से रँग गया था। उदयाचल पर फैली चन्द्रकान्तमणि से

---

१. उद्दामप्रसृतेन्द्रियाश्वसमुत्थापितं हि रजः कलुषयति दृष्टिमनक्षजिताम्। कियद्दूरं वा चक्षुरीक्षते? विशुद्धया हि धिया पश्यन्ति कृतबुद्धयः सर्वानर्थानसतः सतो वा (१२)।

२. पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः समतीतं च भवच्च भावि च।

चाँदनी से समुद्र को ऐसे भरने लगी, जैसे हाथी-दाँत की बनी मकरमुखी पनाली मस्तिष्क से दूध की धारा बहा रहा हो। इस प्रकार प्रदोष-समय स्पष्ट हो उठा।'

कला की दृष्टि से इस वर्णन में कई शब्द ध्यान देने योग्य हैं, जैसे नृत्तोद्धतधूर्जटि-जटाटवी (१५)। इससे ज्ञात होता है कि तांडव करते हुए नटराज शिव की मूर्त कल्पना उस समय लोक में व्याप्त हो रही थी। दन्तमयमकरमुखमहाप्रणाल से तात्पर्य हाथी-दाँत के बने मकरमुखी उन पनालों से है, जो मन्दिरों या महलों की वास्तुकला में लगाये जाते थे। पत्थर में उनके बड़े अनेक उदाहरण भारतीय वास्तु में मिलते हैं [चित्र ६]।

साहित्यिक दृष्टि से इतना कहना उचित होगा कि बाण को संध्या का वर्णन बहुत प्रिय था। हर्षचरित में चार बार संध्या का वर्णन आया है (१४—१६, ८०-८१, २१८-२१६, २५७-२५८)। बाण ने हर बार भिन्न-भिन्न चित्र खींचने का प्रयत्न किया है। खुली प्रकृति में और शहर के अन्दर बन्द वातावरण में संध्या के दृश्य, प्रभाव और प्रतिक्रिया विभिन्न होती है। बाण की साहित्यिक तूलिका ने दोनों के ही चित्र लिखे हैं।

प्रातःकाल होने पर सावित्री के साथ सरस्वती ब्रह्मलोक से निकली और मन्दाकिनी का अनुसरण करती हुई मर्त्यलोक में उतरी। इस प्रसंग में ब्रह्मा के हंसविमान का उल्लेख है। हंसवाही देव-विमान मथुरा की शिल्पकला में अंकित पाया गया है [चित्र ७]।[१] मंदाकिनी के वर्णन में कला की दृष्टि से कई शब्द उपयोगी हैं; जैसे मौलिमालतीमालिका, मस्तक पर पहनी जानेवाली मालती-माला, जिसका गुप्त-कला में चित्रण पाया जाता जाता है [चित्र ८]; दूसरी अंशुकोष्णीषपट्टिका, अर्थात् अंशुक नामक महीन वस्त्र की उष्णीष पर बँधी हुई पट्टिका [चित्र ६]; तीसरा विट के मस्तक की लीलाललाटिका। विट और विदूषकों के वेश कुछ मसखरापन लिये होते थे। जान पड़ता है, विट लोग माथे पर बोल, बेंदी या टिकुली जैसा कोई आभूषण (ललाटिका) पहन लेते थे। विदूषकों के लिए तीन चोंचवाली (त्रिशिखंडक) टोपी गुप्तकला में प्रसिद्ध थी।[१] बाण ने मंदाकिनी के लिए सप्तसागर राजमहिषी की कल्पना की है। वस्तुतः, गुप्तयुग और उत्तर गुप्तयुग में द्वीपान्तरों के साथ भारतीय सम्पर्कों में वृद्धि होने से सप्तसागरों का अभिप्राय साहित्य में आने लगा। पुराणों में इसी युग में सप्तसमुद्र महादान की कल्पना की गई (मत्स्यपुराण, षोडशमहादान-प्रकरण)। विदेशों के साथ व्यापार करके घर लौटने पर धनी व्यापारी सवा पाव से सवा मन तक सोने के बने हुए सप्तसमुद्र-रूपी सात कुंडों का दान करते थे। मथुरा, प्रयाग, काशी जैसे बड़े केन्द्रों में जहाँ इस प्रकार के दान दिये जाते थे, वे जलाशय सप्तसमुद्रकूप या समुद्रकूप कहलाते थे। इस नाम के कूप अभी तक इन तीनों स्थानों में विद्यमान हैं। मंदाकिनी के लिए सप्तसमुद्रों की पटरानी की कल्पना भारत के सांस्कृतिक इतिहास का एक सुन्दर समकालीन प्रतीक है।

को बाण ने चन्द्र-पर्वत का अमृत का झरना, विन्ध्याचल की [illegible] और दंडकारण्य के कर्पूरवृक्षों का चुआ हुआ प्रवाह कहा है। श्रीयुत बागची ने एक चन्द्रद्वीप की पहचान दक्खिनी बंगाल के बारीसाल जिले के समुद्रतट से की है।[1] किन्तु शोण से संबद्ध चन्द्रपर्वत विन्ध्याचल का वह भाग होना चाहिए, जहाँ अमरकंटक के पश्चिमी ढलान से सोन नदी का उद्‌गम हुआ है। भवभूति ने उत्तररामचरित (अङ्क ४) में सीता-वनवास से खिन्न राजा जनक के वैखानसवृत्ति धारण करके चन्द्रद्वीप के तपोवन में कुछ वर्ष बिताने का उल्लेख किया है। संभव है, भवभूति का यह चन्द्रद्वीप विन्ध्याचल के भूगोल का ही भाग हो, जो उत्तररामचरित की भौगोलिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत है। बाण के समय शोण का दूसरा नाम हिरण्यवाह भी प्रसिद्ध था : हिरण्यवाहनामानं महानदं जनाः शोण इति कथयन्ति (१९)। अमरकोश में भी शोण का पर्याय हिरण्यवाह दिया है, जिससे गुप्तकाल तक इस नाम की ख्याति सिद्ध होती है। सोन के पश्चिमी तीर, अर्थात् बायें तट पर सरस्वती ने अपना आश्रम बनाया और दाहिने किनारे पर सोन की उपकंठ भूमि या कछार में कुछ दूर हटकर कहीं च्यवनाश्रम था। बाण के अनुसार सोन के उस पार एक गव्यूति या दो कोस पर च्यवन ऋषि के नाम से प्रसिद्ध च्यावन नामक वन था[2], जहाँ सरस्वती के भावी पति दधीच ने अपना स्थान बनाया। दधीच की सखी मालती घोड़े पर सवार होकर सोन पार करके सरस्वती से मिलने आती है : प्रजविना तुरगेण ततार शोणं (३६)। अवश्य ही इस स्थान पर सोन कहीं पैदल पार की जा सकती होगी। यहीं दधीच और सरस्वती के पुत्र सारस्वत ने अपने चचेरे भाई वत्स के लिए प्रीतिकूट नाम का गाँव च्यवनाश्रम की सीमा में बसाया (३८)। ब्राह्मणों की बस्ती प्रधान होने के कारण बाण ने इसे ब्राह्मणाधिवास भी कहा है। यही प्रीतिकूट बाण का जन्मस्थान था।[3]

---

१. श्रीप्रबोधचन्द्र बागची, इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, भाग २२, पृ० १२९, बँगला के संस्कृत-साहित्य पर नया प्रकाश ; और भी देखिए, विश्वभारती क्वार्टरली, अगस्त, १९४६, पृ० ११९—१२१, श्रीप्रबोधचन्द्र सेन, प्राचीन बंगाल का भूगोल; और भी, श्रीबागची द्वारा संपादित कौलज्ञाननिर्णय (कलकत्ता-संस्कृत-सीरीज) की भूमिका में चंद्रपर्वत-संबंधी अन्य सामग्री।

२. इतश्च गव्यूतिमात्रमिव पारेशोणं तस्य भगवतश्च्यवनस्य स्वनाम्ना निर्मितव्यपदेशं च्यावनं नाम काननम् (२७)।

३. च्यवनाश्रम की पहचान के सम्बन्ध में श्रीपरमेश्वरप्रसाद शर्मा ने 'महाकवि बाण के वंशज तथा वास-स्थान' नामक लेख में ('माधुरी', वर्ष ८, सं० १९८७, पूर्ण संख्या ६६, पृ० ७२२—७२७) विचार किया है। उनका कहना है—'शोणनद के किनारे खोज करने से च्यवनऋषि का आश्रम आजकल भी 'देवकुर' (देवकुंड) के नाम से एक सुविस्तृत [illegible]

रूप सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान नामक थे। इनके अनुसार पंचमुखी शिवलिंग कुषाणकाल से ही बनने लगे थे और गुप्तकाल में भी उनका विशेष प्रचार था [चित्र १०]। पाँच तत्त्व और पाँच चक्रों के अनुसार यह शिव के पंचात्मक रूप की कल्पना थी। बौद्धों में भी योग और तांत्रिक प्रभावों के सम्मिश्रण से पंचात्मक बुद्धों की उपासना और कलात्मक अभिव्यक्ति कुषाण और गुप्तकाल में विकसित हो चुकी थी। बाण ने यहाँ शिव की अष्टमूर्त्तियों का भी उल्लेख किया है। इनका ध्यान करके शिवपूजा में शिवलिंग पर अष्टपुष्पिका चढ़ाई जाती थी। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल के मंगलश्लोक में शिव की इन अष्टमूर्त्तियों का अत्यन्त सरस वर्णन किया है। बाण ने उनके नाम इस प्रकार गिनाये हैं — १. अवनि, २. पवन, ३. वन (जल), ४. गगन, ५. दहन (अग्नि), ६. तपन (सूर्य), ७. तुहिनकिरण (चंद्रमा) और ८. यजमान (आत्मा; २०)। अष्टपुष्पिका पूजा के इस प्रसंग में ध्रुवागीति का महत्त्वपूर्ण उल्लेख है। ध्रुवा, जैसा शंकर ने लिखा है, एक विशिष्ट प्रकार की गीति थी। ध्रुवा गीति के पाँच भेद थे—प्रावेशिकी (रंग-प्रवेश के समय की), नैष्क्रमिकी (रंग से निष्क्रमण के समय की), और तीन आक्षेपकी, आन्तरा, प्रासादिकी, जो अभिनेता के रंग पर अभिनय के बीच में गाई जाती थीं। ये गीतियाँ अभिनय के प्रस्तुत विषय में कुछ नवीन भाव उत्पन्न करती एवं दर्शकों को संकेत से विषय-प्रसंग, स्थान और सम्बद्ध पात्र का परिचय देती थीं; क्योंकि भरत के रंगमंच पर स्थान-कालसूचक यवनिका आदि का अभाव था। जैसे, सूर्योदय-सम्बन्धी गीति से प्रातःकाल का संकेत एवं

जाता है। मालूम होता है कि शोण के किनारे होने के कारण ही इस गाँव का नाम शोणभद्र पड़ा। यहाँ के रहनेवाले सोनभदरिया विख्यात हुए, जो अपने को वच्छगोतिया कहते हैं। वच्छगोतिया शब्द वत्सगोत्रीय शब्द का बिगड़ा हुआ रूप है। च्यवनाश्रम की समीपता, शोणभद्र की तटस्थता तथा सोनभद्दर की प्राचीनता और वच्छगोतिया नाम के अस्तित्व के ऊपर विचार करने से यह धारणा हुए बिना नहीं रह सकती कि यह सोनभद्र गाँव महाकवि बाण के बाल्यकाल का क्रीडास्थल था, यहीं पर बाण ने अपने कादम्बरी जैसे अनोखे उपन्यास और हर्षचरित-जैसे अनोखे इतिहास की रचना की थी।

बाण के साले मयूर के जन्म-स्थान के विषय में भी इस लेख में लिखा है कि गया जिले में पामरगंज स्टेशन से दक्षिण-पश्चिम १४ मील हटकर च्यवनाश्रम से ठीक बीस कोस दक्षिण-पश्चिम कोने पर एक 'देव' नामक प्रसिद्ध स्थान है, जहाँ सूर्य का एक विशाल मन्दिर मयूरभट्ट की तपोभूमि का स्मरण दिला रहा है। यहाँ प्रतिवर्ष कार्तिक और चैत्र को छठ को बड़ा मेला लगता है और सैकड़ों आदमी यहाँ कुष्ठरोग से छुटकारा पाने के लिए आते हैं। यह मन्दिर भी च्यवनाश्रम की तरह पश्चिम मुँह का है। इसके आस-पास मरयार नाम के स्थानीय ब्राह्मणों की अनेक बस्तियाँ हैं, जो अपने को मयूर का वंशज बतलाते हैं। ('माधुरी' वही, पृ० ७२४)।

श्रीकमलाकान्त उपाध्याय का एक लेख 'भोजपुरी पत्रिका' (आरा) में प्रकाशित हुआ है। उनका कथन है कि प्रीतिकूट (वर्तमान पीउर) और मल्लकूट (वर्तमान मलउर,) ये दोनों गाँव

सूचना किसी हाथी के वन-प्रवेश के वर्णन द्वारा दी जाती है। ध्रुवा-गीतियाँ प्रायः प्राकृत भाषा में होती थीं, जिससे ज्ञात होता है कि वे लोकगीतों से ली गईं। संस्कृत की ध्रुवाएँ बहुत बाद में लिखी गईं। ध्रुवागीति का गान प्रायः वृन्दसंगीत (ऑरकेस्ट्रा) के साथ होता था।[1]

एक दिन प्रातःकाल के समय एक सहस्र पदाति-सेना और घुड़सवारों की एक टुकड़ी उस आश्रम के समीप आती हुई दिखाई पड़ी। गुप्तकाल में बहुत यत्न के बाद पदाति-सेना का जो निखरा रूप बना था, उसका एक उभरा हुआ चित्र बाण ने यहाँ प्रस्तुत किया है। पदाति-सेना की भरती में प्रायः जवान लोग (युवप्रायेण) थे। बाण के समय लम्बे बाल रखने का रिवाज था; लेकिन फौजी जवान घुँघराले बालों को इकट्ठा करके माथे पर जूड़ा बाँधते थे [चित्र ११]।[2] वे कानों में हाथी-दाँत के बने पत्ते पहनते थे, जो झुमके की तरह कपोल के पास लटकते थे।[3] प्रत्येक सैनिक लाल रंग का कंचुक या कसा हुआ छोटा कोट पहने था जिसपर काले अगरु की बुंदकियाँ छिटकी हुई थीं।[4] सिर पर उत्तरीय की छोटी पगड़ी बँधी हुई थी।[5] बायें हाथ की कलाई में सोने का कड़ा पड़ा हुआ था। गुप्त-काल में इसका आम रिवाज था। कालिदास ने भी इसका उल्लेख किया है।[6] यह कड़ा कुछ निकलता हुआ या ढीला होता था, जो सम्भवतः छैलपन की निशानी थी। इस विशेषता के कारण बाण ने उसे स्पष्ट-हाटक-कटक कहा है।[7] कमर में कपड़े की दुहरी पेटी की मजबूत गाँठ लगी थी और उसी में छुरी खोंसी हुई थी।[8] छुरी के लिए प्रायः असिधेनु या असिपुत्रिका शब्द चलते थे। निरन्तर व्यायाम से शरीर पतला, किन्तु तारकशी की तरह खिंचा हुआ था।[9] गठे हुए लम्बे शरीर पर पतली कमर में कसी हुई पेटी और उसमें खोंसी हुई कटारी, इस रूप में सैनिकों की मिट्टी की मूर्तियाँ अहिच्छत्रा की खुदाई में मिली हैं, जो लगभग छठी-सातवीं ईसवी की हैं [चित्र १२]।[10] पदाति-सैनिकों में कुछ लोग मुँगरी या डंडे लिये हुए (काणधारी) थे और कुछ के हाथ में तलवार थी। यह पदाति-सेना

---

१. दे० श्रीराघवन: 'एन आउटलाइन लिट्रेरी हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन म्यूजिक' जर्नल ऑफमदरास म्यूजिक एकेडमी, भाग २३ (१९५२), पृ० ६७।

२. प्रलम्बकुटिलकुन्तलतन्त्रघटितललाटजूटक, २१। इस प्रकार के माथे पर बँधे जूड़े (ललाटजूटक) के साथ मथुरा-संग्रहालय में 'जो २१' संख्यक पुरुष-मस्तक देखिए।

३. धवलपत्रिकाय_तिहसितकपोलभित्ति, २१।

४. कृष्णशबलकषायकञ्चुक, २१।

५. उत्तरीयकृतशिरोवेष्टन, २१।

६. कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः, मेघदूत, २१।

७. वामप्रकोष्ठनिविष्टस्पष्टहाटककटकेन, २१।

८. द्विगुणपट्टपट्टिकागाढग्रन्थिग्रथितासिधेनुना, २१।

घोड़ों की टुकड़ी के बीच में अट्ठारह वर्ष का एक अश्वारोही युवक था। दधीच नामक इस युवक के वर्णन में बाण ने अपने समकालीन सम्भ्रान्त और नवयुवक सेनानायक का चित्र खींचा है। वह बड़े नीले घोड़े पर सवार था। साथ में चँवर डुलाते हुए दो परिचारक दायें-बायें चल रहे थे। आगे-आगे सुभाषित कहता हुआ एक बन्दी या चारण चल रहा था। सेनानायक के सिर पर छत्र था। बाण ने छातों का कई जगह वर्णन किया है (५६, २१६)। इस छाते की तीन विशेषताएँ थीं। उसके सिरे पर अर्धचन्द्र की आकृतियोंवाली एक गोल किनारी बनी हुई थी। बँगड़ीदार या चूड़ीदार सजावट की यह किनारी (Scalloped border) प्रभामंडल के साथ कुषाणकाल से ही मिलने लगती है। किन्तु, गुप्त-काल के छाया-मंडलों में इस किनारी के साथ और भी अलंकरण; जैसे कमल की पँखड़ी और मोर या गरुड़ मिलने लगते हैं। ये छाया-मंडल हू-ब-हू छत्रों के ढंग पर अलंकृत किये जाते थे। ऐसा कालिदास ने लिखा है।[1] छत्र के किनारे पर मोतियों की झालर लगी हुई थी (मुक्ताफलजालमालिना, २१) और बीच-बीच में तरह-तरह के रत्न जड़े थे। दधीच कटि तक लम्बी मालती की माला पहने हुए था और उसके सिर पर तीन प्रकार के अलंकरण थे। एक तो केशान्त में मौलसिरी की मुंडमाला थी, दूसरे सामने की ओर पद्मरागमणि का जड़ाऊ छोटा गहना या कलँगी (शिखंडखंडिका, २१) लगी हुई थी, और तीसरे उसके पीछे की ओर मौलि धारण किये हुए था। उसकी नाक लम्बी और ऊँची (द्राघीयस् घोणावंश) थी। मुख में विशेष प्रकार का सुगंधित मसाला था, जो सहकार, कर्पूर, कक्कोल, लवंग और पारिजात इन पाँच सुगंधित द्रव्यों से बना था। ज्ञात होता है कि उस समय इस मुखशोधक सुगंधि (मुखामोद) का अधिक रिवाज था। बाण ने अन्यत्र भी इसका उल्लेख किया है और ऊपर लिखे द्रव्यों के अतिरिक्त चंपक और लवली भी मुखशोधक मसाले में मिलाने की बात लिखी है (६६)। युवक के कान में त्रिकंटक नाम का गहना था। यह आभूषण दो मोतियों के बीच में पन्ने का जड़ाव करके बनाया गया था : कदम्बमुकुलस्थूलमुक्ताफलयुगलमध्याध्यासितमरकतस्य त्रिकण्टककर्णाभरणस्य (२२)। उस समय त्रिकंटक कर्णाभरण का व्यापक रिवाज था। स्त्री और पुरुष दोनों इसे पहनते थे। हर्ष के जन्म महोत्सव के समय राजकुल में नृत्य करती हुई राज-महिषियाँ त्रिकंटक पहने हुए थीं : उद्धूयमानधवलचामरसटालग्नत्रिकण्टकवालतरविकट-कटाक्षाः (१३२)। हर्ष का ममेरा भाई भंडि जब पहली बार दरबार में आया, वह कान में मोतियों से बना त्रिकंटक पहने था : त्रिकण्टकमुक्ताफलालोकधवलित (१३५)। सौभाग्य से बाण के वर्णन से मिलता हुआ दो मोतियों के बीच में जड़ाऊ पन्ने-सहित सोने का कान में पहनने का एक गहना, जो बाली के आकार का है, मुझे प्राप्त हुआ था; वह अब राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में सुरक्षित है। उसकी पहचान त्रिकंटक से ही ...

अर्थात् उसकी ऊपर की सिरी नीवी या अंटी, में बंधी और नीचे की छूटी रहती थी। शरीर के मोड़ने से दाहिनी जाँघ का कुछ भाग दिखाई दे जाता था : संवलनप्रकटितोरुत्रिभाग (२२)। उस गमछानुमा अधोवस्त्र का कच्छभाग पीछे की ओर पल्ला खोंसने के बाद भी कुछ ऊपर निकलता रहता था : कक्ष्याग्रिकक्षिप्तपल्लव (२२)। अधोवस्त्र पहनने का यह ढंग गुप्तकालीन मूर्त्तियों में प्रत्यक्ष देखा जाता है। उससे बाण के वर्णन को स्पष्ट समझने में सहायता मिलती है [चित्र १४]।

वह युवक जिस घोड़े पर सवार था, उसके साज का भी वर्णन किया गया है। उसके मुँह में खरखलीन या काँटेदार लगाम थी। सीधे घोड़ों को सादा लगाम और तेज-मिजाज घोड़ों के लिए काँटेदार लगाम प्रायः होती है। उसके लिए बाण ने खरखलीन नाम दिया है। प्रातिमोक्षसूत्र में इसे शतकंटकतीक्ष्णखलीन कहा गया है, जो बहुत चुभनेवाली होती थी : प्रातिमोक्षखलीनमपि सदृशं शतकण्टकं तीक्ष्णं येनाऽपि विध्यते।[1] खलीन शब्द संस्कृत में यूनानी भाषा से किसी समय लिया गया था, जो बाण के समय में खूब चल गया था। घोड़े की नाक पर सामने की ओर लगाम का कमानीदार हिस्सा (दीर्घघ्राणलीनतालिक) और माथे पर सोने का पदक (ललाटतुलितचामीकरचक्रक) झूल रहा था। गले में सोने की झनझन बजनेवाली मालाएँ पड़ी थीं, जिन्हें जयन कहते थे : शिञ्जानशातकौम्भजयन (२३)। जहाँ सवार के पैर लटकते थे, वहाँ कक्ष्या के समीप पलान से झूलती हुई छोटी छोटी चँवरियों की पंक्ति घोड़ों की शोभा के लिए लगाई जाती थी : अश्वमण्डनचामरमाला (२३)।

इस प्रकार वह नवयुवक नायक अश्ववृन्द के मध्य में चल रहा था, मानों वह नेत्रों का आकर्षणांजन, मान का वशीकरण-मंत्र, सौभाग्य का सिद्धियोग, रूप का कीर्त्तिस्तम्भ और लावण्य का मूलकोप हो। ये सब पारिभाषिक शब्द हैं। वाग्भट के अष्टांगसंग्रह में, जो लगभग बाण की समकालीन रचना है, सर्वार्थसिद्ध अंजन के बनाने की विधि विस्तार से दी गई है। बाण ने लिखा है कि चंडिका के मंदिर का बुड्ढा दक्खिनी पुजारी किसी ठग के द्वारा दिये सिद्धांजन से अपनी एक आँख ही गँवा बैठा था (का० २२६)। उस समय की जनता देवी-देवताओं की मनौती मानकर इस प्रकार के सिद्ध अंजन और ओषधियों का प्रयोग करती थी, यह भी वाग्भट से ज्ञात होता है। सातवीं शती में कीर्त्तिस्तम्भ शब्द का प्रयोग उनके निर्माण की प्राचीन परम्परा का सूचक है।

उसके पार्श्व में घोड़े पर सवार एक अंगरक्षक चल रहा था। लम्बा, तपे सोने के-से रंगवाला, अधेड़ अवस्था का, जिसके दाढ़ी-मूँछ और नाखून साफ-सुथरे कटे हुए थे (नीचनखश्मश्रुकच), छिले कसेरू-सी घुटी खोपड़ीवाला (शुक्तिखलितः), कुछ तुन्दिल, रोमश उरःस्थलवाला, दिखावटी न होने पर भी भव्य वेश का, आकृति से महानुभाव शिष्टाचार

पार्श्व-पुरुष था। यहाँ स्पष्ट रूप से उसकी जातीयता न बताकर भी बाण ने बारीक हुलिया से उसके विदेशी होने का इशारा किया है। संभवतः, इस वर्णन के पीछे पारसीक सैनिक का चित्र है। बाण ने स्वयं उसके लिए 'साधु' पद का प्रयोग किया है। संभवतः, यह 'शाह' का संस्कृत रूप तत्कालीन बोलचाल में प्रयुक्त होता हो।

वे दोनों घोड़े से उतरकर सरस्वती और सावित्री के पास लतामंडप में विनीत भाव से आये। शिष्टाचार के उपरान्त सावित्री के प्रश्न के उत्तर में पार्श्वचर ने अपने साथी का परिचय देते हुए कहा—'यह च्यवन से सुकन्या में उत्पन्न पुत्र दधीच है। इसका जन्म अपने नाना के यहाँ हुआ। अब यह अपने पिता के समीप जा रहा है। मैं इसके मातामह-कुल का आज्ञाकारी भृत्य विकुक्षि हूँ। शोण के उस पार च्यवन वन तक हमें जाना है। आप भी अपने गोत्र-नाम से अनुगृहीत करें।' सावित्री ने इतना ही कहा—'आर्य समय पर सब जानेंगे।' इसके बाद संध्या हो गई, किन्तु सरस्वती को उस युवक में मन लग जाने के कारण नींद न आई। कुछ दिन बाद वही विकुक्षि छत्रधार के साथ पुनः वहाँ आया। कुशल-प्रश्न के उपरान्त उसने सूचना दी कि कुमार दधीच की मालती नामक सखी उसका संदेश लेकर शीघ्र ही आयगी। अगले दिन प्रातःकाल शोण पार करके मालती उस स्थान पर आई। वह बड़े तुरंगम पर सवार थी। उसके पैर रकाब में पड़े हुए थे: उत्कीर्णारोपित-चरणयुगल (३१)। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि भारतवर्ष में रकाब का वर्णन स्त्रियों की सवारी के लिए ही आता है और कला में भी स्त्रियों के लिए ही उसका अंकन किया गया है।[1] [चित्र १५]

मालती का वेश विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। वह धोये हुए सफेद रेशम का पैरों तक लटकता हुआ झीना कंचुक पहने थी,[2] जो साँप की केंचुली की तरह हल्का और बारीक था। इस प्रकार का लम्बा कंचुक अजन्ता की पहली गुफा में बोधिसत्व अवलोकितेश्वर के पीछे खड़ी हुई स्त्री के शरीर पर स्पष्ट है। वस्त्र के लिए यहाँ नेत्र शब्द का प्रयोग किया गया है। बाण के ग्रंथों में यह शब्द कितनी ही बार आता है। नेत्र एक प्रकार का महीन रेशमी कपड़ा जान पड़ता है। झीने कंचुक के नीचे कुसुम्भी रंग का लाल लँहगा (कुसुम्भ-

---

१. कुमारस्वामी, बोस्टन म्यूजियम बुलेटिन, सं० १४४, अगस्त १९२६, पृ० ७, चित्र ४ में मथुरा के एक स्तूपिपट्ट पर अश्वारोहिणी स्त्री रकाब में पैर डाले हुए दिखाई गई है। कुमारस्वामी के अनुसार भारतीय कला में रकाब के उदाहरण संसार में सबसे प्राचीन हैं। भरहुत, भाजा, साँची और मथुरा की शिल्पकला में द्वितीय-प्रथम शती ई० पूर्व की अश्वारोही मूर्तियों में रकाब के कई उदाहरण मिलते हैं। प्रायः स्त्रियाँ रकाब के साथ और पुरुष उसके बिना सवारी करते दिखाये गये हैं। जब रकाब दिखाई जाती है, तब मुड़ी हुई टाँगें घोड़े के पेट से नीचे नहीं लटकतीं, और जब रकाब नहीं होती, तब टाँगें सीधी और पैर

हुई थीं : पुलकबंधचित्रम्। ज्ञात होता है कि बाँधनू की रँगाई से ये बुंदकियाँ उत्पन्न की जाती थीं। इस तरह की रँगाई के लिए पुलकबन्ध पारिभाषिक शब्द ज्ञात होता है। उसका मुख मानों नीले अंशुक की जाली से ढका था : नीलांशुकजालिकयेव निरुद्धार्धवदना। माथे पर दमकता हुआ पद्मराग का चट्टुला ऐसा फबता था, मानों वह रक्तांशुक का घूंघट डाले हुए थी। बाण के वर्णनों में देहाती स्त्रियों के वेश में ही शिरोवगुंठन का उल्लेख आया है।

मालती के शरीर पर कई प्रकार के आभूषणों का वर्णन किया गया है। कटिप्रदेश में बजती हुई करधनी थी। गले में आँवले-जैसे बड़े गोल मोतियों का हार था : आमलकीफलनिस्तलमुक्ताफलहार। इस हार की उपमा स्थूल ग्रहगण या नवग्रहों से की गई है। ज्ञात होता है कि यह नौ बड़े मोतियों का कंठा था, जो ग्रीवा से कुछ सटा हुआ पहना जाता था। मथुरा-कला में इस प्रकार का कंठा शुंगकालीन मूर्त्तियों पर ही मिलने लगती है।[1] छाती पर रत्नों की प्रालम्बमाला कुचों तक लटकती थी : कुचपूर्णकलशयोरुपरिरत्नप्रालम्बमालिकां।[2] इस माला में लाल और हरे रत्न, अर्थात् माणिक और पन्ने जड़े थे। एक हाथ की कलाई में सोने का कड़ा था (हाटककटक), जिसके गाहामुखी सिरों पर पन्ने जड़े हुए थे : मरकतमकरवेदिकासनाथ। गाहामुखी (ग्राहमुखी या मकरमुखी) और नाहरमुखी कड़ों का रिवाज भारतीय गहनों में अभी तक पाया जाता है। कानों में एक एक बाली थी, जिसमें मौलसिरी के फूल की तरह लम्बोतरे तीन-तीन मोती थे।[3] इसके अतिरिक्त बायें कान में नीली झलक का दन्तपत्र और दाहिने कान में केतकी का हरा अवतंस (नुकीला टौंसा) सुशोभित था। माथे पर कस्तूरी का तिलक-बिन्दु लगा था। ललाट पर सामने माँग से लटकती हुई चट्टुलातिलक नामक मणि थी :- ललाटलासकसीमन्तचुम्बी चट्टुलातिलकमणिः। इस प्रकार का चट्टुलातिलक गुप्तकालीन स्त्री-मूर्त्तियों में प्रायः देखा जाता है [चित्र १६]।[4] पीठ पर बालों का जूड़ा ढीला लटका हुआ था और सामने केशों में चूडामणि मकरिका आभूषण लगा हुआ था। दोनों ओर निकले हुए दो मकरमुखों को मिलाकर सोने का मकरिका नामक आभूषण बनता था, जो सामने बालों में या सिर पर पहना जाता था। इस प्रकार मालती के वेश और आभूषणों के ब्यौरेवार वर्णन में उस काल की एक सम्भ्रान्त स्त्री का स्पष्ट चित्र बाण ने खींचा है।

मालती के साथ उसकी ताम्बूलकरंकवाहिनी भी थी। लतामंडप में आकर वह सावित्री और सरस्वती के साथ आलाप में संलग्न हो गई। मध्याह्न के समय सावित्री के शोणतट पर स्नान के लिए चले जाने पर मालती ने सरस्वती से दधीच का प्रेम-संदेश कह सुनाया। यह संदेश समासरहित सरल शैली में कहा गया है। उत्तर में सरस्वती के प्रेम का

---

१. देखिए, मथुरा-कला की मूर्तियाँ, आई १५, ए ४६ और जे ७।

सरस्वती ने सारस्वत नाम के पुत्र को जन्म दिया, और पुनः शापावधि समाप्त होने पर ब्रह्मलोक को लौट गई। भार्गव-वंश में उत्पन्न अपने भाई ब्राह्मण की पत्नी अक्षमाला को दधीच ने सारस्वत की धात्री बनाया। सारस्वत और अक्षमाला का पुत्र वत्स दोनों साथ बढ़ने लगे। सारस्वत ने वत्स के प्रेम से प्रीतिकूट नामक निवास की स्थापना की और स्वयं 'आषाढी कृष्णाजिनी वल्कली अक्षवलयी जटी' बनकर तप करता हुआ च्यवन के लोक को ही चला गया। यहाँतक बाणभट्ट ने अपने पूर्वजों का पौराणिक वर्णन किया है, जिसमें लगभग पूरा पहला उच्छ्वास समाप्त हो जाता है।

वत्स से वात्स्यायन-वंश का प्रादुर्भाव हुआ। उसी वंश में वात्स्यायन नामक गृहमुनि, अर्थात् गृहस्थ होते हुए भी मुनिवृत्ति रखनेवाले ब्राह्मण उत्पन्न हुए। इन मुनियों का जो उदात्त वर्णन बाण ने दिया है, उसे पढ़कर ताम्रपत्रों में वर्णित उस समय के वेदाध्यायी, कर्मकांडनिरत ब्राह्मण-कुटुम्बों का स्मरण हो आता है। इन लोगों के विषय में विशेष उल्लेखनीय बात यह कही गई है कि उन्होंने पंक्तिभोजन छोड़ रखा था : विवर्जितजनपङ्क्तयः। ऐसे लोग जनसमुदाय के साथ सामूहिक जेवनारों में सम्मिलित न होकर अपनी बिरादरी के साथ ही भोजन का व्यवहार रखते थे। दूसरे प्रकार के वे लोग थे, जिन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों का भी भोजन त्याग दिया था : वर्णत्रयव्यावृत्तिविशुद्धान्धसः (३९)। सम्भवतः, ऐसे लोग स्वयम्पाकी रहना पसन्द करते थे। सामाजिक इतिहास की दृष्टि से इतना निश्चित ज्ञात होता है कि इस प्रकार भोजन की छुआछूत के विषय में ब्राह्मण-परिवारों में विशेष प्रकार की रोकथाम और मर्यादाएँ सातवीं शती में प्रचलित हो चुकी थीं।

उस समय एक सुसंस्कृत परिवार में विद्या और आचार का जो आदर्श था, वह अपनी बिरादरी के सम्बन्ध में बाण के प्रस्तुत वर्णन से ज्ञात होता है—'श्रौत आचारों का उन्होंने आश्रय लिया था। झूठ और दम्भ को वे पास न आने देते थे। कपट, कुटिलता और शेखी बघारने की आदत उनमें न थी। पापों से वे बचते थे। शठता को दूर करके अपने स्वभाव को प्रसन्न रखते थे। हीनता की कोई बात नहीं आने देते थे। दूसरे की निन्दा से अपने चित्त को विमुख रखते थे। बुद्धि की धीरता के कारण माँगने की वृत्ति से पराङ्मुख थे। स्वभाव के स्थिर, प्रणयिजनों में अनुकूल, कवि, वाग्मी, सरस भाषण में प्रीति रखनेवाले, विदग्धों के अनुरूप हास-परिहास में चतुर, मिलने-जुलने में कुशल, नृत्य-गीत-वादित्र को अपने जीवन में स्थान देनेवाले, इतिहास में अतृप्त रुचि रखनेवाले, दयावान्, सत्य से निखरे हुए, साधुओं को इष्ट, सब सत्त्वों के प्रति सौहार्द और करुणा से द्रवित, रजोगुण से अस्पृष्ट, क्षमावन्त, कलाओं में विज्ञ, दक्ष एवं अन्य सब गुणों से युक्त द्विजातियों के वे कुल असाधारण थे।' बाण ने तत्कालीन ब्राह्मण... की दो विशेषताओं की ओर भी

विद्वान् एक दूसरे से उद्भावित नई-नई युक्तियों और कोटियों से अपने-आपको परिचित रखते और अपने ग्रन्थों में उनका विचार और समाधान करते थे। प्रमुख आचार्य अन्य मतों में प्रवृद्ध रुचि रखते थे, उपेक्षा का भाव न था। इस प्रकार की जागरूकता के वातावरण में ही वसुबन्धु, धर्मकीर्त्ति, सिद्धसेन दिवाकर, उद्योतकर, कुमारिल और शंकर-जैसे अनेक प्रचण्ड मस्तिष्कों ने एक दूसरे से टकरा-टकराकर दार्शनिक क्षेत्र में अभूतपूर्व तेज उत्पन्न किया। इस पृष्ठभूमि में बाण का शमितसमस्तशास्त्रान्तरसंशीति विशेषण साभिप्राय है और ज्ञान-साधन की तत्कालीन प्रवृत्ति का परिचय देता है। इस प्रसंग में दूसरी बात यह कही गई है कि वे विद्वान् समग्र ग्रंथों में जो अर्थ की ग्रंथियाँ थीं, उनको उद्घाटित करते थे : उद्घाटितसमग्रग्रन्थार्थग्रन्थयः (३९)। इसमें भी तत्कालीन विद्यासाधन की झलक है। समग्र ग्रंथों से तात्पर्य भिन्न-भिन्न दर्शनों, जैसे न्याय, वैशेषिक, सांख्ययोग, वेदान्त, मीमांसा, पाशुपत, बौद्ध, आर्हत आदि के ग्रन्थों से है। उस समय के पठन-पाठन में ऐसी प्रथा थी कि लोग केवल अपने ही दार्शनिक ग्रन्थों के अध्ययन से सन्तुष्ट न रहकर दूसरे सम्प्रदायों के ग्रन्थों का भी अध्ययन करते थे और उसमें जो अर्थ की कठिनाइयाँ थीं, उन्हें स्पष्ट करते थे। इसी प्रणाली के कारण नालन्दा के बौद्ध-विश्वविद्यालय में वेद-शास्त्र आदि ब्राह्मणों के ग्रन्थों का पठन-पाठन भी खूब चलता था, जैसा कि श्युआन चुआङ् ने लिखा है। अध्ययन-अध्यापन और ग्रन्थ-प्रणयन, दोनों क्षेत्रों में ही सकल शास्त्रों में रुचि उस युग के विद्वानों की विशेषता थी। स्वयं बाण ने दिवाकरमित्र के आश्रम का वर्णन करते हुए इस प्रवृत्ति का आँखोंदेखा सच्चा चित्र खींचा है (२३७)।

उस वात्स्यायन-वंश में क्रम से कुबेर नामक एक ब्राह्मण ने जन्म लिया। कुबेर के अच्युत, ईशान, हर और पाशुपत ये चार पुत्र हुए। उनमें पाशुपत का पुत्र अर्थपति था। अर्थपति के ग्यारह पुत्र हुए भृगु, हंस, शुचि, कवि, महिदत्त, धर्म, जातवेदा, चित्रभानु, त्र्यक्ष, अहिदत्त और विश्वरूप। इनमें आठवें चित्रभानु की पत्नी राजदेवी से बाण का जन्म हुआ। बालपन में ही उसे माता का वियोग सहना पड़ा और पिता ने ही मातृस्नेह के साथ उसका पालन किया। पिता की देख-रेख में दिन-दिन जीवट लाभ करता हुआ वह बढ़ने लगा। पिता ने उपनयन आदि श्रुति-स्मृति-विहित सब संस्कार यथासमय किये। बाण की आयु चौदह वर्ष की भी पूरी न होने पाई थी कि उसके पिता भी बिना वृद्धावस्था को प्राप्त हुए ही गत हो गये। उस समय तक बाण का समावर्त्तन-संस्कार हो चुका था। विवाह के साथ-साथ दो-एक दिन पहले ही समावर्त्तन संस्कार कर लेने का जो रिवाज है, उसके अनुसार ज्ञात होता है कि बाण का विवाह भी पिता के सामने ही हो गया था। समावृत्त पद में ही विवाह का भी अन्तर्भाव है। हर्ष के साथ पहली भेंट में उसने आत्म-सम्मान के साथ कहा था—'स्त्री का पाणिग्रहण करने के बाद से ही मैं नियमित गृहस्थ हूँ' : दारपरिग्रहादभ्यागारिकोऽस्मि (७६)।

स्वतन्त्र प्रकृति ने जोर मारा। वह उसके यौवनारम्भ का समय था, बुद्धि परिपक्व न हुई थी : धैर्यप्रतिपक्षतया यौवनारम्भस्य (४१); अल्हड़पन के कारण स्वभाव में चपलता थी और मन में नई नई बातें जानने का कुतूहल। पिता के न रहने से एकाएक जो छूट मिली, उससे नियमित जीवन में कमी आई और अविनय या अनुशासनहीनता बढ़ गई। फल यह हुआ कि वह 'इत्वर' (आवारा) हो गया। इत्वर का अर्थ शंकर ने गमनशील किया है। मूल में यह वैदिक शब्द था, जो 'इण् गतौ' धातु से बनाया गया था। क्रमशः इसका अर्थ गमनशील से चंचल और ऊधमी हो गया। हिन्दी की इतराना धातु इसी से बनी है। लोक में ईतरे बालक और ईतरी गाय ये प्रयोग दंगई, ऊधमी, उत्पाती के अर्थ में चलते हैं। बाण का अभिप्राय यहाँ इत्वर से अपने आवारापन की ओर इशारा करने का है। बाण के घर की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। ब्राह्मणों के यहाँ जैसा चाहिए, वैसा पिता-पितामह का उपार्जित धन घर में था।[1] उसकी पढ़ाई का सिलसिला भी जारी था : सति च अविच्छिन्ने विद्याप्रसङ्गे। ज्ञात होता है कि बाण के गाँव प्रीतिकूट में संस्कृत के विविध विषयों की पढ़ाई का उसके सगे सम्बन्धियों के कुलों में ही अच्छा प्रबन्ध था। जब वह हर्ष के यहाँ से लौटकर अपने गाँव आया, तब उसने अध्ययन-अध्यापन और छात्रसमूह के विषय में स्वयं विशेष रूप से प्रश्न पूछे। व्याकरण, न्याय, मीमांसा, काव्य, कर्मकांड और वेदपाठ, इतने विषयों की पढ़ाई तो नियमित रूप से प्रीतिकूट गाँव में ही होती थी (८४)। किन्तु, उसके तूफानी स्वभाव के कारण ये सब सुविधाएँ भी बाण को घर में रोककर न रख सकीं। वह लिखता है—'जैसे किसी पर ग्रहों की बाधा सवार हो, वैसे ही स्वच्छन्द मन और नवयौवन के कारण स्वतंत्र होकर मैं घर से निकल पड़ा। मेरे मन को तो देशांतर देखने की इच्छा ने जकड़ लिया था।[2] इसपर सबने मेरी बड़ी खिल्ली उड़ाई।[3] किन्तु, उसका यह प्रयास ही उसके लिए बहुमूल्य अनुभव उपार्जित करने का कारण हुआ। देशान्तर देखने की जो उत्कट लालसा मन में थी, वह हल्का कुतूहल न रहकर ज्ञानवृद्धि का कारण बन गई।

अपने इस प्रवास में बाण ने चार प्रकार के सामाजिक स्तरों के अनुभव किये। एक तो बड़े-बड़े राजकुलों का हाल-चाल लिया, जहाँ अनेक तरह के उदार व्यवहार देखने को मिले। दूसरे प्रसिद्ध गुरुकुल या शिक्षा-केन्द्रों में उसने समय बिताया : गुरुकुलानि सेवमानः। यद्यपि बाण ने नाम नहीं दिया, तथापि संभावना यही है कि श्रेष्ठ विद्या से प्रकाशित (निरवद्यविद्याविद्योतित) अपने प्रान्त के ही विश्वविश्रुत महान् गुरुकुल नालन्दा में भी वह गया हो और वहाँ के विद्याक्रम की व्यवस्था का अनुभव किया हो। दिवाकरमित्र के आश्रम में ज्ञान-साधन के जो प्रकार उसने बताये हैं, उन्हें नालन्दा-जैसे विद्याकेन्द्र में ही चरितार्थ होते हुए देखा होगा (२३७)। तीसरे गुणवानों और कलावन्तों की गोष्ठियों में उपस्थित होकर (उपतिष्ठमानः) उनकी मूल्यवान्, गहरे पैठनेवाली और बुद्धि पर धार रखनेवाली चोखी

इन गोष्ठियों में विद्या-गोष्ठी, काव्य-गोष्ठी, वीणा-गोष्ठी वाद्य-गोष्ठी, नृत्य-गोष्ठी आदि रही होंगी। चौथे उसने उन विदग्ध-मंडलों का भी डूबकर (गाहम नः) रस लिया, जिनमें रसिक लोग सम्मिलित होकर बुद्धि की नोंक-झोंक करते थे।

बाण का व्यक्तित्व चार प्रकार की प्रवृत्तियों से मिलकर बना था। एक तो उसके स्वभाव में रईसी का पुट था; दूसरे वंशोचित विद्या की प्रवृत्ति थी;[1] तीसरे साहित्य और विविध कलाओं से अनुराग था; चौथे मन में वैदग्ध्य या छैलपन का पुट था। उसका स्वभाव अत्यन्त सरल, सजीव और स्नेही था। भारतीय साहित्यिकों के लम्बे इतिहास में किसी के साथ बाण के स्वभाव की पटरी बैठती है, तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साथ। वह लिखता है कि अपनी बालमित्र-मंडली में फिर लौटकर आने पर मुझे जैसे मोक्ष का सुख मिला: बालमित्रमण्डलस्य मध्यगतः मोक्षसुखमिवान्वभवत् (४३)। अपने मित्रमंडल का उसने वर्णन भी किया है, जिससे उन लोगों के प्रति उसके कोमल भाव सूचित होते हैं। वह लिखता है कि उसके घुमक्कड़ी जीवन में ये मित्र तथा कुछ और भी लोग उसके साथ थे। उसने अपनी बालसुलभ प्रकृति के कारण अपने-आपको इन मित्रों के ऊपर पूर्ण रीति से छोड़ रखा था: बालतया निघ्नतामुपगतः (४२)।

बाण का मित्रमंडल काफी बड़ा था। चौआलीस व्यक्तियों के नाम उसने गिनाये हैं। उसमें सुहृद् और सहाय दो प्रकार के लोग थे: वयसा समानाः सुहृदः सहायाश्च। इस मंडली में चार स्त्रियाँ भी थीं। बाण के मित्रों की यह सूची उस समय के एक सुसंस्कृत नागरिक की बहुमुखी रुचि और सांस्कृतिक साधनों का परिचय देती है। उसके कुछ मित्र का संबंध कविता और विद्या से था, कुछ का संगीत और नृत्य से, और कुछ मनोरंजन के सहायमात्र थे। साथ ही कुछ प्रतिष्ठित परिचारकों के रूप में थे। इस मित्रमंडली की सूची इस प्रकार है—

(अ) कवि और विद्वान्

१. भाषा-कवि ईशान, जो बाण का परम मित्र था। भाषा-कवि से तात्पर्य लोक-भाषा में गीतों के रचना करनेवाले से है। ज्ञात होता है कि बाण के समय में भाषा पद अपभ्रंश के लिए प्रयुक्त होता था। दंडी के अनुसार अहीर आदि जातियों में कविता के लिए अपभ्रंश भाषा का प्रचार था।[2] महाकवि पुष्पदन्त ने अपभ्रंश-महापुराण की भूमिका में ईशान कवि का उल्लेख किया है।[3]

२ वर्णकवि वेणीभारत। वर्णकवि शब्द का तात्पर्य स्पष्ट नहीं। शंकर के अनुसार गाथा-छन्द में गीत रचनेवाले कवि से तात्पर्य है। संभवतः, आल्हा-जैसी लोक-कविताएँ रचनेवाले से तात्पर्य हो।

---

१. वैपश्चितीमात्मवंशोचितां प्रकृतिमभजत् (४३)।

३. प्राकृत भाषा में रचना करनेवाले कुलपुत्र वायुविकार।

४-५. अनंगबाण और सूचीबाण नामक दो बंदीजन। बन्दियों का काम सुभाषितों का पाठ करना था। घोड़े पर सवार दधीच के आगे-आगे उसका बन्दी सुभाषित पढ़ता हुआ चल रहा था (२३)।

६-७. वारबाण और वासबाण नामक दो विद्वान्। संभवतः, दर्शन-शास्त्र आदि विषयों के ज्ञाता विद्वान् पद से अभिप्रेत हैं।

८. पुस्तकवाचक सुदृष्टि, जिसका कंठ बहुत मधुर था। हर्ष के यहाँ से लौटने पर बाण को इसने वायुपुराण की कथा सुनाई थी (८५)।

९. लेखक गोविन्दक।

१०. कथक जयसेन। पेशेवर कहानी सुनानेवालों का उस समय अस्तित्व इससे सूचित होता है।

(आ) कला

११. चित्रकृत् वीरवर्मा।

१२. स्वर्णकार (कलाद) चामीकर।

१३. हैरिक सिन्धुषेण। शंकर ने सुनारों के अध्यक्ष को हैरिक कहा है, किन्तु हमारी सम्मति में हैरिक से तात्पर्य हीरा काटनेवाले या बेगड़ी से है।

१४. पुस्तकृत् कुमारदत्त। उस समय पुस्तकर्म का अर्थ था मिट्टी के खिलौने बनाना, जैसा अन्यत्र बाण ने कहा भी है : **पुस्तकर्मणां पार्थिवविग्रहाः** (७८)।

(इ) संगीत और नृत्य

१५. मार्दंगिक जीमूत। मार्दंगिक—मृदंगिया या पखावजी। राजघाट से प्राप्त खिलौनों में मृदंगियों की कई मूर्त्तियाँ मिली हैं।

१६-१७. वांशिक या वंशी बजानेवाले मधुकर और पारावत।

१८. दार्दुरिक। दर्दुरनामक घटवाद्य बजानेवाला दामोदर।

१९-२०. गवैये सोमिल और ग्रहादित्य।

२१. गान्धर्वोपाध्याय दर्दुरक।

२२. लासक युवा (नर्त्तक) तांडविक।

२३. नर्त्तकी हरिणिका।

२४. शैलालि युवा (भरतनाट्य करनेवाला) शिखंडक[1]।

(ई) साधु-संन्यासी

२५. शैव वक्रघोण।

२७. पाराशरी सुमति। बाण ने कई स्थलों पर पाराशरी भिक्षुओं का उल्लेख किया है। पाराशर्य व्यास के विरचित भिक्षुसूत्र वा वेदान्त-दर्शन का अभ्यास करनेवाले भिक्षु पाराशरी कहलाते थे।

२८. मस्करी (परिव्राजक) ताम्रचूड।

२९. कात्यायनिका (बौद्धभिक्षुणी) चक्रवाकिका।

(उ) वैद्य और मंत्रसाधक

३०. भिषक्पुत्र मंदारक।

३१. जांगुलिक (विषवैद्य या गारुडी) मयूरक।

३२. मंत्रसाधक कराल।

३३. धतुवादविद् (रसायन या कीमिया बनानेवाला) विहंगम।

३४. असुरविवरव्यसनी लोहिताक्ष। असुरविवर-साधन का बाण ने कई बार उल्लेख किया है (१९९)। असुरविवर का ही दूसरा नाम पातालविवर था, जिसका उल्लेख पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह के विक्रमार्कप्रबन्ध में है। इस प्रकार की कहानियों का मुख्य अभिप्राय पाताल में घुसकर किसी यक्ष या राक्षस को सिद्ध करके धन प्राप्त करना था।

(ऊ) धूर्त

३५. आक्षिक (पाशा खेलनेवाला) आखंडल।

३६. कितव (धूर्त) भीमक।

३७. ऐन्द्रजालिक चकोराक्ष।

(ऋ) परिचारक

३८. ताम्बूलदायक चंडक।

३९. सैरन्ध्री (प्रसाधिका) कुरंगिका।

४०. संवाहिका केरलिका।

(ए) प्रणयी : (स्नेही आश्रित)

४१-४२. रुद्र और नारायण।

(ऐ) पारशव बन्धु-युगल

४३-४४. चन्द्रसेन और मातृषेण। पारशव, अर्थात् शूद्रा माता से उत्पन्न द्विजपुत्र। इनमें चन्द्रसेन बाण का अत्यन्त प्रिय और विश्वासपात्र था। कृष्ण के दूत मेखलक को ठहराने और उसके भोजनादि की व्यवस्था का भार बाण ने चन्द्रसेन को ही सौंपा था।

लम्बे समय के बाद बन्धु-बान्धवों के मध्य लौटने पर बाण की बहुत आवभगत हुई और वह अत्यन्त स्नेहपूर्वक चिरदृष्ट बान्धवों के यहाँ जाकर मिलता रहा : महतश्च कालात्तामेव भूय आत्मनो जन्मभुवं ब्राह्मणाधिवासमगमत् (४२); चिरदृष्टानां बान्धवानां प्रीयमाणो भ्रमन् भवनानि (४४)। इस प्रसंग में उस समय के ब्राह्मणों के घरों का एक अच्छा चित्र प्रस्तुत किया गया है। इसमें दो बातें मुख्य हैं। एक तो अनेक शिष्यों का समुदाय वहाँ पढ़ने आता था। ये ब्राह्मण-भवन उस काल में पाठशालाओं का काम (अनवरताध्ययनध्वनिमुखर, ४४) देते थे। दूसरे, यज्ञीय कर्मकांड का इस समय पुनः प्रचार बहुत बढ़ा हुआ ज्ञात होता है। कुमारिलभट्ट ने मीमांसाशास्त्र के पुनरुद्धार का जो आंदोलन किया था, उसकी पृष्ठभूमि बाण के इस वर्णन में झलकती है—उन घरों में सोमयज्ञों को देखने के लोभी बटु, जिनके मस्तक पर त्रिपुंड्र भस्म लगी हुई थी, इकट्ठा थे, उनके सामने सोम की हरी क्यारियाँ लगी हुई थीं, बिछे हुए कृष्णाजिन पर पुरोडाश बनाने के लिए साँवा सूख रहा था, कुमारी कन्याएँ अकृष्टपच्य नीवार की बलि से पूजा कर रही थीं, शिष्य कुश और पलाश की समिधाएँ इकट्ठा कर रहे थे, जलाने के लिए गोबर के कंडों का ढेर लगा था, होमार्थ दूध देनेवाली गउएँ आँगन में बैठी थीं, वैतान अग्नियों की वेदी में लगाये जानेवाले शंकुओं के लिए गूलर की शाखाएँ किनारे रखी थीं, विश्वदेवों, के पिंड स्थान स्थान पर रखे गये थे, हविर्धूम से आँगन के विटप धूमिल हो रहे थे, पशुबन्ध यज्ञों के लिए लाये गये छागशावक किलोल कर रहे थे (४४,४५)।

अध्ययन-अध्यापन के संबंध में शुक-सारिकाओं का वर्णन बाण ने कई जगह किया है। कादम्बरी की भूमिका में लिखा है कि पिंजड़ों में बैठी हुई शुक-सारिकाएँ अशुद्ध पढ़ने पर विद्यार्थियों को डपटती थीं। यहाँ कहा है कि शुक-सारिकाएँ स्वयं अध्ययन कराकर गुरुओं को विश्राम देती थीं (४५)। अवश्य ही यह एक साहित्यिक अभिप्राय बन गया था। शंकरदिग्विजय में मंडनमिश्र के घर की पहचान बताते हुए कहा गया है कि 'संसार अनित्य है', इस प्रकार के कोटि-वाक्य शुक-सारिकाएँ जहाँ कहती हों, वही मंडनमिश्र का घर है। स्वयं कादम्बरी की कथा 'सकल शास्त्रों के जाननेवाले' वैशम्पायन तोते से कहलाई गई है। बाण के लगभग समकालीन ही पश्चिमी भारत के विष्णुषेण (५९२ ई०) के शिलालेख में प्रचलित रिवाजों का वर्णन करते हुए लिखा है कि गाली-गलौज और मार-पीट के मामलों में मैना की गवाही अदालत में न मानी जायगी।[१] शुक-सारिकाओं के स्फुट वाक्य-उच्चारण करने और घरों में आम तौर से पाले जाने के साहित्यिक अभिप्राय का उल्लेख कालिदास ने भी किया है।[२]

---

१. वाक्पारुष्यदण्डपारुष्ययोः साक्षित्वे सारी न ग्राह्या। श्रीदिनेशचन्द्र सरकार,

इस प्रकार बाण के सुखपूर्वक घर में रहते हुए ग्रीष्म का समय आया। यहाँ बाण ने कठोर निदाघकाल का बहुत ही ज्वलन्त चित्र खींचा है (४६-५२)। संस्कृत-साहित्य में इसकी जोड़ का दूसरा ग्रीष्म-वर्णन नहीं मिलता। इससे बाण के सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण और वर्णन की अद्भुत शक्ति का परिचय मिलता है। 'फूली हुई चमेली (मल्लिका) के अट्टहास के साथ ग्रीष्म ने जँभाई ली। वसन्त-रूपी सामन्त को जीतकर नवोदित उष्णकाल ने पुष्पों के बन्धन खोले, जैसे राजा बन्दीगृह से बन्दियों को छोड़ते हैं। नये खिले हुए पाटल के पुष्पों से पीने का जल सुगन्धित किया गया। झिल्ली झंकारने लगीं। कपोत कूजने लगे। कूड़ा-करकट बटोरनेवाली हवाएँ चलने लगीं। धातकी के लाल-लाल गुच्छों को रुधिर के भ्रम से शेर के बच्चे चाटने लगे। मन्दार के सिंदूरिया फूलों से सीमाएँ लाल हो गईं। कुक्कुट आदि पक्षी उड़ते हुए तप्त रेत से व्याकुल हो गये। प्यासे भैंसे पानी की तलाश में स्फटिक की चट्टानों पर सींग मारने लगे। सेही बिल में घुसने लगी। किनारे के अर्जुन-वृक्षों पर बैठे क्रौंच पक्षी कर्कश शब्द कर रहे थे, जिससे डरकर सूखते तालाबों की मछलियाँ तड़फड़ा उठती थीं। पके किवाच के गुच्छों के साथ छेड़छाड़ करने की गुस्ताखी के कारण उठी हुई खाज की छटपटाहट से भुइयाँलोट हवा कँकरीली धरती में मानों अपनी देह रगड़ रही थी। मुचुकुन्द की कलियाँ खिल रही थीं। अधिक गरमी से मृगतृष्णाओं के झिल-मिलाते जल में मानों निदाघकाल तैर रहा था। धूल के बवंडर जगह बदलते हुए ऐसे लगते थे, मानों आरभटी नृत्य में नट नाच रहे हों। शमी के सूखे पत्ते मरुभूमि के मार्गों पर बिछे हुए थे, जिनपर मर्मर करती हवा दौड़ रही थी। सूखी करंज की फलियों के बीज बज रहे थे। सेमल के डोडों के फटने से रुई बिखर रही थी। जंगलों में सूखे बाँस चटक रहे थे। साँप केंचुलियाँ छोड़ रहे थे। चहे पक्षी अपने पंख गिरा रहे थे। गुंजाफल मानों किरणों की लुआठ से जलकर अंगारे उगल रहे थे। नीम के पेड़ों से फूलों के गुच्छे झर रहे थे। गरम चट्टानों से शिलाजीत का रस बह रहा था। वन में लगी हुई आग की गरमी से चिड़ियों के अंडे फूटकर पेड़ों के कोटरों में बिछ गये थे, जिनमें झुलसे हुए कीड़ों के मिलकर पकने से पुटपाक की उग्र गंध उठ रही थी।' इस वर्णन में भारतवर्ष की भयंकर गरमी और लुओं का चित्र बाण ने खींचा है। इसके आगे वन में लगी दावाग्नियों का भी वर्णन किया गया है।

सांस्कृतिक दृष्टि से इस प्रसंग में कई उल्लेखनीय बातें हैं : (१) उस काल में यह प्रथा जान पड़ती है कि सीमाओं पर लालरंग के चिह्न बनाकर हदबंदी प्रकट करते थे : सिन्दूरित सीमा। (२) प्रयाण के समय बजाये जानेवाले बाजे को गुंजा कहा गया है : प्रयाणगुञ्जा। शंकर ने इसे यहाँ ढक्का का एक भेद कहा है और अन्यत्र (२०४) शंख का भेद माना है। (३) नये राजा सिंहासन पर बैठने के बाद बन्धनमोक्ष,

उत्पन्न करने के लिए समस्त जलाशयों को बन्द कर देने की डौंड़ी फिरवा देते थे : सकल-सलिलोच्छोषघर्घोषणापटहैरिव त्रिभुवनविभीषिकामुद्भावयन्तः (४६)। (६) अभिचार के रूप में रुधिर की आहुतियाँ देने का भी उल्लेख है (५०)। इस प्रकार के बीभत्स रौद्र प्रयोग उस समय चल चुके थे। (७) निर्वाण की व्याख्या करते हुए उसे 'दग्धनिःशेष-जन्महेतु' विशेषण दिया गया है (५१), अर्थात् जिसमें जन्म या पुद्गल ग्रहण करने के समस्त कारण-परमाणु समाप्त हो जाते हैं। (८) 'सधूमोद्गारमन्दरुचि' पद में मंदाग्नि के लिए धूम्रपान करने का संकेत है। (६) क्षयरोग में शिलाजतु के निरन्तर प्रयोग का भी उल्लेख आया है, जिससे ज्ञात होता है कि सातवीं शती में शिलाजीत की जानकारी हो चुकी थी। (१०) रुद्र के भक्तों द्वारा गूगल जलाने का उल्लेख बाण ने कई बार किया है, यहाँतक कि माथे के ऊपर गूगल की बत्ती जलाकर भक्त अपना मांस और हड्डी तक जला डालते थे (१०३, १५५) : दग्धगुग्गुलवः शाक्ताः। (११) इसी प्रसंग में बाण ने दो बार आरभटी-नृत्य करनेवाले नटों का उल्लेख किया है। पहले उल्लेख से ज्ञात होता है कि आरभटी शैली से नाचनेवाले नट मंडलाकाररूप में रेचक, अर्थात् कमर, हाथ, ग्रीवा को मटकाते हुए रास-नृत्य करते थे : रेणावावर्तमण्डलीरेचकरासरसरभसारब्धनर्तनारम्भारभटीनटाः (४८)। यहाँ इस नृत्य की पाँच विशेषताएँ कही गई हैं—१. मंडलीनृत्त, २. रेचक, ३. रासरस, ४. रभसारब्धनर्त्तन और ५. चट्टुलशिखानर्त्तन।

१. मंडलीनृत्त—शंकर ने मंडलीनृत्त को हलीमक कहा है, जिसमें एक पुरुष नेता के रूप में स्त्री-मंडल के बीच में नाचता है।[1] इसे ही भोज के सरस्वतीकंठाभरण में हल्लीसक नृत्य कहा गया है [चित्र १७]। हल्लीसक शब्द का उद्गम यूनानी 'इलीशियन' नृत्यों (इलीशियन मिस्ट्री डांस) से ईसवी-सन् के आसपास हुआ जान पड़ता है। कृष्ण के रासनृत्य और हल्लीसक-नृत्य इन दोनों की परंपराएँ किसी समय एक दूसरे से सम्बद्ध हो गई।

२. रेचक—शंकर के अनुसार यह तीन प्रकार का था : कटिरेचक, हस्तरेचक और ग्रीवरेचक, अर्थात् कमर, हाथ और ग्रीवा इन तीनों को नृत्य करते हुए विशेष प्रकार से चलाना—यही इसकी विशेषता थी।

३. रास—आठ, सोलह या बत्तीस व्यक्ति मंडल बनाकर जब नृत्य करें, तब वह रासनृत्य कहलाता है।[2]

---

१. मण्डलीनृत्तं हलीमकम् (शंकर)। शंकर ने इसपर जो प्रमाण दिया है, वह सरस्वतीकंठाभरण का हल्लीसकवाला श्लोक ही है—
मण्डलेन तु यन्नृत्तं हलीमकमिति स्मृतम्।
एकस्तत्र तु नेता स्याद् गोपस्त्रीणां तथा हरिः॥

४. रभसारब्ध नर्त्तन—अत्यन्त वेग के साथ नृत्य में हाथ-पैर का संचालन, जिसमें उद्दाम भाव और चेष्टा परिलक्षित हो।

इस प्रकार, इन चारों के एकत्र समवाय से नृत्त की जो शैली बनती है, उसका नाम आरभटी था, अर्थात् हाथ-कमर-ग्रीवा को विभिन्न भाव-भंगियों में उद्दाम वेग से चलाते हुए गोल चक्कर में सम्पन्न होनेवाला नृत्त आरभटी कहलाता था। उछल-कूद, मार-काट, डाट-फटकार, उखाड़-पछाड़, आग लगाने आदि का उपद्रव, माया या इन्द्रजाल आदि के दृश्य जिस झुंड में नृत्य के द्वारा प्रदर्शित किये जायँ, उसे आरभटी कहा गया है।[1] यूनान के इलीशियम स्थान में होनेवाले नृत्यों में भी अंधकार, विपत्ति, मृत्युसूचक अनेक भयस्थान आदि उद्दाम और प्रचंड भाव तालबद्ध अंग-संचालन से प्रदर्शित किये जाते थे। और, अंत में जब ये अंगविक्षेप, जिन्हें अपने यहाँ रेचक कहा गया है, भाव की पराकाष्ठा पर पहुँचते तथा नाश और विपत्ति की सीमा हो जाती, तब अकस्मात् एक दिव्य ज्योति का आविर्भाव उन नृत्यों में होता था।[2] इस प्रकार हल्लीसक और रास इन दोनों के संकर से आरभटी-नृत्य-शैली की उत्पत्ति ज्ञात होती है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी ये नृत्य की चार वृत्तियाँ या शैलियाँ थीं। इन नामों का आधार भौगोलिक ज्ञात होता है। भारती भरत जनपद या कुरुक्षेत्र की, सात्वती गुजरात और काठियावाड़ के सात्वतों (यादवों) की, कैशिकी विदर्भ देश या बरार की, जो क्रथकैशिक कहलाता था। इससे ज्ञात होता है कि आरभटी का सम्बन्ध भी देशविशेष से था। आरभट की निश्चित पहचान अभी तक नहीं हुई। किन्तु, यूनानी भूगोल-लेखकों ने सिन्धु के पश्चिम में बलोचिस्तान के दक्षिणी भाग में 'आरबिटाई' (Arabitae) या 'आर्बिटी' (Arbiti) नामक जाति का उल्लेख किया है, जो कि सोनमियानी के पश्चिम में थी। उनके देश में अर्बियस (Arabius) नदी बहती थी। अरियन और स्त्राबो दोनों इस प्रदेश को भारतवर्ष का अन्तिम भाग कहते हैं। लौटते हुए सिकन्दर की यूनानी सेना इस प्रदेश में से गुजरी थी। हमारा विचार है कि यही प्राचीन आरभट देश था, जहाँ की नृत्तपद्धति, जिसमें भारतीय रास और यूनानी हल्लीसक का मेल हुआ, आरभटी कहलाई। बाण ने यह भी लिखा है कि आरभटी-शैली से नाचते हुए नट खुले बालों को इधर-उधर फटकारते हुए नृत्त का आरम्भ करते थे : चटुलशिखानर्तनारम्भारभटीनटाः (५१)। इस प्रकार बाल

---

१. प्लुष्टावपातप्लुतगर्जितानि च्छेद्यानि मायाकृतमिन्द्रजालम्।
चित्राणि यूथानि च यत्र नित्यं तां तादृशीमारभटीं वदन्ति॥

—भरतकृत नाट्यशास्त्र, ३०-३६ और शंकर।

२. The ceremony of Elysian mystery was doubtless dramatic. There were hymns and chants, speeches and exhortations, recitals of

दोपहर के बाद पारशवभ्राता चन्द्रसेन ने चतुःसमुद्राधिपति, सब चक्रवर्त्तियों में धुरन्धर, महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीहर्षदेव के भाई कृष्ण का सन्देश लेकर दूत के आने का समाचार दिया। बाण ने तुरन्त उसे अन्दर लाने के लिए कहा। इस दूत का नाम मेखलक था। उसे लेखहारक और दीर्घाध्वग भी कहा गया है। मटियाले रंग की पेटी से उसका ऊँचा चंडातक (लँहगेनुमा अर्धावस्त्र) कसा हुआ था : कार्दमिकचेलचीरिकानियमितोच्चचण्ड-चण्डातक, (५२) [चित्र १८] कपड़े के फीते की बँधी हुई गाँठ, जिसके दोनों छोर उसकी पीठपर फहरा रहे थे, कुछ ढीली हो गई थी : पृष्ठप्रेङ्खपटच्चरकर्पटघटितगलितग्रन्थि। इस प्रकार सिर से बँधा हुआ और पीठ पर फहराता हुआ चीरा सासानी वेषभूषा की विशेषता थी। गुप्तकाल की भारतीय वेषभूषा में भी वह आ गया था और कला में उसका अंकन प्रायः मिलता है [चित्र १६]। लेखमालिका या चिट्ठी डोरे से बीचोंबीच लपेटकर बाँधी गई थी, जिससे वह दो भागों में बँटी हुई जान पड़ती थी। वह चिट्ठी लेखहारक के सिर से बँधी हुई थी।

बाण ने उसे देखकर दूर से ही पूछा, 'सबके निष्कारण बन्धु कृष्ण तो कुशल से हैं?' 'हाँ, कुशल से हैं'—यह कहकर प्रणाम करने के बाद मेखलक समीप ही बैठ गया और सिर से लेख खोलकर बाण को दिया। बाण ने सादर लेकर स्वयं पढ़ा। उसमें लिखा था—'मेखलक से सन्देश समझकर काम को बिगाड़नेवाली देरी मत करना। आप बुद्धिमान् हैं, पत्र में इतना ही लिखा जाता है, शेष मौखिक सन्देश से ज्ञात होगा।' लेख का तात्पर्य समझकर बाण ने परिजनों को हटा दिया और सन्देश पूछा। मेखलक ने कृष्ण की ओर से कहा—'मैं तुमसे विना कारण ही अपने बन्धु की तरह प्रेम करता हूँ। तुम्हारी अनुपस्थिति में दुर्जन लोगों ने सम्राट् को तुम्हारे विषय में कुछ और सिखा दिया है, पर वह सत्य नहीं। सज्जनों में भी ऐसा कोई नहीं, जिसके मित्र, उदासीन और शत्रु न हों। किसी ईर्ष्यालु व्यक्ति ने तुम्हारी बाल-चपलताओं से चिढ़कर कुछ उल्टा-पुल्टा कह दिया। अन्य लोगों ने भी वैसा ही ठीक समझा और कहने लगे। मूढबुद्धियों का चित्त अस्थिर और दूसरों के कहने पर चलता है। ऐसे बहुत-से मूर्खों से एक सी बात सुनकर सम्राट् ने अपना मत स्थिर कर लिया। और वे कर भी क्या सकते थे? किन्तु, मैं सत्य की टोह में रहता हूँ, तुम्हारे दूर होने पर भी तुम्हें प्रत्यक्ष की तरह जानता हूँ। तुम्हारे विषय में मैंने सम्राट् से निवेदन किया कि सबकी आयु का प्रथम भाग ऐसी चपलताओं से युक्त होता है। सम्राट् ने मेरी बात मान ली। इसलिए, अब विना समय गँवाये आप राजकुल में आवें। सम्राट् से विना मिले आपका बन्धुओं के बीच में निवास करते रहना निष्फल वृक्ष की तरह मुझे अच्छा नहीं लगता। आपको सम्राट् के पास आने में डरना न चाहिए और सेवा में झंझट सोचकर उदासीन न होना चाहिए।' इसके बाद कृष्ण ने हर्ष के कुछ अनन्यसामान्य गुण

बजाना और भी टेढ़ा है। राजदरबार में बड़े खतरे हैं। मेरे पुरखों की उस तरफ कभी रुचि नहीं हुई और न मेरा दरबार से पुश्तैनी सम्बन्ध रहा है। न पहले राजकुल के द्वारा किये हुए उपकार का स्मरण मुझे आता है; न बचपन में राजकुल से ऐसी मदद मिली, जिसका स्नेह मानकर चला जाय; न अपने कुल का ही ऐसा गौरव-मान रहा है कि हाजिरी जरूरी हो; न पहली मेल मुलाकात की ही अनुकूलता है; न यह प्रलोभन है कि बुद्धि-संबंधी विषयों में वहाँ से कुछ आदान-प्रदान किया जाये; न यह चाह है कि जान-पहचान बढ़ाऊँ; न सुन्दर रूप से मिलनेवाले आदर की इच्छा है; न सेवकों-जैसी चापलूसी मुझे आती है; न मुझमें वैसी विलक्षण चतुराई है कि विद्वानों की गोष्ठियों में भाग लूँ; न पैसा खर्च करके दूसरों को मुट्ठी में करने की आदत है; न दरबार जिन्हें चाहते हों, उनके साथ ही साठ-गाँठ है। पर चलना भी अवश्य चाहिए। त्रिभुवनगुरु भगवान् शंकर वहाँ जाने पर सब भला करेंगे।' यह सोचकर जाने का इरादा पक्का कर लिया।

दूसरे दिन सवेरे ही स्नान करके चलने की तैयारी की। श्वेत दुकूल वस्त्र पहनकर हाथ में माला ली और प्रास्थानिक सूत्र और मंत्रों का पाठ किया। शिव को दूध से स्नान कराकर पुष्प, धूप, गन्ध, ध्वज, भोग, विलेपन, प्रदीप आदि से पूजा की और परम भक्ति से अग्नि में आहुति दी। ब्राह्मणों को दक्षिणा बाँटी; प्राङ्मुखी नैचिकी[1] गऊ की प्रदक्षिणा की; श्वेत चन्दन, श्वेत माला और श्वेत वस्त्र धारण किये; गोरोचना लगाकर दूबनाल में गुँथे हुए श्वेत अपराजिता[2] के फूलों का कर्णपूर कान में लगाया; शिखा में पीली सरसों रखी और यात्रा के लिए तैयार हुआ। बाण के पिता की छोटी बहन उसकी बुआ मालती ने प्रस्थान-समय के लिए उचित मंगलाचार करके आशीर्वाद दिया; सगी बड़ी-बूढ़ियों ने उत्साह-वचन कहे; अभिवादित गुरुजनों ने मस्तक सूँघा। फिर, ज्योतिषी के कथनानुसार नक्षत्र देवताओं को प्रसन्न किया। इस प्रकार, शुभ मुहूर्त्त में हरित गोबर से लिपे हुए आँगन के चौतरे पर स्थापित पूर्ण कलश के दर्शन करके, कुलदेवताओं को प्रणाम करके, दाहिना पैर उठाकर बाण प्रीतिकूट से निकला। अप्रतिरथसूक्त के मंत्रों का पाठ करते हुए और हाथ में पुष्प और फूल लिये हुए ब्राह्मण उसके पीछे-पीछे चले (५६-५७)। ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि पूजा-पाठ और मंगल-मनौती के विषय में उस समय जनता की मनःस्थिति कैसी थी। पूर्ण कलश के विषय में इतना और कहा है कि उसके गले में सफेद फूलों की माला बँधी थी। उसके पिटार पर चावल के आटे का पंचांगुल थापा लगा हुआ था और मुँह पर आम्रपल्लव रखे हुए थे (५७)।

---

१. नैचिकी—सदा दूध देनेवाली, बरस-बरस पर ब्यानेवाली गऊ, जिसके थनों के नीचे बछड़ा सदा चूँखता रहे। अथर्ववेद में इसे नित्यवत्सा कहा है। उसका ही प्राकृत

पहले दिन चंडिकावन पार करके मल्लकूट नामक गाँव में पड़ाव किया। चंडिकावन में देवी के स्थान के पास वृक्षों पर कात्यायनी की मूर्त्तियाँ खुदी हुई थीं, जिन्हें आते-जाते पथिक नमस्कार करते थे। चंडिकावन की पहचान अब भी शाहाबाद जिले में सोन और गंगा के बीच में मिलनी चाहिए। मल्लकूट गाँव में बाण के परमप्रिय मित्र जगत्पति ने उसकी आवभगत की। दूसरे दिन गंगा पार करके यष्टिग्रहक नाम के बनगाँव में रात बिताई। फिर राप्ती (अचिरावती) के किनारे मणितारा नामक गाँव के पास हर्ष के स्कन्धावार या छावनी में पहुँचा। वहाँ राजभवन के पास ही ठहराया गया।

मेखलक के साथ स्नान-भोजन आदि से निवृत्त हो कुछ आराम करके जब एक पहर दिन रहा और हर्ष भी भोजन आदि से निवृत्त हो चुके थे, तब बाण उनसे मिलने के लिए चला। जैसे ही वह राजद्वार पर पहुँचा, द्वारपाल लोगों ने मेखलक को दूर से ही पहचान लिया। मेखलक बाण से यह कहकर कि आप क्षण-भर यहाँ ठहरें, स्वयं बिना रोक-टोक के भीतर गया। लगभग एक मुहूर्त्त (४८ मिनट) में मेखलक महाप्रतीहारों के प्रधान, दौवारिक पारियात्र के साथ वापस आया और पारियात्र का बाण से परिचय कराया। दौवारिक ने बाण को प्रणाम करके विनयपूर्वक कहा—'आइए, भीतर पधारिए। सम्राट् मिलने के लिए प्रस्तुत हैं': दर्शनाय कृतप्रसादो देवः। बाण ने कहा —'मैं धन्य हूँ, जो मुझपर देव की इतनी कृपा है।' और, यह कहकर पारियात्र के बताये हुए मार्ग से अन्दर गया। यहाँ प्रसाद शब्द पारिभाषिक है। इसका अर्थ था सम्राट् की निजी इच्छा या प्रसन्नता के अनुसार प्राप्त होने-वाला सम्मान। कालिदास ने लिखा है कि जिन लोगों को सम्राट् का प्रसाद प्राप्त होता था, वे ही उनके चरणों के समीप तक पहुँच सकते थे : सम्राजश्चरणयुगं प्रसादलभ्यं (४,८८)। बाकी लोगों को दरबार में दूर से ही दर्शन करने पड़ते थे। बाण ने हर्ष को दुरुपसर्प कहा है। सम्राट् के चारों ओर अवकाश का एक घेरा-जैसा रहता था, जिसके भीतर कोई नहीं आ सकता था : समुत्सारणाबद्धपर्यन्तमण्डल, (७१)। यह पर्यन्त-मंडल लोगों को दूर रखने या हटाने से (समुत्सारण) बनता था। दौवारिक पारियात्र को सिर पर फूलों की माला पहनने का अधिकार सम्राट् के विशेष प्रसाद से प्राप्त हुआ था : प्रसादलब्धया विकचपुण्डरीकमुण्डमालिकया, (६१)। वह माला सम्राट् के प्रसाद की पहचान थी।

राजभवन में भीतर जाते हुए पहले मन्दुरा या राजकीय अश्वशाला दिखाई पड़ी। फिर, सड़क के बाईं ओर कुछ हटकर गजशाला या हाथियों का लम्बा-चौड़ा बाड़ा (इभधिष्ण्यागार) मिला। वहाँ सम्राट् के मुख्य हाथी दर्पशात को पहले देखकर और फिर तीन चौक पार करके (समतिक्रम्य त्रीणि कक्ष्यान्तराणि, ६९) बाण ने भुक्तास्थानमंडप के सामनेवाले आँगन में हर्ष के दर्शन किये।

इस प्रसंग में बाण ने स्कन्धावार के अन्तर्गत राजभवन, दौवारिक, मन्दुरा, गजशाला

बाण भी मेखलक के साथ ड्योढ़ी तक आया और वहाँ से आगे महाप्रतीहार की सहायता से प्रविष्ट हुआ। बाहरी सन्निवेश में ये पड़ाव अलग-अलग थे—

१. राजाओं के शिविर।
२. हाथियों की सेना।
३. घोड़े।
४. ऊँट।
५. शत्रुमहासामन्त, जो जीते जा चुके थे और सम्राट् के दर्शन और अपने भाग्य के फैसले के लिए लाये गये थे।
६. हर्ष के प्रताप से दबकर या अनुराग से स्वयं अनुगत बने हुए नाना देशों के राजा लोग : प्रतापानुरागागतमहीपाल।
७. भिक्षु, संन्यासी, दार्शनिक लोग।
८. सर्वसाधारण जनता : सर्वदेशजन्मभिः जनपदैः।
९. समुद्र-पार के देशों के निवासी म्लेच्छ जाति के लोग, जिनमें संभवतः शक, यवन, पह्लव, पारसीक, हूण एवं द्वीपान्तर, अर्थात् पूर्वी द्वीपसमूह के लोग भी थे : सर्वाम्भोधिवेलावनवलयवासिभिश्च म्लेच्छजातिभिः (६०)।
१०. सब देशान्तरों से आये हुए दूतमंडल : सर्वदेशान्तरागतैः दूतमण्डलैः उपास्यमानः (६०)।

स्कन्धावार के इस सन्निवेश का स्पष्टीकरण अन्त के परिशिष्ट में एवं चित्र द्वारा किया गया है।

राजद्वार या ड्योढ़ी के अन्दर राजवल्लभ तुरंगों की मन्दुरा, अर्थात् खास घोड़ों की घुड़साल थी। वहीं राजा के अपने वारणेन्द्र या खास हाथी का बाड़ा था। उनके बाद तीन चौक (त्रीणि कक्ष्यान्तराणि) थे। इन्हीं में से दूसरी कक्ष्या में बाहरी कचहरी या बाह्य आस्थानमंडप था। इसे ही बाह्य भी कहा जाता था (६०)। राजकुल के तीसरे चौक में धवलगृह या राजा के अपने रहने का स्थान था। उससे सटा हुआ चौथे चौक में भुक्तास्थान-मंडप था (६०, ६६), जहाँ भोजन के बाद सम्राट् खास आदमियों से मिलते-जुलते थे। मध्यकालीन परिभाषा के अनुसार बाह्य कक्षा या बाह्य आस्थानमंडप दीवाने आम और भुक्तास्थानमंडप दीवाने खास कहलाता था।

हाथियों का वर्णन करते हुए बाण ने कई रोचक सूचनाएँ दी हैं। एक तो यह कि हर्ष की सेना में अनेक अयुत हाथियों की संख्या थी : अनेकनागायुतबलम् (७६)। एक अयुत दस हजार के बराबर होता है। इस प्रकार तीस हजार से ऊपर हाथी अवश्य हर्ष की

द्वारा निर्दिष्ट महती सेना को देखते हुए सत्य है। सेना में इतने अधिक हाथियों की संख्या प्रकट करती है कि हर्ष का अपने गजबल पर सबसे अधिक ध्यान था। बाण ने भी इस बात को दूसरे ढंग से सूचित किया है (दानवत्सु कर्मसु साधनश्रद्धा, न करिकोटिषु), जिसका व्यंगार्थ यही निकलता है कि हर्ष की साधनश्रद्धा या सेना-विषयक आस्था हाथियों पर विशेष थी (५४)। जब हाथियों की इतनी विशाल सेना का निर्माण किया गया, तब उन्हें पकड़ने और प्राप्त करने के सब संभव उपायों पर ध्यान देना आवश्यक था। इसपर भी बाण ने प्रकाश डाला है। हाथियों की भरती के स्रोत ये थे—

१. नये पकड़कर लाये हुए (अभिनव बद्ध)।
२. कररूप में प्राप्त (विक्षेपोपार्जित, विक्षेप=कर)।
३. भेंट में प्राप्त (कौशलिकागत)
४. नागवीथी या नागवन के अधिपतियों द्वारा भेजे गये (नागवीथीपालप्रेषित)।
५. पहली बार की भेंट के लिए आनेवाले लोगों द्वारा दिये गये (प्रथमदर्शन-कुतूहलोपनीत)। जान पड़ता है कि सम्राट् से पहली मुलाकात करनेवाले राजा, सामन्त आदि के लिए हाथी भेंट में लाना आवश्यक कर दिया गया था।
६. दूतमंडलों के साथ भेजे हुए।
७. शबर-बस्तियों के सरदारों द्वारा भेजे हुए (पल्लीपरिवृढढौकित)।
८. गजयुद्ध की क्रीडाओं और खेल-तमाशों के लिए बुलवाये गये या स्वेच्छा से दिये गये।
९. बलपूर्वक छीने गये (आच्छिद्यमान)।

हाथियों की इतनी भारी सेना बनाने के ऐतिहासिक कारण कुछ इस प्रकार जान पड़ते हैं। गुप्तकाल में सेना का संगठन मुख्यतः घुड़सवारों पर आश्रित था, जैसा कालिदास के वर्णनों में भी आया है। गुप्तों ने यह पाठ संभवतः पूर्ववर्ती शकों से ग्रहण किया होगा। शकों का अश्वप्रेम संसार-प्रसिद्ध था। गुप्तकाल में अश्वबल की वृद्धि पराकाष्ठा को पहुँच गई थी ; उसकी प्रतिक्रिया होना आवश्यक था। घुड़सवार-सेना की मार को सामने से तोड़ने के लिए हाथियों का प्रयोग सफल ज्ञात हुआ। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि गुप्त साम्राज्य के बिखरने पर देश में सामन्त, महासामन्त और मांडलिक राजाओं की संख्या बहुत बढ़ गई और प्रत्येक ने अपने-अपने लिए दुर्गों का निर्माण किया। दुर्गों के तोड़ने में घोड़े उतने कारगर नहीं हो सकते, जितने हाथी। वस्तुतः, कोट्टपाल संस्था का आविर्भाव लगभग इसी समय हुआ। हाथियों के इस द्विविध प्रयोग का संकेत स्वयं बाण ने भी किया है। उसने हाथियों को फौलादी दीवार कहा है, जो दुश्मन की फौज से होनेवाली बाणवृष्टि को झेल सकती थी : अनेकबाणविवरसहस्रं लोहप्राकारम् (६८)।

बाण ने इस प्रकार के बुर्जों को कूटाट्टालक कहा है : उच्चकूटाट्टालकविकटं सञ्चारिगोपुर-दुर्गम्। गुप्तकालीन युद्धनीति में भी हाथियों का प्रयोग लगभग इसी प्रकार से होता था और भारतीय हाथी ईरान तक ले जाये जाते थे।[1] संचारी अट्टालकों से कमन्द फेंककर हमला करनेवाले शत्रुओं के बुर्जों या सिपाहियों को खींचकर गिरा लेना सासानी युद्धकला की विशेषता थी। ज्ञात होता है कि भारतवर्ष में भी इस कला का या तो स्वतंत्र विकास हुआ या अन्य बातों की तरह सासानी ईरान के संपर्क से यहाँ ली गई। सेना के हाथियों का इन्हीं कामों के लिए प्रयोग किया जाता था, इसके लिए हस्तपाशाकृष्टि और वागुरा द्वारा अराति-संवेष्टन पदों का प्रयोग किया है। 'हस्तपाशाकृष्टि' से शत्रु के चलते-फिरते कूटयंत्र फँसाये जाते थे और वागुरा से घोड़े या हाथी पर सवार सैनिकों को खींच लिया जाता था (६८); [चित्र २०]। बाण ने गजबल को शत्रु की सेना मथने का (वाहिनीक्षोभ) और अकस्मात् छापा मारने या हमला करने (अवस्कन्द, ६८) का साधन कहा है। हाथियों की शिक्षा की अनेक युक्तियों में मंडलाकार घूमना (मंडलभ्रांति) और टेढ़ी चाल (वक्रचार, ६८) मुख्य थीं। सेना में पहरे के लिए भी हाथी काम में लाये जाते थे (यामस्थापित, ५८)। कुमकी हाथियों की मदद से नये हाथियों को पकड़ा जाता था (नागाकृष्टि, ६७)। राजकीय जुलूस में भी हाथियों का उपयोग होता था। सबके आगे कोतल घोड़ों की तरह सजे हुए बिना सवारी के हाथी चलते थे। उनके मस्तक पर पट्टबन्ध रहता था : पट्टबन्धार्थ-मुपस्थापित (५८)। कुछ हाथियों पर धौंसे रखकर ले जाये जाते थे (डिण्डिमाधि-रोहण, ५८), जिस प्रकार मध्यकालीन ऊँटों पर धौंसे रखकर उन्हें जुलूस में निकालते थे। ध्वज, चँवर शङ्ख, घंटा, अंगराग, नक्षत्रमाला[2] आदि (५८) से हाथियों की सजावट (शृंगाराभरण) की जाती थी। दोनों कानों के पास लटकते शङ्खों के आभूषण (करिकर्ण-शङ्ख या अवतंसशङ्ख, ६९) का कई बार उल्लेख हुआ है (३७, ५६)। हाथियों के दाँतों पर सोने के चूड़े मढ़े जाते थे।[3]

---

१. The reserve of the Sassanian army was formed of elephants from India, which inspired the Romans with a certain amount of terror. They carried great wooden towers full of soldiers. (Clement Huart, *Ancient Persia and Iranian Civilization*, 1957, p. 151) The Sassanians knew the use of the ram, the ballista, and movable towers for attacking strongholds. (वही)।

इन्हीं चलते-फिरते बुर्जों के लिए बाण ने 'सञ्चारिअट्टालक' शब्द दिया है। देखिए (ग्रीक ऐण्ड रोमन लाइफ, पृ० ५८२)। अमरकोश में 'उन्माथ कूटयन्त्र' शब्द आया है, जो 'बैटरिंग रैम' का संस्कृत नाम जान पड़ता है।

२. नक्षत्रमाला=हाथी के मस्तक के चारों ओर मोतियों की माला ; संभवतः इसमें सत्ताईस मोती होते थे।

३. [illegible]

बीच की चतुर्थी दशा में हाथियों की त्वचा पर लाल बुंदकियाँ-जैसी फूटती हैं।[१] मद्रजाति के हाथी सर्वोत्तम समझे जाते थे (बलभद्र, ६७) अच्छे हाथी के शरीर के नाखून चिकने, रोंये कड़े, मुँह भारी, सिर कोमल, ग्रीवामूल छोटा, उदर पतला होना चाहिए। जब उसे सिखाया या निकाला जाय, तो उसे सच्छिष्य की तरह सीखना चाहिए और सीखी हुई बात पर जमना चाहिए : सच्छिष्यं विनये दृढं परिचये (६७)। हाथी को पानी पिलाते समय मुख पर कपड़े का पर्दा डालते थे। इसका उल्लेख बाण और कालिदास दोनों ने किया है : दुकूलमुखपट्ट (६६)।[२]

हर्ष के अपने हाथी (देवस्य औपवाह्यः, ६४) दर्पशात के लिए राजद्वार या ड्योढ़ी के अन्दर महान् अवस्थानमंडप बना हुआ था। ऊपर लिखी हुई अधिकांश विशेषताएँ उसमें भी थीं। उसके मस्तक पर पट्टबंध बँधा था (६६)। ज्ञात होता है, हाथियों के समरविजय की, अर्थात् कौन-सा हाथी कितनी बार संग्राम में चढ़ा है, इसकी गणना रखी जाती थी : अनेकसमरविजयगणनालेखाभिः वलिवलयराजिभिः (६५)। दर्पशात के वर्णन-प्रसंग में बाण ने राजकीय दानपट्टकों के बारे में कुछ रोचक बातें कही हैं। दानपट्टों पर अक्षर खोदे जाते थे (कण्डूयनलिखित)। उनपर सम्राट् के हस्ताक्षर सजावट के साथ बनाये जाते थे (विभ्रमकृतहस्तस्थिति)[३] [चित्र २१], और अन्त में वे दान लेनेवालों को पढ़कर सुनाये जाते थे : अलिकुलवाचालितैः (६६)।

हाथियों के अलावा घोड़े भी स्कन्धावार का विशेष अंग थे। बाँसखेड़ा के ताम्रपट्ट में 'हस्त्यश्वविजयस्कन्धावार' पद आया है। स्कन्धावार में राजकुल से बाहर साधारण घोड़ों का पड़ाव था, लेकिन हर्ष के अपने घोड़ों की मन्दुरा राजद्वार के भीतर थी, जिसका विशेष चित्र बाण ने खींचा है। ये खासा घोड़े भूपालवल्लभतुरग, राजवल्लभ या केवल-वल्लभ कहलाते थे। हर्ष की मन्दुरा में राजवल्लभतुरंग अनेक देशों से लाये गये थे। वे वनायु[४] (वानाघाटी, वजीरिस्तान), आरट्ट (वाहीक या पंजाब), कम्बोज (मध्य एशिया में वंक्षु नदी का पामीर-प्रदेश)[५], भारद्वाज (उत्तरी गढ़वाल, जहाँ के टाँघन घोड़े प्रसिद्ध हैं),

---

१. पिङ्गलपद्मजाल, ६५; तुलना कीजिए 'कुञ्जरबिन्दुशोणः (कुमारसम्भव, १७)।

२. कुर्वन् कामं क्षणमुखपटप्रीतिमैरावतस्य।—मेघदूत, १।६२।

अर्थात्, हे मेघ, तुम जल पीते समय ऐरावत के मुखपट की भाँति फैल जाना।

३. हस्तस्थितिः=स्वहस्तेन अक्षरकरणं,—अपने हाथ के दस्तखत, शंकर। हर्ष के बाँसखेड़ा ताम्रपट्ट पर सबसे अन्त की पंक्ति में 'स्वहस्तो मम महाराजाधिराजश्रीहर्षस्य' खुदा हुआ है। उसके अक्षरों की आकृति विभ्रम या शोभन ढंग से कलम के पुछल्ले फैलाकर बनाई गई हैं।

४. देखिए, रघुवंश, ५।७३; वनायुदेश्याः वाहाः।

५. कालिदास ने [illegible]

(लालकुम्मैत), श्याम (मुश्की), श्वेत (सब्जा), पिंजर (समन्द)[2], हरित (नीलासब्जा)[3], तित्तिर कल्माष (तीतरपंखी)[4] इन घोड़ों का उल्लेख किया गया है।[5] महाभारत, द्रोणपर्व, अध्याय २२ में ऋश्यवर्ण, रजताश्व, शुकपत्र परिच्छद, मेघसंकाश, हेमोत्तम, पाटलपुष्प, हारिद्रसमवर्ण, इन्द्रगोपकवर्ण आदि एकसठ रंगों के अश्वों का परिगणन किया गया है और वह सामग्री गुप्तयुग की जान पड़ती है।

शुभलक्षणोंवाले घोड़ों में पंचभद्र (पंचकल्याण)[6], मल्लिकाक्ष (शुक्ल अपांगवाला) और कृत्तिकापिंजर[7] का उल्लेख है। अच्छे घोड़ों की बनावट के विषय में बाण ने लिखा है—'मुँह लम्बा और पतला, कान छोटे, घाँटी (सिर और गर्दन का जोड़) गोल, चिकनी और सुडौल, गर्दन ऊपर उठी हुई और यूप के अग्रभाग की तरह लम्बी और टेढ़ी, कन्धों के जोड़ मांस से फूले हुए, छाती निकली हुई, टाँगें पतली और सीधी, खुर लोहे की तरह कड़े, पेट गोल, पुट्ठे चौड़े और मांसल होने से उठे हुए, पूँछ के बाल पृथ्वी को छूते हुए होते थे' (६२-६३)।

घोड़ों को बाँधने के लिए अगाड़ी और पिछाड़ी दो रस्सियाँ होती थीं। बहुत तेज-मिजाज घोड़ों की गर्दन में आगे दो रस्सियाँ दो तरफ खींचकर दो खूँटों में बाँधी जाती थीं। पिछाड़ी (पश्चात्पाशबंध) के तानने से एक पैर अधिक खिंचा हुआ हो गया था, जिससे लम्बे घोड़े और लम्बे जान पड़ते थे। गर्दन में बहुत-सी डोरियों से ग्रंथित गंडे बँधे थे। इस प्रकार के गंडे लगभग इसी काल की सूर्यमूर्त्तियों के घोड़ों में पाये जाते हैं (चित्र २२)। खुरों

---

१. देखिए रघुवंश, ४।६०, ६२; पाश्चात्यैरश्वसाधनैः।
२. पिंजर=ईषत्कपिल (शंकर); अँगरेजी बे (Bay)।
३. हरित=शुकनिभ (शंकर), अँगरेजी चेस्टनट (Chestnut)।
४. अं० (Dappled)। संस्कृत रंगों के आधुनिक पर्यायों के लिए मैं श्रीरायकृष्णदासजी का अनुगृहीत हूँ।
५. बाण से लगभग सौ वर्ष पीछे घोड़ों का व्यापार अरब सौदागरों के हाथ चला गया। संस्कृत नामों की जगह रंगों के फारसी-मिश्रित अरबी नाम, जैसे वोल्लाह, सेराह, कोकाह, खोंगाह आदि भारतीय बाजारों में चल पड़े। हरिभद्रसूरि (७००-७७ ई०)-कृत 'समराइच्चकहा' में वोल्लाह किशोरक पद में सबसे पहले वोल्लाह इस अरबी नाम का उल्लेख मिलता है। पीछे संस्कृत नामों का चलन बिलकुल मिट गया। हेमचन्द्र ने अभिधानचिन्तामणि में घोड़ों के करीब बीस अरबी नामों को संस्कृत शब्द मानकर उनकी व्युत्पत्ति दी है (४।३०३-३०६)। केवल नकुल की अश्वचिकित्सा में पुराने संस्कृत के नाम चालू रहे।
६. हृदय, पृष्ठ, मुख और दोनों पार्श्वों में पुष्पित या भौंरोवाला (अभिधानचिन्तामणि, ४।३०२)।
७. कृत्तिकापिंजर=किसी भी रंग का घोड़ा, जिसकी जिल्द पर सफेद छित्तियाँ हों, जैसे ...

राजमन्दुरा में बँधे हुए घोड़ों के समीप सदा नीराजन-अग्नि जलती रहती थी और उनके ऊपर चँदोवे तने हुए थे। कालिदास ने भी घोड़ों के लिए लम्बे तम्बुओं का उल्लेख किया है।[1]

स्कन्धावार में ऊँटों का भी जमघट था, लेकिन घोड़े-हाथियों के समान महत्त्वपूर्ण नहीं। ऊँटों से अधिकतर डाक का काम लिया जाता था : प्रेषित, प्रेष्यमाण, प्रतीपनिवृत्त, बहुयोजनगमन (५८)। ऊँटों को रुचि के साथ सजाते थे। मुँह पर कौड़ियों की पट्टियाँ[2], गले में सोने के बजनेवाले घुँघरुओं की माला[3], कानों के पास पँचरंगी ऊन के लटकते हुए फुँदने, ये उनकी सजावट के अंग थे।

अनेक छत्र और चँवर भी स्कन्धावार की शोभा बढ़ा रहे थे (५६)। श्वेत आतपत्र या छत्रों में मोतियों की झालरें लगी थीं : मुक्ताफलजालक। गरुड़ के खुले पंख और राजहंस की आकृतियाँ उनपर कढ़ी हुई थीं। उनमें माणिक्य-खंड लगे हुए थे और उनके दंड विद्रुम के बने थे (५६)। वराहमिहिर ने राजा के आतपत्र वर्णन में उसे मुक्ताफलों से उपचित, हंस और कृकवाकु के पत्रों से निचित, रत्नों से विभूषित, स्फटिक बद्धमूल और नौ पोरियों से बने हुए दंडवाला लिखा है। वह छह हाथ लम्बा होता था।[4] इसी के साथ मायूर आतपत्र और हजारों झंडियाँ भी थीं, जो जलूस के काम में आती रही होंगी। मायूर आतपत्र नाचते हुए मोर के बर्हमंडल की आकृति के होते थे। बाद में भी आफताबे के रूप में वे जलूस के लिए काम में आते थे। अनेक प्रकार के वस्त्र, जैसे अंशुक और क्षौम, एवं रत्न, जैसे मरकत, पद्मराग, इन्द्रनील, महानील, गरुडमणि, पुष्पराग आदि भी राजकीय सन्निवेश में थे (६०)।

दरबार में अनेक महासामन्त और राजा उपस्थित थे। इनकी तीन कोटियाँ थीं। एक शत्रुमहासामन्त, जो जीत लिये गये थे और निर्जित होने के बाद दरबार में अनेक प्रकार की सेवाएँ करते थे। इनके साथ कुछ सम्मान का व्यवहार किया जाता था : निर्जितैरपि सम्मानितैः)। दूसरी कोटि में वे राजा थे, जो सम्राट् के प्रताप से अनुगत होकर वहाँ आये थे, और तीसरी कोटि में वे थे, जो उसके प्रति अनुराग से आकृष्ट हुए थे। राजाओं के प्रति हर्ष की तीन प्रकार की यह नीति समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में उल्लिखित नीति से बहुत मिलती है। समुद्रगुप्त के द्वारा भ्रष्टराज्य और उत्सन्नराज्यवाले वंशों का पुनः प्रतिष्ठापन वैसा ही व्यवहार था, जैसा निर्जित शत्रुमहासामन्तों के प्रति हर्ष का। सर्वकरदान, आज्ञाकरण और प्रणामागमन के द्वारा प्रचंडशासन सम्राट् को तुष्ट करने की नीति का भी इसी में समावेश हो जाता है। समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ के राजाओं के प्रति जो ग्रहणमोक्ष और

---

१. रघुवंश ५, ७३; दीर्घेष्वमी नियमिताः पटमण्डपेषु।
२. वराटिकावलीभिः घटितमुखमण्डनकैः।
३. चामीकरघुर्घरुकमालिकैः।

उन राजाओं से मिलता है, जो आत्मनिवेदन करके कन्याओं के उपायन ... , और अपने विषय और भुक्ति पर अधिकारारूढ रहने के लिए गरुडांकित शासन-पत्र प्राप्त करके सम्राट् को प्रसन्न कर लेते थे। समुद्रगुप्त ने जिस प्रसभोद्धरण (जड़ से उखाड़ फेंकने) की नीति का अतिरिक्त उल्लेख किया है, उस तरह के राजाओं के लिए दरबार में कोई स्थान न था, अतएव बाण ने यहाँ उल्लेख नहीं किया।

जो भुजनिर्जित शत्रु महासामन्त दरबार में आते थे, उनके साथ होनेवाले विविध व्यवहारों का भी बाण ने उल्लेख किया है। सम्राट् के पास आने पर उनपर जो बीतती थी, वह कुछ शोभनीय व्यवहार नहीं कहा जा सकता। किंतु, युद्धस्थल में एक बार हार जाने पर प्राण-भिक्षा के लिए लाचार शत्रुओं के साथ किये गये वे व्यवहार उस युग में अनुग्रह या सम्मान ही समझे जाते थे। सभी देशों में इस प्रकार की रणनीति व्यवहृत थी। कुछ लोग स्वामी के कोप का प्रशमन करने के लिए कंठ में कृपाण बाँध लेते थे : कण्ठबद्धकृपाणपट्टैः;[1] कुछ दाढ़ी, मूँछ और बाल बढ़ाये रहते थे; कुछ सिर पर से मुकुट उतारे हुए थे; कुछ सेवा में उपस्थित हो चँवर डुलाते थे : सेवाचामरग्रहणपर्यायैः। अनन्यशरणभाव से वे लोग सम्राट् के दर्शनों की आशा में दिन बिताते और भीतर से बाहर आनेवाले अभ्यन्तरप्रतीहारों के अनुयायी पुरुषों से बार-बार पूछते रहते थे—'ये भाई, क्या सजाये जाते हुए भुक्तास्थानमंडप में सम्राट् आज दर्शन देंगे या वे बाह्यास्थानमंडप में निकलकर आयँगे' (६०)।

इस प्रकार स्कन्धावार का चित्र खींचने के बाद बाण ने सम्राट् हर्ष का विशद वर्णन किया है। महाप्रतीहारों के प्रधान पारियात्र का भी एक सुन्दर चित्र दिया गया है। प्रतीहार लोग राजसी ठाटबाट और दरबारी प्रबन्ध की रीढ़ थे। प्रतीहारों के ऊपर महाप्रतीहार होते थे, और उन महाप्रतीहारों में भी जो मुखिया था, उसका पद दौवारिक का था (६२)। जो लोग राजद्वार या ड्योढ़ी के भीतर जाने के अधिकारी थे, वे 'अन्तरप्रतीहार' कहलाते थे। केवल बाह्यकक्ष्या या दीवाने आम तक आने-जानेवाले नौकर-चाकर बाह्य परिजन कहलाते थे। ये प्रतीहार लोग राजकुल के नियमों और दरबार के शिष्टाचार में निष्णात होते थे। वस्तुतः, उस युग में सामन्त, महासामन्त, मांडलिक, राजा, महाराजा, महाराजाधिराज, चक्रवर्ती, सम्राट् आदि विभिन्न कोटि के राजाओं के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के मुकुट और पट्ट होते थे, जिन्हें पहचानकर प्रतीहार लोग दरबारियों को यथायोग्य सम्मान देते थे।[2] महाप्रतीहार दौवारिक पारियात्र पर हर्ष की विशेष कृपा थी। वह निर्मल कंचुक पहने हुए था। पतली कमर में पेटी कसी हुई थी, जिसमें माणिक्य का पदक लगा हुआ था। चौड़ी छाती पर हार और कानों में मणि-कुंडल थे। सम्राट् की विशेष कृपा से प्राप्त खिले कमलों की मुंडमाला मस्तक पर थी। मौलि पर सफेद पगड़ी (पांडर उष्णीष) थी।

---

१. धरहु दशन तृण कंठ कुठारी—तुलसीदास।

२. [illegible]

बायें हाथ में मोतियों की जड़ाऊ मूठवाली तलवार थी और दाहिने में सोने की वेत्रयष्टि। अधिकार-गौरव से लोग उसके लिए मार्ग छोड़ देते थे। अत्यन्त निष्ठुर पद पर प्रतिष्ठित होने पर भी वह स्वभाव से नम्र था।

दौवारिक ने भुक्तास्थानमंडप में पहुँचकर बाण से कहा—'देव के दर्शन करो।' बाण ने वहाँ मंडप के सामने के आँगन में संगमर्मर की चौकी पर हर्ष को बैठे हुए देखा। इस प्रकार का आसन ग्रीष्म ऋतु के अनुकूल था। शयन के सिरे पर टिकी हुई भुजा पर सम्राट् अपने शरीर का भार डाले थे। सम्राट् की दरबार में बैठने की यही मुद्रा थी। उनके चारों ओर शस्त्र लिये हुए लम्बे गठीले शरीरवाले गोरे और पुश्तैनी[1] अंगरक्षक (शरीर-परिचारकलोक) पंक्ति में खड़े थे। पास में विशिष्ट प्रियजन बैठे थे। वस्तुतः, भुक्तास्थान-मंडप या दीवाने खास में वे लोग ही सम्राट् से मिल पाते थे, जो उनके विशेष कृपा-भाजन होते थे। कादम्बरी में राजा शूद्रक के वर्णन में भी दो आस्थानमंडपों का उल्लेख है। एक बाहरी जहाँ आम दरबार में चांडाल-कन्या वैशम्पायन को लेकर आई थी। सभा विसर्जित करने के बाद स्नान-भोजन से निवृत्त हो, कुछ चुने हुए राजकुमार, अमात्य और प्रियजनों के साथ शूद्रक ने भीतर के आस्थानमंडप में वैशम्पायन से कथा सुनी। उसी के लिए यहाँ भुक्तास्थानमंडप पद प्रयुक्त हुआ है। हर्ष को बाण ने जिस समय देखा, वह ब्रह्मचर्यव्रत की प्रतिज्ञा ले चुका था : गृहीतब्रह्मचर्यमालिङ्गितं राजलक्ष्म्या (७०)। हर्ष ने राज्यवर्द्धन की मृत्यु के बाद यह प्रतिज्ञा की थी कि जबतक मैं सम्पूर्ण भूमि की दिग्विजय न कर लूँगा, तबतक विवाह न करूँगा।[2] बाण के शब्दों में 'उसने यह असिधाराव्रत लिया था' : प्रतिपन्नासिधाराधारणव्रतम्। बाण ने हर्ष की भीष्म से तुलना की है : भीष्मातुजितकाशिनम्। दिवाकरमित्र के सामने हर्ष के मुख से बाण ने यह कहलाया है—'भाई का वध करनेवाले अपकारी रिपुकुल का मूलोच्छेद करने के लिए उद्यत मैंने अपनी भुजाओं का भरोसा करके सब लोगों के सामने प्रतिज्ञा की थी : सकललोकप्रत्यक्षं प्रतिज्ञा कृता (२५६)।

हर्ष के समीप में एक वारविलासिनी चामरग्राहिणी खड़ी थी (७०, ७४)। काव्य-कथाएँ हो रही थीं। विस्रम्भ आलाप का सुख मिल रहा था। प्रसाद के द्वारा शासनपत्र बाँटे जा रहे थे : प्रसादेषु श्रियं स्थाने स्थाने स्थापयन्तं। स्निग्ध दृष्टि अपने इष्ट कृपाण पर इस तरह पड़ रही थी, जैसे फौलाद की रक्षा के लिए चिकनाई लगाते हैं : स्नेहवृष्टिमिव दृष्टिमिष्टे कृपाणे पातयन्तम्। उसके रूप-सौन्दर्य में मानों सब देवों के अतिशय रूप का निवास था : सर्वदेवतावतारम् (७२)। इस प्रसंग में बाण ने अरुण, सुगत, बुद्ध, इन्द्र, धर्म, सूर्य, अवलोकितेश्वर, चन्द्रमा, कृष्ण इन देवताओं का उल्लेख किया है, जिनकी उस समय मान्यता थी। हर्ष का बायाँ पैर महानीलमणि के पादपीठ पर रखा हुआ था। पादपीठ के चारों ओर माणिक्यमाला की मेखला बँधी थी।

अत्यन्त महीन, नितम्बों से सटा हुआ[1], श्वेत फेन की तरह था। अधोवस्त्र के ऊपर नेत्रसूत्र या रेशम का पटका बँधा हुआ था (नेत्रसूत्रनिवेशशोभिना अधरवाससा) और उसके समीप मेखला बँधी हुई थी। दूसरा, वस्त्र शरीर के ऊर्ध्वभाग में महीन उत्तरीय था, जिसमें जामदानी की भाँति छोटे-छोटे तारे या सूत्रबिन्दु कढ़े हुए थे : अवनेन सतारागणेन उपरिकृतेन द्वितीयाम्बरेण। छाती पर शेष नामक हार सुशोभित था : शेषेण हारदण्डेन परिवलितकन्धरम्। शेषहार उस समय के विशिष्ट पुरुषों का आभूषण था। इसे मोतियों का बलेवड़ा कहना चाहिए, जो ऊपर से पतला और नीचे से मोटा होता था और सामने शरीर पर पड़ा हुआ साँप-सा लगता था। बाण ने कादम्बरी में भी शेषहार का विस्तार से उल्लेख किया है। चन्द्रापीड के लिए विशेष रूप से कादम्बरी ने इसे भेजा था। गुप्तकाल की मूर्त्तियों में शेषहार के कई नमूने मिलते हैं [चित्र २३]।[2] बाण ने हर्ष के महादानों का भी उल्लेख किया है, जिनमें प्रति पाँचवें वर्ष वह सब कुछ दे डालता था : जीवितावधिगृहीतसर्वस्वमहादानदीक्षा (७३)। इस प्रकार के प्रति पाँच वर्ष पर किये जानेवाले सर्वस्वदक्षिण दानों की गुप्तकाल में या उसके कुछ बाद भी प्रथा थी। दिव्यावदान में उनके लिए 'पंचवार्षिक' शब्द आया है। कालिदास ने भी रघु के सर्वस्वदक्षिण यज्ञ का उल्लेख किया है। हर्ष की बाहुओं में जड़ाऊ केयूर थे; उनके रत्नों से फूटती हुई किरण-शलाकाएँ ऐसी लगती थीं मानों विष्णु की तरह सम्राट् के दो छोटी भुजाएँ और निकल रही हों : अजजिगीषया बालभुजैरिवापरैः प्ररोहद्भिः (७३)। यह उत्प्रेक्षा गुप्तकालीन विष्णु-मूर्त्तियों से ली गई है, जिनमें विष्णु की दो अधिक भुजाएँ कोहनियों के पास से निकलती हुई दिखाई जाती हैं [चित्र २४]। इसीलिए, पूरी भुजाओं की अपेक्षा उन्हें बालभुज कहा गया है।[3] हर्ष के सिर पर तीन गहने थे। प्रथम, ललाट से ऊपर अरुणचूडामणि थी, जो पद्मराग की थी और जिससे छिटकनेवाली किरणें ललाट के ऊपरी किनारे को शोभित कर रही थीं।[4]

---

१. इस प्रकार के अत्यन्त सूक्ष्म, शरीर से चिपटे हुए वस्त्र गुप्तकाल और हर्षयुग की विशेषता थी। अँगरेजी में इसे वेट ड्रेपरी कहते हैं। बाण ने इसके लिए 'मग्नांशुक' (१६६) पद का भी प्रयोग किया है।

२. देखिए, अहिच्छत्रा से मिली हुई मिट्टी की मूर्तियाँ, एंश्येट इंडिया, अंक ४, चित्र २५६। नैषध में इस तरह के हार या गजरे को दुंडुभक, अर्थात् दुंडुभ साँप की आकृति का कहा गया है (नैषध, २१, ४३)। नैषध के टीकाकार ईशानदेव ने इसका पर्याय टोडर दिया है। नारायण के अनुसार 'दुंडुभस्य विकृणतया साम्यात् स्थूलघनतरे पुष्पदाम्नि दुण्डुभादं लाक्षणिकम्'। संभव है कि शुरू में बाण के समय में शेषहार मोतियों से गूँथा जाता हो; पीछे फूलों के गजरे भी बनने लगे। मथुरा-कला की अतिप्रसिद्ध गुप्तकालीन विष्णुमूर्त्ति सं० ई ६ में भी मोतियों का मोटा बलेवड़ा हार शेषहार ही जान पड़ता था।

३. मथुरा-कला की अत्यन्त सुन्दर गुप्तकालीन विष्णुमूर्त्ति (संख्या ई ६) में यह लक्षण

दूसरा आभूषण मालती-पुष्प की मुण्डमाला थी, जो ललाट की केशान्तरेखा के चारों ओर बँधी थी[1] [चित्र२५]। सिर पर तीसरा अलंकरण शिखंडाभरण था, अर्थात् मुकुट पर कलगी की तरह का पदक था, जिसमें मोती और मरकत दोनों लगे थे। ये तीनों आभूषण उत्तरगुप्तकालीन मूर्तियों के मुकुटाभूषणों में पाये जाते हैं [चित्र२६]। कानों में कुंडल थे, जिनकी घूमती हुई कोर बालचीणा सी लगती थी : कुण्डलमणिकुटिलकोटिबालवीणा (७४)। कान में दूसरा गहना श्रवणावतंस था, जो सम्भवतः कुंडल से ऊपर के भाग में पहना जाता था। इस प्रकार कान्ति, वैदग्ध्य, पराक्रम, करुणा, कला, सौभाग्य, धर्म आदि के निधान, गम्भीर और प्रसन्न, त्रासदायक और रमणीय, चक्रवर्ती सम्राट् हर्ष को बाण ने पहली बार देखा।

बाण ने दरबार की वारविलासिनियों का एक अन्तर्गर्भित चित्र देकर इस लम्बे वर्णन को और भी लंबा खींच दिया है। उस युग के राजसमाज की पूर्णता के लिए वारविलासिनियाँ आवश्यक अंग थीं। यह शब्दचित्र उनका यथार्थ रूप खड़ा कर देता है। चित्र और शिल्प में इसी वर्णन से मिलते-जुलते रूप हमें प्राप्त होते हैं। ललाट पर अगरु का तिलक था; चमचमाते हारों से वे ठमकती थीं; नखरों से चंचल भ्रूलताएँ चला रही थीं; नृत्य के कारण लंबी साँसों से वे हाँफ रही थीं; स्तनकलश बकुलमाला से परिवेष्टित थे; हार की मध्यमणि रह-रहकर इधर-उधर हिलती थी, मानों आलिंगन के लिए भुजाएँ फैली हों; कभी जँभाई रोकने के लिए मुख पर उत्तान हाथ रख लेती थीं; कानों के फूलों का पराग पड़ने से नेत्रों को मिचमिचाती थीं; तिरछी भौंहों के साथ चितवनें चला रही थीं; कभी एकटक बरौनीवाले नेत्रों से देखने लगती थीं; कभी स्वाभाविक मुस्कान इधर-उधर बिखेरती थीं, कभी शरीर की तोड़-मरोड़ के साथ हाथों की उँगलियाँ एक दूसरे से फँसाकर हथेली ऊपर उठाये हुए नाचती थीं; और कभी उँगलियाँ चटकारकर उन्हें गोल घुमाकर छोटी-छोटी धनुहियाँ-जैसी बनाती हुई नाचती थीं। इस प्रकार, बाण ने चतुर चित्रकार की भाँति तूलिका के चौदह संकेतों से नृत्य करती हुई वारवनिताओं का लीलाचित्र प्रस्तुत किया है।

गुप्त-शिलालेखों में बारम्बार 'चतुरुदधिसलिलास्वादितयशसः' विशेषण गुप्त-सम्राटों के लिए आता है। वह राजाओं के लिए वर्णन की लीक बन गई थी। बाण ने हर्ष को चतुरुदधिकेदारकुटुम्बी (७७) कहा है, अर्थात् ऐसा किसान, जिसके लिए चार समुद्र चार क्यारियाँ हों। हर्ष के भुजदंडों को चार समुद्रों की परिखा के किनारे-किनारे बना हुआ शिला-प्राकार कहा गया है।

हर्ष को देखकर बाण के मन में कितने ही विचार एक साथ दौड़ गये। 'ये ही सुगृहीतनामा देव परमेश्वर हर्ष हैं, जो समस्त पूर्व के राजाओं के चरितों को जीतनेवाले ज्येष्ठ-मल्ल हैं। इन्हीं से पृथ्वी राजन्वती है।[3] विष्णु, पशुपति, इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, इन देवताओं के उन-उन गुणों से भी हर्ष बढ़कर हैं। इनके त्याग, प्रज्ञा, कवित्व, सत्त्व, उत्साह;

उन ग्रंथों का उल्लेख है, जिनका अभ्यास किया जाता था 'जिनस्यैवार्थवादशून्यानि दर्शनानि' वाक्य में बौद्धों के योगाचार और माध्यमिक दर्शनों की तरफ इशारा है, जो उस युग के दार्शनिक जगत् में ऊँचाई पर थे। ये दर्शन क्षणिकत्व में विश्वास करते और यह मानते थे कि केवल विज्ञान (विचार) ही तात्त्विक है, अर्थ या भौतिक वस्तुएँ असत्य हैं। यही योगाचार दर्शन का विज्ञानवाद था। आगे चलकर शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र (२।२।२८) के भाष्य में विज्ञानवाद का खंडन किया। कादम्बरी में भी बाण ने 'निरालम्बनां बौद्धबुद्धिम्' पद से इसी दार्शनिक पद का उल्लेख किया है। 'अस्मिंश्च राजनि यतीनां योगपट्टकाः' इस उल्लेख में योगपट्टक का दूसरा अर्थ जाली बनाये हुए ताम्रपत्रों से है। इस प्रकार के कई जाली ताम्रपत्र मिले भी हैं, जैसे समुद्रगुप्त का गया से प्राप्त ताम्रपत्र। बाद के राजा पूर्वदत्त दानों का प्रतिपालन करते थे, अतएव इस प्रकार के जाल रचने का प्रलोभन कभी किसी के मन में आ जाता था। 'पुस्तकर्मणां पार्थिवविग्रहाः' पद में मिट्टी की बनी हुई मूर्तियों का उल्लेख है, जिन्हें बड़े आकार में उस समय तैयार किया जाता था। 'वृत्तानां पादच्छेदाः' उल्लेख से ज्ञात होता है कि पैर काट देना उस समय के दंडविधान का अंग था। 'षट्पदानां दानग्रहणकलहाः' पद में दान शब्द का वही अर्थ है, जो कृष्ण की दानलीला पद में है, अर्थात् कर-ग्रहण। 'अष्टापदानां चतुरङ्गकल्पनाः' के चतुरंगकल्पना शब्द से अपराधी के दोनों पैर काटने के दंडविधान का उल्लेख है। इसी में श्लेष से शतरंज का भी उल्लेख किया गया है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इस खेल में अष्टपद या आठ घरों की आठ पंक्तियाँ होती थीं और मोहरे चतुरंग सेना के चार अंग—हस्ती-अश्व-रथ-पदाति की रचना के अनुसार रखे जाते थे। अष्टापदपट्ट पर खाने या घर काले और सफेद होते थे, यह भी बाण ने पूर्व में सूचित किया है।

'वाक्यविदामधिकरणविचाराः' पद महत्त्वपूर्ण है। इसमें अधिकरण के दो अर्थ हैं, पहला अर्थ है मीमांसकों (वाक्यविदों) के शास्त्र में भिन्न भिन्न प्रकरण (शंकर टीकाकार के अनुसार विश्रान्तिस्थान)। अधिकरणों का विचार कुमारिलभट्ट के समय के पूर्व ही शुरू हो गया था। कुमारिल को आठवीं शती के मध्यभाग में माना जाय तो बाण के इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि उनसे एक शती पूर्व ही मीमांसाशास्त्र में अधिकरणों की विवेचना होने लगी थी।[1] अधिकरण का दूसरा अर्थ धर्म-निर्णय-स्थान (फौजी और दीवानी की

---

1. माधव के जैमिनीय न्यायमालाविस्तार (चौदहवीं शती) में अधिकरणों का विचार खूब पल्लवित हुआ है। विषय, संशय या पूर्वपक्ष, संगति, उत्तरपक्ष और निर्णय इन पाँच अंगों से अधिकरण बनाता है। इस प्रकार के ९१५ अधिकरण माधव के ग्रंथ में हैं। शंकरभट्ट (सोलहवीं शती)-कृत 'मीमांसान्यायसंग्रह' में अधिकरणों की संख्या १००० है। मीमांसादर्शन के २६५१ सूत्रों को ठीक-ठीक अधिकरणों में बाँटने के विषय में टीकाकारों में मतभेद था। [illegible]

जब बाण ने हर्ष के समीप जाकर स्वस्ति शब्द का उच्चारण किया, उसी समय उत्तर दिशा की ओर समीप में किसी गजपरिचारक के द्वारा पढ़ा जाता हुआ एक अपरवक्त्र श्लोक सुनाई पड़ा। उसे सुनकर हर्ष ने बाण की ओर देखा और पूछा—'यही वह बाण है' (एष स बाणः)? दौवारिक ने कहा—'देव का कथन सत्य है। यही वे हैं।' इसपर हर्ष ने कहा—'मैं इसे नहीं देखना चाहता, जबतक यह मेरा प्रसाद[2] न प्राप्त कर ले।' यह कहकर अपनी दृष्टि घुमा ली, और पीछे बैठे हुए मालवराज के पुत्र[3] से कहा—यह भारी भुजंग[4] है : महानयं भुजङ्गः।

हर्ष की बात सुनकर सब लोगों में सन्नाटा छा गया। मालव-राजकुमार ने ऐसी मुद्रा बनाई, जैसे उसने कुछ समझा ही न हो। वस्तुतः, हर्ष का बाण के साथ प्रथम दर्शन में यह व्यवहार उचित नहीं कहा जा सकता। यह तीखा वचन सुनकर बाण तिलमिला उठा। बाण की जो स्वतन्त्र प्रकृति थी और जो ब्रह्मतेज था, वह जाग उठा। क्षण-भर चुप रहकर उसने हर्ष से काफी कड़े शब्दों में प्रतिवाद किया और अपने विषय की सच्ची स्थिति ब्यौरेवार कही—'हे देव, आप इस प्रकार की बात कैसे कहते हैं, जैसे आपको मेरे विषय में सच्ची बात का पता न हो या मेरा विश्वास न हो, या आपकी बुद्धि दूसरों पर निर्भर रहती हो,[5] अथवा आप स्वयं लोक के वृत्तांत से अनभिज्ञ हों। लोगों के स्वभाव और बातचीत मनमानी और तरह-तरह की होती है। लेकिन, बड़ों को तो यथार्थ दर्शन करना चाहिए। आप मुझे साधारण व्यक्ति की तरह मत समझिए। मैंने सोमपायी वात्स्यायन ब्राह्मणों के कुल में जन्म लिया है। उचित समय पर उपनयन आदि सब संस्कार मेरे किये गये। मैंने सांगवेद भली भाँति पढ़ा है और शक्ति के अनुसार शास्त्र भी सुने हैं। विवाह के क्षण से लेकर मैं नियमित गृहस्थ रहा हूँ। मुझमें क्या भुजंगपना[6] है? अवश्य ही मेरी नई आयु में कुछ चपलताएँ हुईं, इस बात से मैं इनकार न करूँगा; किन्तु वे ऐसी न थीं, जिनका इस लोक या उस लोक से विरोध हो।

---

१. पादताडितक, पृ० ६। गुप्तकाल में अधिकरण शब्द का तीसरा अर्थ सरकारी दफ्तर भी था।

२. प्रसाद—राजा की प्रसन्नता, उनसे मिलने-जुलने की अनुकूलता।

३. मालवराज का यह पुत्र संभवतः माधवगुप्त था। कुमारगुप्त और माधवगुप्त दो भाई मालवराजपुत्र थे, जो राज्यवर्द्धन और हर्ष के पार्श्ववर्ती बनाकर दरबार में भेजे गये थे।

४. भुजंग—गुंडा, लम्पट।

५. यहाँ बाण ने 'नये' शब्द का प्रयोग किया है। कालिदास ने 'नये' का प्रयोग उसके लिए किया है, जिसे अपने घर की समझ न हो और जो दूसरे के कहने पर चले : मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः (मालविकाग्निमित्र)।

६. बाण के शब्द थे—'का मे भुजंगता', जिसके तीन अर्थ हैं, १. मेरे जीवन में

कहने का साहस, आत्मसम्मान और सत्यपरायणता से भरा हुआ है। हर्ष ने इसके जवाब में इतना ही कहा—'हमने ऐसा ही सुना था।', और यह कहकर चुप हो गये। लेकिन, सम्भाषण, आसन, दान आदि के प्रसाद से अनुग्रह नहीं दिखाया। बाण ने यहाँ एक संकेत ऐसा किया है कि यद्यपि हर्ष ने ऊपरी व्यवहार में रूखापन दिखाया, किन्तु अपनी स्नेहभरी दृष्टि से अन्दर की प्रीति प्रकट की। इस समय संध्या हो रही थी और हर्ष राजाओं को विसर्जित करके अन्दर चले गये। बाण भी अपने निवासस्थान को लौट आये।

यह रात बाण ने स्कन्धावार में ही बिताई। रात को भी उसके मन में अनेक प्रकार के विचार आते रहे। कभी वह सोचता—'हर्ष सचमुच उदार है; क्योंकि यद्यपि उसने मेरी बालचपलता की अनेक निन्दाएँ सुनी हैं, फिर भी उसके मन में मेरे लिए स्नेह है। यदि मुझसे अप्रसन्न होता, तो दर्शन ही क्यों देता। वह मुझे गुणी देखना चाहता है। बड़ों की यही रीति है कि वे छोटों को बिना मुख से कहे ही केवल व्यवहार से विनय सिखा देते हैं। मुझे धिक्कार है, यदि मैं अपने दोषों के प्रति अन्धा होकर केवल अनादर की पीड़ा अनुभव करके इस गुणी सम्राट् के प्रति कुछ और सोचने लगूँ। अवश्य ही अब मैं वह करूँगा, जिससे यह कुछ समय बाद मुझे ठीक जान ले' (८१)। मन में इस प्रकार का संकल्प करके दूसरे दिन वह कटक से चला गया और अपने रिश्तेदारों के घर जाकर ठहर गया। कुछ दिनों में हर्ष को स्वयं ही उसके स्वभाव का ठीक पता चल गया और वे उसके प्रति प्रसादवान् बन गये। तब बाण फिर राजभवन में रहने के लिए आ गया। स्वल्प दिनों में ही हर्ष उससे परमप्रीति मानने लगे और उन्होंने प्रसाद-जनित मान, प्रेम, विश्वास, धन, विनोद और प्रभाव की पराकाष्ठा बाण को प्रदान की।



बाण हर्ष के दरबार में गरमी की ऋतु में गया था। जिस भीषण लू और गरमी का उसने वर्णन किया है, उससे अनुमान होता है कि वह जेठ का महीना था। शरद् काल के शुरू में वह हर्ष के यहाँ से पुनः अपने गाँव लौट आया।[1] उच्छ्‌वास के आरंभ में बाल शरद् का बहुत ही निखरा हुआ चित्र खींचा गया है। 'मेघ विरल हो गये, चातक डर गये, कादम्ब बोलने लगे, दर्दुर और मयूर दुःखी हुए, हंससमूह आये, सिकल किये हुए खड्ग के समान आकाश श्वेत हो गया, सूर्य, चन्द्र और तारे निखर गये, इन्द्रधनुष और विद्युत् अदृश्य हो गई, जल पिघले हुए वैदूर्य की तरह स्वच्छ हो गया, घूमते हुए रूई के गोलों जैसे मेघों में इन्द्र का बल घट गया, कदम्ब, कुटज और कन्दल के पुष्प बीत गये, कमल, इन्दीवर और कह्लार के पुष्प प्रसन्न हो गये, शेफालिका से रात्रि शीतल हो गई, यूथिका की गन्ध फैल गई, महमहाते कुमुदों से दसों दिशाएँ भर गईं, सप्तच्छद का पराग वायु में फैल गया, बन्धूक के लाल गुच्छों से फूली लाल संध्या-सी रच गई, नदियाँ तटों पर बाल पुलिन छोड़ने लगीं, पका सावाँ कलौंस ले आया, प्रियंगु धान की मंजरी की धूल चारों ओर भर गई (८३-८४)।'

बाण के लौटने का समाचार सुनकर उसके भाई-बन्द सम्राट् से प्राप्त सम्मान से प्रसन्न होकर मिलने आये। परस्पर अभिवादन के बाद अपने-आपको बन्धु-बान्धवों के बीच में पाकर बाण परम प्रसन्न हुआ : बहुबन्धुमध्यवर्ती परं मुमुदे। गुरुजनों के बैठने पर स्वयं भी बैठा। पूजादि सत्कार से प्रसन्न होकर बाण ने उनसे पूछा—आप लोग इतने दिन सुख से तो रहे? यज्ञक्रिया, अग्निहोत्र आदि तो विधिवत् होता रहा? क्या विद्यार्थी समय पर पढ़ते रहे और वेदाभ्यास जारी रहा? कर्मकाण्ड, व्याकरण, न्याय और मीमांसा में आप-लोगों का शास्त्राभ्यास क्या वैसा ही जारी रहा? नये-नये सुभाषितों की अमृत-वर्षा करनेवाले काव्यालाप तो चलते रहे?' (८४) इन प्रश्नों से ब्राह्मण-परिवारों में निरन्तर होनेवाले पठन-पाठन और शास्त्रचिन्तन का वातावरण सूचित होता है। प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली में ऐसे ब्राह्मण-परिवार विद्यालय का कार्य करते थे। उन लोगों ने पारिवारिक कुशल का यथोचित समाधान करके बाण के अभिनव सम्मान पर विशेष प्रसन्नता प्रकट की। 'आपके आलस्य छोड़कर सम्राट् के पास वेत्रासन पर जाकर बैठने से हमलोग अपने को सब प्रकार सुखी मानते हैं'।[2] 'विमुक्तकौसीद्य' पद से बाण की उस प्रवृत्ति की ओर संकेत है, जिसके कारण वे अपने विषय में स्वयं निष्प्रयत्न रहते थे। उनकी जैसी स्वाभिमानी और स्वतन्त्र प्रकृति थी, उसमें यह स्वाभाविक था कि वे अपने बारे में किसी के सामने हाथ न फैलायें। इस प्रकार स्कन्धावार-सम्बन्धी और भी बातें होती रहीं।

मध्याह्न-भोजन के बाद पुनः वे सब एकत्र हुए। इसी बीच में वहाँ बाण का पुस्तक-वाचक सुदृष्टि उपस्थित हुआ। वह पुंड्र[1] देश के बने एक दुकूलपट्ट के थान में से तैयार किये दो श्वेत वस्त्र पहने था। माथे पर गोरोचना और गंगनौटी का तिलक लगा था, सिर पर आँवले के तेल की मालिश की गई थी, चोटी में फूलमाला गूँथी हुई थी, होठों पर पान की लाली थी, आँखों में अंजन की बारीक रेखा खिंची हुई थी (८५)। सुदृष्टि का कंठ अत्यन्त मधुर था; वह नित्यप्रति बाण को वायुपुराण की कथा सुनाता था : पवमान-प्रोक्तं पुराणं पपाठ। पीछे बैठे हुए मधुकर, पारावत नामक वंशी बजानेवाले बाण के दो मित्रों ने उसे बैठने के लिए स्थान दिया। इस प्रसंग में बाण ने प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ किस प्रकार रखे जाते थे, इसका भी सूक्ष्म परिचय दिया है। पुस्तक के लिए ग्रन्थ शब्द प्राचीनकाल में प्रयुक्त होता था। समस्त वैदिक साहित्य में कहीं पुस्तक शब्द नहीं है। पाणिनि की अष्टाध्यायी एवं पतंजलि के महाभाष्य में भी पुस्तक शब्द का प्रयोग नहीं हुआ। अश्वघोष और कालिदास के काव्यों में भी जहाँतक हमें ज्ञात है, यह शब्द नहीं मिलता। अमरकोश में भी यह शब्द नहीं है। सम्भावना यह है कि बाण के युग के आस-पास ही पहली बार किताबों के लिए पुस्तक शब्द का प्रयोग होने लगा। मृच्छकटिक में चारुदत्त के घर में और वसन्तसेना के घर में अन्य सामग्री के वर्णन में पुस्तक (=प्रा० पोत्थअ = पोथा) का भी उल्लेख आया है, जो सम्भवतः इस शब्द का प्रथम साहित्यिक प्रयोग है (मृच्छ०, पृ० ७६, १०१ । असम के कुमार भास्करवर्मा के उपायनों में अगरु पेड़ की छाल पर लिखी हुई पुस्तकों का उल्लेख आया है (२१७)। असम की तरफ तालपत्र का प्रचार न था। उत्तरी भारत में लिखने के लिए भोजपत्र का प्रचार था, जैसा कि कालिदास ने लिखा है (कुमारसम्भव, १।७)।[2] किन्तु, बाण के समय तालपत्र पर काली और लाल स्याही से पुस्तिकाएँ लिखने की प्रथा चल चुकी थी। बूढ़े द्राविड़ के वर्णन में इस तरह की पोथियों का उल्लेख किया गया है।[3] बाण ने यह भी लिखा है कि हरे पत्तों के रस में कोयला घोटकर घटिया किस्म की स्याही बनती थी।[4]

लगभग पाँचवीं शती के मध्य में पुस्तक शब्द ईरान से अपनी भाषा में लिया गया, ऐसी सम्भावना है। पह्लवी भाषा में 'पुस्त' का अर्थ खाल है। ईरान में चमड़े (पार्चमेण्ट) पर ग्रन्थ लिखे जाते थे, इसी कारण पुस्तक का अर्थ ग्रंथ हुआ। धीरे-धीरे यह शब्द हमारे देश में चल गया और लगभग दो सौ वर्षों के भीतर साहित्य में व्याप्त हो गया, जैसा कि बाण के उल्लेखों से सूचित होता है।

पुस्तकवाचक सुदृष्टि ने वायुपुराण की जो पोथी हाथ में ली, उसपर डोरी का वेष्टन बँधा हुआ था, जिसे उसने खोला : तत्कालापनीतसूत्रवेष्टनं पुस्तकम् (८५)। सम्भवतः, पोथी के ऊपर नीचे लकड़ी की पटलियाँ रहती थीं, पर बाण ने उसका उल्लेख नहीं

जाती थी। यही प्रथा लगभग बारहवीं तेरहवीं सदी तक रही, फिर बारहवीं सदी में मुसल[illegible]
कागज का प्रयोग ग्रन्थ-लेखन के लिए चल गया।

वायुपुराण की पोथी काफी मोटी और भारी रही होगी। पढ़ते समय कुछ पत्रे हाथ में ले लिये जाते थे और शेष पुस्तक सामने रखी रहती थी, जैसा आजतक कथावाचक खुले पत्रों की पोथियों के विषय में करते हैं। बाण के समय में इस कार्य के लिए शरशलाका-यन्त्र, अर्थात् सरकंडों का बना पीढ़ा काम में लाते थे : पुस्तकं पुरोनिहितशरशलाकायन्त्रके निधाय (८५)। जैनसाहित्य में इसके लिए ठवणी (सं० स्थापनिका) शब्द है। चार गंडियों को बाँधकर डोरा पिरोकर बनाये हुए पीढे पर पोथी रखी जाती थी और उसी पर आचार्य की स्थापना की जाती है। इस प्रकार की स्थापनिकाएँ लकड़ी की बनने लगी थीं, जिनपर बढ़िया कपड़ा बिछा दिया जाता था। उनका चित्रण प्राचीन जैनचित्रों में मिलता है।[1] मृच्छकटिक में वसन्तसेना के घर के तीसरे प्रकोष्ठ का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वहाँ पाशकपीठ पर आधी खुली पुस्तक रखी थी और उस पीढ़े पर असली मणियों को गूँथकर बनाया हुआ कीमती वस्त्र बिछा था : स्वाधीनमणिमयशारीसहितं पाशकपीठं (१०१)। पाठ करने के लिए पुस्तक के तीन-चार पन्ने हाथ में उठा लिये जाते थे। इनके रखने के लिए भी आजकल जैन साधु एक गत्ते की पूँठी रखते हैं। कुछ दूरतक उसी पूँठी का थोड़ा-सा हिस्सा मोड़ दिया जाता है और उसपर सुन्दर वस्त्र मढ़ देते हैं। आजकल इसे पूँठी कहते हैं। बाण के समय पूँठी का प्रचार तो न था, वह लकड़ी और कपड़े से बनाई जाती होगी। बाण ने उसे कपाटिका कहा है : गृहीत्वा च कतिपयपत्रलघ्वीं कपाटिकाम् (८५)। नित्यप्रति जहाँतक ग्रन्थ हो जाता था वहाँ कोई निशान बना देते थे : प्राभातिकप्रपाठकच्छेदचिह्नीकृतमन्तरपत्रम् (८५)। भूर्जपत्र पर अक्षर स्याही से लिखे जाते थे : मषीमलिनानि अक्षराणि (८५)।

जब वायुपुराण का पाठ हो चुका, तब बन्दी सूचिबाण ने दो आर्या छन्द पढ़े, जिनमें श्लेष से हर्ष के चरित और राज्य का उल्लेख था। उन्हें सुनकर बाण के चार चचेरे भाइयों, गणपति, अधिपति, तारापति और श्यामल ने, जो पहले से ही परामर्श करके आये थे, एक दूसरे की ओर देखा, जैसे कुछ कहना चाहते हों। यहाँ बाण ने उनके विद्या-भ्यास का परिचय देते हुए लिखा है कि उन्होंने व्याकरणशास्त्र का अच्छा अभ्यास किया था और वृत्ति, वार्त्तिक (वाक्य), न्याय, न्याय या परिभाषाएँ, एवं संग्रहग्रन्थ भले प्रकार पढ़े थे। यह उल्लेख व्याकरणशास्त्र के इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण है। ज्ञात होता है कि वृत्ति से तात्पर्य काशिकावृत्ति से है और न्यास जिनेन्द्रबुद्धिकृत काशिका की टीका थी, जो आज भी उपलब्ध है। काशिकावृत्ति और जिनेन्द्रबुद्धि के न्यास के समय के बारे में विद्वानों में मतभेद है। इत्सिङ् ने एक वृत्तिसूत्र का उल्लेख किया है, उसे काशिका का पर्याय मानकर काशिका की रचना ६६० ई० के लगभग मानी जाती है। तब

पर टीका लिखी थी। अतएव वृत्तिसूत्र को काशिका मानना संभव नहीं। काशिका गुप्तकाल (चौथी या पाँचवीं शती) में और न्यास उत्तर-गुप्तकाल (छठी-सातवीं शती) की रचना ज्ञात होती है। तभी बाण के द्वारा उनका उल्लेख चरितार्थ हो सकता है।[२] माघ (सप्तम शती का मध्यकाल) ने भी व्याकरण की वृत्ति और न्यास का उल्लेख किया है।[३]

चारों भाइयों में छोटा श्यामल बाण को अत्यन्त प्रिय था। बड़ों का इशारा पाकर उसने बाण से हर्ष का चरित सुनाने की प्रार्थना की। इस प्रसंग में पुरूरवा, नहुष, ययाति, सुद्युम्न, सोमक, मान्धाता, पुरुकुत्स, कुवलयाश्व, पृथु, नृग, सौदास, नल, संवरण, दशरथ, कार्त्तवीर्य, मरुत्त, शान्तनु, पांडु, और युधिष्ठिर, इन उन्नीस पूर्वकालीन राजाओं का उल्लेख करते हुए उनसे सम्बद्ध पौराणिक कथाओं का हवाला दिया गया है, जिनसे उनके चरित की त्रुटियाँ प्रकट होती हैं। इस प्रकार की सूचियाँ और वर्णन कवि-समय ही बन गया था। अर्थशास्त्र, कामन्दकीयनीतिसार, वासवदत्ता, यशस्तिलकचम्पू आदि ग्रन्थों में इस प्रकार की छोटी-बड़ी सूचियाँ मिलती हैं।

स्वयं हर्ष के सम्बन्ध में भी कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ दी गई हैं। हर्ष ने सिंधु जनपद के राजा को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया था : सिन्धुराजं प्रमथ्य लक्ष्मीरात्मीकृता (९१)। इसका तात्पर्य यह है कि पश्चिम में हर्ष का राज्य सिंधु सागर-दोआब तक था। सिंधु नदी उसकी सीमा बनाती थी। दूसरी बात यह कि हिमालय के दुर्गम प्रदेश के राजा भी हर्ष को कर देने लगे थे : अत्र परमेश्वरेण तुषारशैलभुवो दुर्गाया गृहीतः करः। हिमालय का यह प्रदेश कुल्लू, काँगड़ा और नेपाल जान पड़ता है। इन दोनों प्रदेशों में भारतीय संस्कृति के तत्कालीन प्रभाव के प्रमाण पाये गये हैं। ज्ञात होता है, ये भूभाग गुप्तों के साम्राज्य में सम्मिलित थे, जिन्होंने अब हर्ष को भी कर देना स्वीकार किया।

हर्ष ने किसी कुमार का अभिषेक किया था। संभवतः, यह कुमार मालवराज के पुत्र कुमारगुप्त थे, जो अपने भाई माधवगुप्त के साथ राज्यवर्द्धन के पार्श्ववर्त्ती नियुक्त

---

१. आइ० एस० पवते, स्ट्रक्चर ऑफ् दि अष्टाध्यायी, भूमिका, पृ० ६।

२. पवते, वही, भूमिका, पृ० १२-१३ में जैनेन्द्रव्याकरण और न्यास के कर्त्ता (लगभग ४५० ई०) को एक मानते हैं।

३. काशिका में केदार, दीनार और कार्षापण सिक्कों का एक साथ नाम आया है (५, २, १२०)। केदार सिक्का केदारसंज्ञक कुषाणों ने लगभग तीसरी शती में चलाया और गुप्तयुग में ही ये तीनों सिक्के एक साथ चालू थे। इसी प्रकार बौद्धों के दशभूमक सूत्र का भी उल्लेख है (५, ४, ७९)। इस ग्रंथ का चीनी भाषा में पहला अनुवाद २९७ ई० में धर्मरक्ष ने, दूसरा ४०६ ई० में कुमारजीव ने और तीसरा ५०० ई० के लगभग

गया है कि उसने किसी राजा को हाथी की सूँड़ से बचाया था। शंकर ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि दर्पशात हाथी ने श्रीकुमार को सूँड़ में लपेट लिया था, हर्ष ने अपनी तलवार चलाकर उसे बचाया और हाथी को जंगल में छुड़वा दिया। इसी प्रसंग में बाण ने श्लेष से कोशनामक बौद्धग्रंथ का उल्लेख किया है, जिसकी पहचान वसुबन्धुकृत अभिधर्मकोश से की जाती है। यह ग्रंथ बाण के समय में बड़ा सिरमौर समझा जाता था। बौद्ध संन्यासी दिवाकरमित्र के आश्रम में भी शाक्यशासन में प्रवीण विद्वानों द्वारा कोश का उपदेश दिये जाने का उल्लेख है (२३७)।

उनकी हर्ष के चरित को सुनने की इस प्रार्थना को सुनकर बाण ने पहले तो कुछ अपनी असमर्थता प्रकट की और फिर कहा—'आज तो दिन समाप्त हो गया है, कल से वर्णन करूँगा : श्वो निवेदयितास्मि (९२)। वहाँ से उठकर वह संध्यावन्दन के लिए शोण के तट पर गया और वहाँ से लौटकर स्नेही बन्धुओं के साथ गोष्ठी-सुख का अनुभव करके गणपति के घर सो रहा (९३)। अगले दिन प्रातः उठकर हाथ-मुँह धो, संध्यावन्दन से निवृत्त हो (उपास्य भगवतीं सन्ध्याम्, ९३) पान खाकर पुनः वहीं आ गया। इसी बीच सब बन्धु-बान्धव भी एकत्र हो उसे घेरकर बैठ गये और उसने हर्ष का चरित सुनाना आरम्भ किया (९४)।

सर्वप्रथम श्रीकंठ जनपद और उसकी राजधानी स्थाण्वीश्वर का वर्णन किया गया है। 'हलों से खेत जोते जा रहे थे। हल के अग्रभाग या पड़ौथों से नई तोड़ी हुई धरती के मृणाल उखाड़े जा रहे थे। चारों ओर पौंड़ों के खेत फैले हुए थे। खलिहानों में कटी हुई फसल के पहाड़ लगे थे। चलती हुई रहट से सिंचाई हो रही थी। धान, राजमाष, मूँग और गेहूँ के खेत सब ओर फैले थे। जंगल गोधन से भरा हुआ था और गौवों के गले में बँधी टल्लियाँ बज रही थीं। भैंसों की पीठ पर बैठे ग्वाले गीत गा रहे थे। जगह-जगह ऊँट दिखाई पड़ते थे। रास्तों पर द्राक्षा और दाड़िम लगे थे। रास्ता चलते बटोही पिंडखजूर तोड़कर खा रहे थे। आड़ुओं के उपवन फैले थे। गाएँ किनारे लगे हुए अर्जुन के पेड़ों के बीच में से उतरकर गढ़ैयों में पानी पी रही थीं। करहों की रखवाली करनेवाले लड़के ऊँट और भेड़ों के झुंड देख रहे थे। प्रत्येक दिशा में वातमृगी की तरह घोड़ियाँ स्वच्छन्द विचर रही थीं। गाँव में जगह-जगह महत्तर अधिकारी थे। सर्वत्र सुन्दर जलाशय और महाघोषों (बड़े-बड़े पशुगोष्ठों) से दिशाएँ भरी हुई थीं। वहाँ दुरित और अधर्म, आधि और व्याधि, दुर्दैव और ईति, अपमृत्यु और उपद्रव, सब शान्त थे। मंदिरों के लिए टाँकियों से पत्थर गढ़े जा रहे थे। हवन यज्ञ, महादान और वेदघोष की धूम थी। वृषोत्सर्ग के समय के बाजे बज रहे थे।' बौद्ध-संस्कृत-साहित्य में इक्षुशालिगो-

समाज थे। शस्त्रोपजीवी, गायक, विद्यार्थी, शिल्पी, व्यापारी (वैदेहक), बन्दी, बौद्धभिक्षु, आदि सब प्रकार के लोग वहाँ थे।' यहाँ बाण ने बन्दी और चारण अलग-अलग कहे हैं। संभवतः चारणों का यह सबसे पहला उल्लेख है। सातवीं शती में इस संस्था का आरम्भ हो चुका था, जो आगे चलकर मध्यकाल में अत्यन्त विस्तार को प्राप्त हुई।

स्थाण्वीश्वर की स्त्रियों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वे कंचुक या छोटी कुरती पहनती थीं [चित्र २७]। गुप्तकाल में यह वेश न था। लगभग छठी शताब्दी में हूणों के बाद चोली या कुरती पहनने का रिवाज शुरू हुआ। अहिच्छत्रा की खुदाई में चोली पहने हुए स्त्रियों की मूर्त्तियाँ पाई गई हैं, जिनका समय ५५० से ७५० ई० के मध्य में है।[२] उनके वेश में अन्य विशेषताएँ ये थीं—सिर पर फूलों की माला (मुण्डमालामण्डन), कानों में पत्तों के अवतंस और कुण्डल, मुख पर जाली का आवरण, जो कुलीन स्त्रियों की पहचान थी, कपूर से सुवासित वस्त्र, गले में हार और पैरों में इन्द्रनील के नूपुर। वीणा-वादन का वहाँ खूब प्रचार था। घरों में स्फटिक के चौरस चबूतरे या वेदिकाएँ थीं, जिनपर लोग बैठकर आराम करते थे : विश्रमकारणं भवनमणिवेदिकाः (९९)।

ऐसे श्रीकंठ जनपद में परममाहेश्वर पुष्पभूति नाम के राजा हुए। बाण ने पुष्पभूति को वर्धनवंश के आदि संस्थापक के रूप में कल्पित किया है। थानेश्वर के इलाके में सातवीं शती में शिवपूजा का घर-घर प्रचार था : गृहे गृहे भगवानपूज्यत खण्डपरशुः (१००)। वहाँ पाशुपतधर्म के प्रचार का बाण ने बड़ा सजीव चित्र खींचा है। शिवभक्त गूगल जलाते थे, यह अन्यत्र भी कहा जा चुका है (१००, १०३, १५३)। शिव को दूध से स्नान कराया जाता था (१००; तुलना कीजिए, क्षीरस्नपन, ५६) और पूजा में बिल्व-पल्लव चढ़ाये जाते थे। शिवपूजा के अन्य साधनों में सोने के स्नपन-कलश, अर्घपात्र, धूपपात्र, पुष्पपट्ट (यत्र वस्त्रेषु पुष्पाणि सूत्रैः क्रियन्ते स पुष्पपट्टः, शंकर १००), यष्टि-प्रदीप [चित्र २८], ब्रह्मसूत्र और शिवलिंग पर चढ़ाये जानेवाले मुखकोश प्रधान थे। मथुरा-कला में चतुर्मुख शिवलिंग, पंचमुख शिवलिंग और एकमुख शिवलिंग कुषाण-काल से ही मिलते हैं। गुप्तकाल में तो एकमुख शिवलिंग बनाने का आम रिवाज हो गया था। ज्ञात होता कि पाशुपत शैवधर्म की यह विशेषता थी। वस्तुतः, पत्थर के शिवलिंग में ही मुख-विग्रह बनाया जाता था। उसी परम्परा में शिवलिंग पर सोने के मुखकोश या खोल चढ़ाने की प्रथा प्रचलित हुई जान पड़ती है। इनपर मुख की आकृति बनी होने के कारण ये आवरण मुखकोश कहे जाते थे।

इसके आगे राजा पुष्पभूति द्वारा वेताल साधना करने का वर्णन है। इस काम में उसका सहायक भैरवाचार्य नामक दाक्षिणात्य महाशैव और उसके शिष्य थे। राजा ने भैरवाचार्य के विषय में सुना और उससे मिलने को इच्छुक हुआ। एक दिन सायंकाल प्रतीहारी ने राजा से निवेदन किया—'देव, भैरवाचार्य के पास से एक परिव्राट् आपसे मिलने आये हैं।' यह

लगी थी।[1] एक सिरे से बायें हाथ में पकड़े हुए बाँस के दूसरे सिरे से कंधे के पीछे लटकती हुई झोली (योगभारक, १०२) थी। झोली का ऊपरी सिरा बालों की बटी हुई रस्सी से बँधा था। उसी में मिट्टी छानने के लिए बाँस की पतली तीलियों की बनी चलनी बँधी थी।[2] बाँस के सिरे पर कौपीन लटका था। झोली के भीतर खजूर के पत्तों के पिटार में भिक्षा-कपाल रखा था : खजूरपुटसमुद्गगर्भीकृतभिक्षाकपाल (१०१)। लकड़ी के तीन फट्टों को जोड़कर बने हुए त्रिकोण के भीतर कमंडलु रखा हुआ था और उस त्रिकोण के तीन फट्टों में तीन डंडियाँ लगी थीं, जिनसे वह बाँस से लटका हुआ था।[3] झोली के बाहर खड़ाऊँ लटक रही थी [चित्र ३०]। कपड़े की मोटी किनारी की डोरी से बँधी हुई पोथियों की पूली योगभारक में रखी थी।[4] उसके दाहिने हाथ में वेत्रासन (बेंत की चटाई) थी।' राजा ने उचित आदर के बाद उससे पूछा—'भैरवाचार्य कहाँ हैं ?' उसने उत्तर दिया—'सरस्वती के किनारे शून्यायतन के बाहर ठहरे हैं', और यह कहकर भैरवाचार्य के भेजे हुए पाँच चाँदी के कमल झोली में से निकालकर राजा को दिये। राजा ने उन्हें लेकर कहा —'कल मैं उनके दर्शन करूँगा।' दूसरे दिन प्रातःकाल ही घोड़े पर चढ़कर कई राजपुत्रों को साथ लेकर वह भैरवाचार्य से मिलने चला। कुछ दूर चलने पर वही साधु आता हुआ मिला और उसने बताया कि भैरवाचार्य यहीं पुराने देवी के मन्दिर के उत्तर बिल्ववाटिका में आसन लगाये हैं। पुष्पभूमि ने भैरवाचार्य के दर्शन किये।

बाण ने भैरवाचार्य के वर्णन में अपने समकालीन शैवाचार्यों का ज्वलन्त चित्र खींचा है—'वह बहुत-से साधुओं के बीच में घिरा, प्रातःस्नान, अष्टपुष्पिका द्वारा शिवार्चन[5]

---

१. हृदयमध्यनिबद्धग्रन्थिना धातुरसारुणेन कर्पटेन कृतोत्तरासङ्गम् (१०१)।

२. मिट्टी छानने की आवश्यकता स्पष्ट नहीं है। संभव है, मिट्टी के शिवलिंग बनाने के लिए मिट्टी चालने की आवश्यकता हो।

३. दारवफलकत्रयत्रिकोणत्रियष्टिनिर्विष्टकमण्डलुना (१०१)।

४. स्थूलदशासूत्रनियन्त्रितपुस्तिकापूलिकेन, यह पद महत्त्वपूर्ण है। इसमें पुस्तकों की कल्पना गोल लपेटे हुए रूप में की गई है, जैसे आजकल जन्मकुण्डली लपेटकर रखते हैं। वस्तुतः, ईरान में चमड़े पर लिखी पुस्तकें कुण्डली बनाकर रखी जाती थीं। चीन में हस्तलिखित ग्रन्थ भी इसी रूप में रहते थे (मैन्युस्क्रिप्ट रोल्स)। यहाँ बाणभट्ट का संकेत इसी प्रकार की बेलनाकार लपेटी हुई पोथियों की ओर है।

५. अष्टपुष्पिका पूजा का वर्णन पहले पृ० १६ पर हो चुका है।

पर भस्म लगी हुई थी। माथे पर शिकन पड़ने से भौहों के बाल मिलकर एक भ्रूलेख बना रहे थे। पुतली कच्चे काँच की तरह गूगली या पीले रंग की थी। नाक का अग्रभाग झुका हुआ था। ओष्ठ नीचे लटका हुआ था। कान की लंबी पालियों में स्फटिक के कुंडल लटक रहे थे : प्रलम्बश्रवणपालीप्रेङ्खितस्फटिककुण्डल (१०३)। एक हाथ में लोहे के कड़े में पिरोया हुआ शंख का टुकड़ा पहने था, जिसमें कुछ ओषधि, मन्त्र और सूत्र के अक्षर लिखकर बाँधे हुए थे। दाहिने हाथ में रुद्राक्ष की माला थी। छाती पर दाढ़ी (कूर्चकलाप) लहरा रही थी। पेट पर बलियाँ पड़ी हुई थीं। क्षौम का कौपीन पहने था। पर्यंक-बंध में बैठी हुई मुद्रा में टाँगों को योगपट्ट से कसकर बाँध रखा था। पैरों के पास श्वेत खड़ाउँओं का जोड़ा रखा हुआ था। पास में बाँस का बैसाखी डंडा था, जिसके सिरे पर टेढ़ी लोहे की कीथ जड़ी हुई थी, मानों अंकुश हो।[1]

इस प्रसंग में निम्नलिखित संकेत सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। १. असुर-विवर-प्रवेश (१०२), इसका उल्लेख बाण ने कई जगह किया है। असुर-विवर-साधना करनेवाले आचार्य वातिक कहलाते थे (९७)। यहाँ बाण ने स्वयं लिखा है कि असुर-विवर में प्रवेश करने के लिए पाताल या भूमि में बने हुए किसी गहरे गड्ढे में उतरा जाता था : पातालान्धकारावासं (१०३)। यह कोई बीभत्स तांत्रिक प्रयोग था। वेताल-साधन इसका मुख्य अंग था। इस प्रकार की भीषण क्रियाओं का शैवधर्म के साथ किसी तरह जोड़-तोड़ लग गया था।

२. **महामांस-विक्रय—यह प्रथा** पहली से भी अधिक बीभत्स और भीषण थी। श्मशान में जाकर शवमांस लेकर फेरी लगाते हुए भूत पिशाच आदि को प्रसन्न करते थे।[2]

---

१. शिखरनिखातकुब्जकालायसकण्टकेन वैणवेन विशाखिकादण्डेन (१०४)। कादम्बरी में भी महाश्वेता की गुफा के वर्णन में विशाखिका का वर्णन है, जिसके सिरे पर नारियल की जटाओं के बने हुए चप्पल लटका दिये गये थे। इस प्रकार के चप्पल चीनी तुर्किस्तान (मध्य एशिया) की खोज में श्री ओरेल स्टाइन को मिले हैं।

२. देखिए, महामांसविक्रय पर श्रीसदानन्द दीक्षित का लेख, इंडियन हिस्ट्री काँगरेस प्रोसीडिंग्ज, बम्बई, १९४७, पृ० १०२, १०६।

इस प्रकार की कराल क्रियाएँ कापालिक संप्रदाय में प्रचलित थीं। ये लोग अपने-आपको महाव्रती कहते थे। बाण के अनुसार महाकाल शिव के उत्सव में महामांस-विक्रय करते हुए कुमार को वेताल ने मार डाला (१९९)। कापालिक-व्रत को जगद्धर ने मालतीमाधव, अंक १ की टीका में महाव्रत कहा है। बाण के समय में कापालिक-मत का खूब प्रचार हो गया था। पुलकेशिन् द्वितीय के भतीजे नागवर्द्धन के नासिक जिले में इगतपुरी के समीप मिले हुए ताम्रपत्र में कपालेश्वर शिव की पूजा के लिए महाव्रतियों

शाक्त लोग महँगा मैनसिल नामक पदार्थ खरीदते थे : महामांसविक्रयक्रीतेन मनःशिलापङ्केन (१०३)।

३. सिर पर गुग्गुल जलाना : शिरोधृतदग्धगुग्गुलसन्तापस्फुटितकपालास्थि (१०३)। शैव साधक शिवपूजा के लिए गुग्गुल की बत्ती सिर पर जलाते थे, जिससे खाल और मांस जलकर हड्डी तक दिखाई देने लगती थी।

४. महामंडलपूजा—अनेक रंगों से चारों ओर महामंडल बनाकर साधना करना। मातृकाओं और कुबेर की पूजा मंडल बनाकर की जाती थी।

५. शैवसंहिता—शैवसंहिताएँ बाण के समय बन चुकी थीं, इसका स्पष्ट उल्लेख यहाँ आया है।

६. स्फटिककुंडल—कानों की लम्बी पाली फाड़कर उनमें बिल्लौर के कुंडल पहननेवाले कनफटे साधुओं का सम्प्रदाय सातवीं शती में कापालिकों के साथ जुड़ा हुआ था।[1]

७. कूपोदञ्चनघटीयन्त्रमाला (१०४)—पृष्ठ ९४ पर इसे उद्घातघटी कहा गया है। दोनों शब्द रहट के लिए प्रयुक्त हुए हैं। बाण के समय से पहले ही रहट का प्रचार इस देश में हो चुका था। हमारा अनुमान है कि रहट और बावड़ी दो प्रकार के विशेष कुएँ शकों के द्वारा यहाँ लाये गये।[2]

सम्राट् पुष्पभूति ने बिल्ववाटिका में बैठे हुए भैरवाचार्य को साक्षात् शिव की तरह देखा। राजा को देखकर भैरवाचार्य ने शिष्यों के साथ उठकर श्रीफल दिया और स्वस्ति शब्द का उच्चारण किया। राजा ने प्रणाम किया और भैरवाचार्य ने व्याघ्रचर्म पर बैठने के लिए कहा। पुष्पभूति पास में ही दूसरे आसन पर बैठे। कुछ देर बातचीत के बाद राजा अपने स्थान पर लौट आये। अगले दिन भैरवाचार्य उससे मिलने गये और उचित उपचार के बाद वापस आये। एक दिन भैरवाचार्य का शिष्य राजा के पास श्वेत वस्त्र से ढकी हुई एक तलवार लेकर आया और बोला—'यह अट्टहास नामक तलवार है, जिसे आचार्य के पातालस्वामी नामक एक ब्राह्मण शिष्य ने ब्रह्मराक्षस के हाथ से छीना है। यह आपके योग्य है, लीजिए।' उस तलवार पर नीली झलक का पानी था। उसके कुछ हिस्से पर दाँत बने हुए थे : दृश्यमानविकटदन्तमण्डलम् (१०७)। उसके लोहे पर तेज धार चमक रही थी (प्रकाशितधारासारम्)। उसमें मजबूत मूठ लगी थी। राजा उसे लेकर प्रसन्न हुए। समय बीतने पर भैरवाचार्य एक दिन एकान्त में राजा से मिले और

---

१. गोरखनाथ ने आगे चलकर कनफटे योगियों के संप्रदाय में से इन वीभत्स क्रियाओं को हटाकर संप्रदाय को बहुत कुछ शुद्ध बनाया।

२. बावड़ी (गुजराती वाव) के लिए प्राचीन नाम शकन्धु (शक देश का कुँआ) और

तीन साथी और होंगे—एक वही टीटिभ नाम का मस्करी साधु, जो आपके पास आता है। दूसरा वह पातालस्वामी ब्राह्मण और तीसरा मेरा ही शिष्य कर्णताल नाम का द्राविड़।' पुष्पभूति ने प्रसन्न होकर इसे स्वीकार किया। भैरवाचार्य ने कहा—'आगामी कृष्ण-चतुर्दशी की रात्रि को महाश्मशान के समीपवाले शून्य मन्दिर में आप साथ में केवल तलवार लेकर मुझसे मिलिए।' कृष्ण-चतुर्दशी आने पर शैवविधि से दीक्षित होकर राजा हाथ में तलवार ले, नीले वस्त्र पहने हुए, अकेला ही नगर से निकल उस स्थान पर आया। उन तीनों ने राजा का स्वागत किया, जैसे महाभारत के सौप्तिकपर्व में अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा मिले थे। वे विकट वेश धारण किये, माला पहने हुए, शिखा में फूल गूँथे हुए थे। उनके माथे पर उष्णीषपट्ट से बीचोंबीच ऊँची स्वस्तिका ग्रंथि बँधी थी। एक कान के छेद में श्वेत दन्तपत्र और दूसरे में रत्नकुंडल था। हाथ में तलवार और ढाल लिये हुए थे। ढाल पर अर्द्धचन्द्र और सोने की बुँदकियाँ (बुद्बुदावली ११०) बनी हुई थीं। कमर में सोने की करधनी से नया वस्त्र कसकर बाँधा हुआ था और उनमें छुरी खोंसी हुई थी।

राजा उनके साथ साधना-भूमि में गये, जहाँ पूजा-दीपक, गूगल का धूम और रक्षासर्षप पहले से रखे थे। वहाँ भस्म से महामंडल बनाकर उसके बीच में भैरवाचार्य बैठा हुआ था। लाल चन्दन, लाल माला और लाल वस्त्र से अलंकृत शव की छाती पर बैठकर उसके मुँह में अग्नि जलाकर हवन कर रहा था और स्वयं काली पगड़ी, काला अंगराग, काली राखी (हस्तसूत्र) और काले वस्त्र पहने हुए काले तिलों से आहुति दे रहा था। मुख से कुछ जप रहा था। पास में बहुत-से दिये जला रखे थे। कन्धे से ब्रह्मसूत्र लटक रहा था। इस प्रसंग में बाण ने उत्प्रेक्षा से प्रेतमुख अग्नि में रक्त की आहुति डालने का भी उल्लेख किया है। दूसरा महत्त्वपूर्ण उल्लेख विद्याराज ब्रह्मसूत्रों का है। बाण के युग में ब्रह्मसूत्र या वेदान्तसूत्र नवीन प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहे थे। उनके लिए समस्त विद्याओं के राजा की पदवी प्रयुक्त की जाती थी। विभिन्न दर्शनों में ब्रह्मसूत्रों का पद सबसे ऊँचा उठ गया था। विद्याराज को शंकर ने मंत्रविशेष भी लिखा है। बौद्ध लोग महामायूरी आदि पंचरक्षा-स्तोत्रों को विद्याराज्ञी या विद्याराज मानते थे। सम्भव है, उसीके समकक्ष ब्राह्मण-धर्म के कुछ मंत्र या स्तोत्र भी अलग चुनकर विद्याराज पद से सम्मानित किये गये।[1]

जिस समय भैरवाचार्य साधना में लगा था, पातालस्वामी पूर्व में, कर्णताल उत्तर में, टीटिभ पश्चिम में और पुष्पभूति दक्षिण में पहरा देने लगे। बाण ने लिखा है कि उस समय एक चमत्कार हुआ। मंडल से उत्तर की ओर थोड़ी दूर पर धरती फट गई और

१. कालान्तर में गीता, [illegible]

के फूलों की माला थी और गले में भी पुष्पमाला थी; शरीर पर जहाँ-तहाँ चन्दन के थापे लगे हुए थे, नीला चंडातक पहने था और कच्छ बाँधकर धरती तक नीची सफेद लम्बी पटली लटकाये हुए था। बाँया हाथ मोड़कर छाती पर रखे हुए, दाहिना हाथ तिरछा फेंकते हुए, दाहिनी जाँघ मोड़कर उसपर थपोड़ी मारते हुए काला भुजंग जैसा उसका रूप था (११२)। उसने कहा—'मैं श्रीकंठ नाग हूँ। मेरे ही नाम से यह देश श्रीकंठ कहलाता है।' उसने भैरवाचार्य को ललकारा—'विद्याधरी के पीछे भागनेवाले दुर्बुद्धि, मुझे बलि दिये विना तू सिद्धि चाहता है।' यह कहकर प्रचंड मुक्कों की मार से भागते हुए टीटिभ आदि को गिरा दिया। किन्तु, पुष्पभूति ने निडर भाव से उसे ललकारा और अर्द्धोरुक पर कच्छ बाँधकर बाहुयुद्ध के लिए आगे बढ़ा। श्रीकंठ नाग भी पट्ठों पर ताल दे उससे भिड़ गया। राजा ने उसे दे मारा; किन्तु उसकी वैकक्षक माला के नीचे यज्ञोपवीत देखकर ठिठक गया। इतने में ही क्या देखता है कि सामने से एक स्त्री आ रही है। उसके हाथ में कमल था। नूपुर गुल्फ तक चढ़े हुए थे [चित्र ३१]। नीचे घनी कटकावली थी। शरीर पर श्वेत अंशुक वस्त्र तरंगित था, जिसमें तरह-तरह के फूल और पत्ती कढ़े हुए थे : बहुविधशकुनिशतशोभितात् पवनचलिततनुतरङ्गात् अतिस्वच्छादंशुकात् (११४) [चित्र ३२]। हृद्देश में हार और कान में दन्तपत्र का कुंडल था, जो आकृति में द्वितीया के चन्द्रमा की तरह जान पड़ता था। कान में अशोक के किसलय का अवतंस था। माथे पर एक बड़ी टिकुली थी, जो देखने में पद्मातपत्र के छायामंडल-सी जान पड़ती थी। मथुरा-कला में इस प्रकार की माथे पर गोल टिकुली से युक्त लगभग छठी शताब्दी का स्त्री-मस्तक मिला है। गले में पड़ी फूल-मालाएँ धरती तक लटक रही थीं : धरणितलचुम्बिनीभिः कण्ठकुसुममालाभिः।

राजा ने उससे पूछा—'भद्रे' तू कौन है और क्यों प्रकट हुई है?' उसने उत्तर दिया—'हे वीर, मैं लक्ष्मी हूँ। तेरे शौर्य से प्रसन्न होकर आई हूँ। यथेष्ट वर माँग।' लक्ष्मी के वर्णन में दो उत्प्रेक्षाएँ शिल्पकला से ली गई हैं। उसे सुभट के भुजारूपी जयस्तम्भ पर शोभित होनेवाली शालभंजिका कहा गया है और श्वेतराजच्छत्र के वन की मोरनी बताया गया है। शालभंजिका शब्द का इतिहास बहुत पुराना है। आरम्भ में यह स्त्रियों की एक क्रीडा थी। खिले हुए साल के नीचे एक हाथ से उसकी डाल झुलाकर फूल चुनकर स्त्रियाँ परस्पर यह खेल खेलती थीं। पाणिनि की अष्टाध्यायी में प्राचां क्रीडायां (६, ७, ७४) नित्यं क्रीडाजीविकयोः (२, २, १७) और संज्ञायां (३, ३, १०६) सूत्रों के उदाहरणों में शालभंजिका, उद्दालकपुष्पभंजिका आदि कई क्रीडाओं के नाम आये हैं, जो पूर्वी भारत में प्रचलित थीं। वात्स्यायन की जयमंगला टीका में इनका विस्तार से वर्णन किया गया है।

कुषाणकालीन वेदिका-स्तम्भों पर बहुतायत से मिलती हैं। उनके लिए स्तम्भ-शालभंजिका शब्द रूढ़ हो गया। खम्भे पर बनी हुई स्त्रीमूर्त्ति के लिए चाहे वह किसी मुद्रा में हो, यह शब्द गुप्तकाल में चल गया था। कालिदास ने स्तम्भों पर बनी योषित-मूर्त्तियों का उल्लेख किया है, यद्यपि शालभंजिका शब्द का प्रयोग उन्होंने नहीं किया।[१] इसी विकसित अर्थ में बाण ने स्तम्भशालभंजिका शब्द का प्रयोग किया है [चित्र ३३]। श्वेतराजच्छत्ररूपी वन की मोरनी यह उत्प्रेक्षा गुप्तकालीन छत्रों और छत्रों की अनुकृति पर बने छायामंडलों से ली गई है, जिनमें कमल के फूल-पत्ते (पत्रलता) के बीच में मोर-मोरनी की भाँति का अलंकरण बनाया जाता था।[२] [चित्र ३४]

राजा ने लक्ष्मी से भैरवाचार्य की सिद्धि के लिए वर माँगा। उसे देखकर देवी ने राजा की भगवान् भट्टारक शिव के प्रति असाधारण भक्ति से प्रसन्न होकर दूसरा वरदान दिया—'तुम महान् राजवंश के संस्थापक बनोगे, जिसमें हरिश्चन्द्र के समान सर्वद्वीपों का भोक्ता हर्ष नाम का चक्रवर्त्ती जन्म लेगा।' इसके बाद भैरवाचार्य शरीर छोड़कर विद्याधर-योनि को प्राप्त हुआ। श्रीकंठ नाग यह कहकर कि समय पड़ने पर मुझे आज्ञा दीजिएगा, भूमि-विवर में घुस गया। टीटिभ नाम का परिव्राट् वन में चला गया। पातालस्वामी और कर्णताल सम्राट् के सुभट-मंडल में सम्मिलित हो गये।



---

१. अवलम्ब्य गवाक्षपार्श्वमन्या शयिता चापविभुग्नगात्रयष्टिः।

पुष्पभूति से एक राजवंश चला। उसमें अनेक राजा हुए। क्रम से उसी वंश में प्रभाकरवर्द्धन नाम का राजाधिराज हुआ। उसका दूसरा नाम प्रतापशील था। मधुवन में मिले ताम्रपट्ट में हर्ष के पूर्वजों की निम्नलिखित परम्परा दी है :

नरवर्द्धन........वज्रिणी देवी
राज्यवर्द्धन........अप्सरादेवी
आदित्यवर्द्धन...महासेनगुप्ता देवी
प्रभाकरवर्द्धन
(महाराजाधिराज)...यशोमती देवी

आश्चर्य है, बाण ने प्रभाकरवर्द्धन के तीन पूर्वजों का उल्लेख नहीं किया। प्रभाकरवर्द्धन ने ही स्थाण्वीश्वर के छोटे से राज्य को बढ़ाकर महाराजाधिराज की पदवी धारण की। बाण ने उन्हें राजाधिराज लिखते हुए उनकी विजयों का ब्यौरा दिया है। वह हूणरूपी हिरन के लिए केसरी, सिन्धुदेश के राजा के लिए ज्वर, गान्धारनृपति-रूपी मस्त हाथी के लिए जलता हुआ बुखार, गुर्जर को चैन से न सोने देनेवाला उन्निद्र रोग, लाटदेश की शेखी का अंत करनेवाला यमराज और मालवराजलक्ष्मी-रूपी लता के लिए कुठार था। इन्हीं विजयों के कारण उसका प्रतापशील नाम पड़ा। हूणों के साथ प्रभाकरवर्द्धन की भिड़ंत कश्मीर के इलाके में हुई होगी। सम्भव है, सिन्धुराज के साथ उसका खुला संघर्ष हुआ हो, किन्तु उसको अन्तिम रूप से जीतकर अपने राज्य में मिलाने का काम हर्ष ने किया, जैसा बाण ने अन्यत्र लिखा है : सिन्धुराजं प्रमथ्य लक्ष्मीरात्मीकृता (९१)। गांधारदेश में उस समय कुषाण-शाहियों का राज्य जान पड़ता है। वे प्रभारकरवर्द्धन के बढ़ते हुए प्रताप से भयभीत हुए हों, ऐसा संभव है। गांधार को अपने राज्य में मिलाने का उल्लेख स्पष्ट नहीं है। इसी प्रकार भिन्नमाल के गुर्जर और लाटदेश के लिए भी प्रभाकरवर्द्धन का सम्बन्ध भयकारी ही था। हाँ, मालवा को उसने अवश्य अपने राज्य में मिला लिया था। इसीलिए, मालवराज के दो पुत्र कुमारगुप्त और माधवगुप्त उसके दरबार में भेजे गये थे। हर्ष ने जिस कुमार का अभिषेक किया था, वह भी मालवराज-सूनु कुमारगुप्त ही विदित होते हैं : अत्रदेवेन अभिषिक्तः कुमारः (९१)। विदित होता है कि मालवयुद्ध में मालवा का राजा मारा गया था। उसके बचे हुए कुमारों के साथ प्रभाकरवर्द्धन ने मृदु व्यवहार किया।[1] प्रभाकरवर्द्धन की सेना के यात्रापथों से मानों पृथ्वी चारों दिशाओं में अधीन राजाओं (भृत्यों) में बाँट दी गई थी। उसका प्रताप मारे हुए शत्रु महासामन्तों के अन्तःपुर में फैल गया था। उसके राज्य में चूने से पुते हुए अनेक देवालय सुशोभित थे, जिनके शिखरों पर धवल ध्वजाएँ फहराती थीं। गाँवों के बाहर सभा, सत्र, प्रपा, मंडप आदि अनेक संस्थाएँ निर्मित हुईं। प्रभाकरवर्द्धन की महादेवी का

एक बार ग्रीष्मकाल में राजा यशोवती के साथ सुधा धवलित महल के ऊपर सोये हुए थे। सहसा देवी यशोवती चौंककर उठ बैठीं। राजा के पूछने पर उसने कहा; मैंने स्वप्न में सूर्यमंडल से निकलकर आते हुए दो कुमारों को एक कन्या के साथ पृथ्वी-तल पर उतरते हुए देखा और वे मेरे उदर में प्रविष्ट हुए। इसी समय तोरण के समीप प्रभात-शंख बजा। दुंदुभियाँ बजने और प्रातः काल का नांदीपाठ होने लगा। प्रबोध-मंगल-पाठ 'जय-जय' शब्द का उच्चारण करने लगे। कालिदास ने भी प्रातःकाल मंगलश्लोक गाकर राजाओं को उठानेवाले वैतालिकों का उल्लेख किया है (रघुवंश, ५।६५)।

कुछ समय बीतने पर यशोवती ने गर्भ धारण किया। गुर्विणी अवस्था में सखियाँ उसे किसी प्रकार हाथ का सहारा देकर देव-वन्दना के लिए ले जातीं। समीप के स्तम्भों के सहारे विश्राम करती हुई वह शालभंजिका-जैसी जान पड़ती थी। स्तम्भशालभंजिका का अभिप्राय-निरूपण ऊपर हो चुका है। दसवाँ मास लगने पर राज्यवर्धन का जन्म हुआ और राजा की आज्ञा से एक महीने तक जन्म उत्सव मनाया गया। पुनः कुछ समय बीतने पर यशोवती ने हर्ष को इस प्रकार गर्भ में धारण किया, जिस प्रकार देवी देवकी ने चक्रपाणि विष्णु को (१२६)। दिन में जिस पलंग पर वह सोती थी, उसपर पत्रभंग के साथ पुतलियाँ बनी हुई थीं, जिनका प्रतिबिम्ब उसके कपोलों पर पड़ता था : अपाश्रय-पत्रभङ्गपुत्रिकाप्रतिमा, १२७)।[1] रात्रि के समय सौधशिखर पर बने हुए जिस वासभवन में वह सोती थी, उसकी भित्तियों पर चित्र बने थे और उन चित्रों में चामरग्राहिणी स्त्रियाँ लिखी गई थीं, जो उसके ऊपर चँवर डुलाती जान पड़ती थीं। जब वह जगती, तो चन्द्र-शालिका[2] में उत्कीर्ण शालभंजिका-रूपी स्त्रियाँ मानो उसका स्वागत करती थीं। उसके मन में यह दोहद-इच्छा हुई की चार समुद्रों का जल एक में मिलाकर स्नान करूँ और समुद्र के वेलाकुंजों में भ्रमण करूँ। नंगी तलवार के पानी में मुँह देखने की, वीणा अलग हटाकर धनुष का टंकार सुनने की और पंजरबद्ध केसरियों को देखने की इच्छा हुई। उसके ग्रीवासूत्र में प्रशस्त रत्न बँधे हुए थे। तब ज्येष्ठ महीने में कृत्तिका-नक्षत्र में, कृष्णपक्ष की द्वादशी में प्रदोष समय बीतने पर रात्रि के प्रारम्भ में हर्ष का जन्म हुआ। इसका समाचार यशोवती की प्रेमपात्री धात्री-सुता सुयात्रा ने राजा को दिया। सम्राट् ने तारक नाम के ज्योतिषी को बुलाकर ग्रह दिखलाये। बाण के अनुसार यह गणक भोजक, अर्थात् मग जाति का था।[3]

---

१. अपाश्रय...पलंग : शंकरः। पत्रभङ्ग—फूल-पत्तियों के कटाव।

२. चन्द्रशालिका सालभञ्जिकापरिजनः जयशब्दमसकृदजनयत् (१२७)।

३. भोजकाः रविमर्चयित्वा पूजका हि भूयसा गणका भवन्ति, ये मगा इति प्रसिद्धाः (शंकर)। भविष्यपुराण में कथा है कि कृष्ण के पुत्र साम्ब दुर्वासा के शाप से कुष्ठी हो गये। सूर्य की उपासना करने से वे अच्छे हुए। तब साम्ब ने एक सूर्य का मन्दिर बनवाया और शाकद्वीप से मगों के अठारह परिवारों को अपने साथ [illegible]

कुषाण-काल के आरंभ में सूर्य-पूजा का देश में अत्यधिक प्रचार हुआ। इसमें ईरानी शकों का प्रभाव मुख्य कारण था। सूर्य की मूर्ति, उसका उदीच्य वेश और पूजाविधि इन सब पर ईरानी प्रभाव पड़ा। विष्णुधर्मोत्तरपुराण और वराहमिहिर की बृहत्संहिता में ईरानी प्रभाव का स्पष्ट उल्लेख है। सूर्य की 'अव्यंग' नामक पारसी पेटी का भी उल्लेख आया है। इस युग के ज्योतिषशास्त्र पर भी पारसीक यवन रोमक-सिद्धान्तों का काफी प्रभाव हुआ। शाकद्वीपी मग ब्राह्मण सूर्य-मन्दिरों की प्रतिष्ठा कराते थे और वे ही सम्भवतः ज्यौतिष का काम भी करते थे। बाण ने तारक नाम के गणक को सब ग्रह-संहिताओं में पारंगत कहा है। इन संहिताओं में वराहमिहिर की बृहत्संहिता एवं अन्य आचार्यों के सिद्धान्त ग्रंथ सम्मिलित रहे होंगे। बृहत्संहिता में ज्यौतिष के तीन अंग कहे हैं—ग्रहगणित, संहिता और होराशास्त्र, और लिखा है कि संहिता में पारंगत ही दैवचिन्तक होता है। बृहत्संहिता के दूसरे अध्याय में संहिता के विषयों की लंबी सूची दी गई है। उस ज्योतिषी ने ग्रह देखकर बताया कि 'सब ग्रह उच्च के हैं।[१] मान्धाता के बाद आजतक किसी ने भी इस प्रकार के चक्रवर्ती योग में जन्म नहीं लिया। आपका यह पुत्र सात चक्रवर्तियों में अग्रणी, चक्रवर्त्ती-चिह्नों से युक्त, चक्रवर्त्तियों के सात रत्नों का भाजन [चित्र ३५], सप्त समुद्रों का पालनकर्त्ता, सब यज्ञों का प्रवर्त्तक और सूर्य के समान तेजस्वी होगा।'

हर्ष के जन्म के समय धूमधाम से पुत्रोत्सव मनाया गया। उसका बाण ने ब्योरे के साथ वर्णन दिया है—'शंख, दुंदुभी, मंगलवाद्य और पटह बजने लगे। घोड़े हर्ष से हींसने लगे, हाथी गरजने लगे, दिव्य वायु बहने लगी, यज्ञशालाओं में वैतान अग्नियाँ प्रज्वलित हुईं। सुवर्ण-शृंखला से बँधी हुई कलसियों के रूप में महानिधियाँ पृथ्वीतल से प्रकट हुईं। ब्राह्मण वेदोच्चारण करने लगे। पुरोहित शान्तिजल हाथ में लेकर उपस्थित हुआ। बड़े-बूढ़े रिश्तेदार एकत्र हुए। कारागार से बन्दी मुक्त किये गये : मुक्तानि बन्धनवृन्दानि (१२६)। प्रसन्न हुए लोगों ने मारे खुशी के बनियों की दूकानें लूट लीं जो कि भागते हुए अधर्म की पैंठ-सी जान पड़ती थीं। महलों में वामन आदि परिचारकों से घिरी हुई बूढ़ी धात्रियाँ नाचने लगीं; जान पड़ता था बालकों से घिरी हुई साक्षात् मातृकासंज्ञक देवियाँ हों। राजकुल के नियम शिथिल कर दिये गये। प्रतिहार लोगों ने अपना वेश और डंडे उतारकर रख दिये और सब लोग बेरोक-टोक अन्तःपुर में आने-जाने लगे।' इस प्रसंग में लोगों द्वारा जो महाजनों की दूकानें लूटने का उल्लेख है; संभव है, राज्य की ओर से उस हानि की भरपाई की जाती हो। कारागार से बन्धनमुक्ति ऐसे विशेष अवसरों पर पुरानी प्रथा थी। जातमातृदेवी की आकृति सोहर में बनाई

में आकर भाँति-भाँति से नृत्य करने लगीं। उनके साथ अनेक नौकर-चाकर थे, जो चौड़ी करंडियों में स्नानीय चूर्ण से छिड़की हुई फूलों की मालाएँ और तश्तरियों में कपूर के श्वेत खंड लिये थे। कुमकुम से सुगन्धित अनेक प्रकार के मणिमय पात्र थे। हाथी दाँत की छोटी मंजूषाओं (दन्तशफरुक) में चंदन से धवलित पूगफल और आम्र के तैल [2] से सिक्त खदिर के केसर रखे थे। सुगन्धित द्रव्यों के चूर्ण से भरी हुई लाल थैलियाँ (पारिजात-परिमलानि पाटलानि पोटलिकानि [3], १३०), सिंदूर की डिब्बियाँ, पिष्टातक [4] या पटवा-सकचूर्ण से भरे पात्र (सिन्दूरपात्राणि पिष्टातकपात्राणि, १३०) और लटकते हुए बीड़ों से लदे हुए छोटे-छोटे तांबूल के झाड़ लिये हुए परिजन लोग चल रहे थे (१३०)।"

शनैः-शनैः उत्सव में कुछ और गमक पैदा हुई। रनिवास के छोटे-बड़े सब लोग विभोर होकर आनन्दमग्न हो नाचने लगे। ऐसा सूक्ष्म चित्र केवल बाण की लेखनी से ही खींचा जाना संभव था--

१. नृत्य का जिन्हें अभ्यास न था, ऐसे पुराने वंशों के शर्मालु कुलपुत्र भी राजा के प्रेम से नाचने लगे।

२ राजा की मंद हँसी का संकेत पाकर मतवाली क्षुद्र दासियाँ सम्राट् के प्रिय पात्रों को खींचकर नाचने लगीं।

३. मतवाली कटक-कुट्टनियाँ को आर्य सामन्तों के कंठ में हाथ डाले देख राजा भी हँस पड़े।

४. राजा की आँख का इशारा पाकर पाजी छोकरे गीत गा-गाकर सचिवों के गुप्त प्रेम की पोल खोलने लगे।

५ मदमस्त कुटहारिका या कुम्भदासी नामक पताका-वेश्याएँ बूढ़े साधुओं से लिपटकर लोगों को हँसने लगी।

---

१. नानार्थार्णवसंक्षेपकोश, १।४००; काशीखंड, अध्याय ६७ में भी चर्चिका देवी के मन्दिर का उल्लेख है। परमार राजा नरवर्मदेव के भिलसा-शिलालेख में चर्चिका देवी की स्तुति दी हुई है और उसके लिए मन्दिर बनवाने का उल्लेख है। वह परमारों की कुलदेवी थीं।—भंडारकर-लेखसूची १६७८; वेस्टर्न सर्किल की पुरातत्त्व-रिपोर्ट, १९१३-१४, पृ० ५९।

२. बाण ने और भी कई जगह सहकार से बनाये हुए तैल का उल्लेख किया है।

३. पारिजातसुगन्धिद्रव्यचूर्णम् (शंकर)। यह पारिजातक-चूर्ण सहकार, चंपक, लवली, लवंग, कक्कोल, एला और कपूर के मिश्रण से बनता था, जिसकी सुगंधि अत्यन्त तीव्र होती थी। बाण ने अन्यत्र (पृ० २२, ६६) इसका उल्लेख किया है।

४. यहाँ बाण ने तीन प्रकार के सामान का उल्लेख किया है। पारिजातक नामक सुगन्धित चूर्ण की लाल रंग की थैलियाँ, सिंदूर-भरी डिब्बियाँ और पिष्टातक या चावल के सूखे आटे [illegible]

६. एक दूसरे से लाग-डाँट करनेवाले नौकरों के झुंड आपस में गाली-गलौज करते हुए भिड़ गये।

७. नृत्य में अनभिज्ञ, पर रनिवास की महिलाओं के कहने से जबरदस्ती नाचते हुए अन्तःपुर के प्रतिहारी दासियों के साथ नृत्य में सम्मिलित हो गये (१३०)।

इस प्रकार फूलों के ढेरों से, मद्य के परनालों से, पारिजात की सुगन्धि से, कपूर की धूल से, नगाड़ों के शब्द से लोगों की कलकल से, रासमंडलियों से (रासकमण्डलैः, १३०), माथे पर चन्दन के खौर से एवं अनेक तरह के दानों से सारे रनिवास में उत्सव की भारी गमक भर गई। नवयुवक उछलते-कूदते धमा चौकड़ी मचा रहे थे। चारण ताल के साथ नृत्य कर रहे थे। खेलते हुए राजकुमारों के परस्पर धक्कामुक्की करने से आभरण टूटकर मोती बिखर गये थे। सिन्दूर रेणु, पटवास-धूलि और पिष्टातक-पराग चारों ओर उड़ रहा था।

महलों में स्थान स्थान पर वारविलासिनी स्त्रियाँ आलिंग्यक, वेणु, झल्लरी (झालर), तन्त्री-पटल, अलाबु-वीणा, काहल आदि अनेक बाजों के मन्द-मन्द शब्दों के साथ अश्लील रासकपदों (सीठनों) को गाती हुई सिर पर पुष्पमाला, कानों में पल्लव, माथे पर चन्दन-तिलक लगाये, चूड़ियों से भरी हुई भुजाओं को ऊपर उठाये, पैरों में पड़े हुए बाँके नूपुरों (पदहंसक) को बजाती हुई, गीतियों की तरह रागों का उद्दीपन करती हुई, अनेक भाँति से नृत्य कर रही थीं (१३१)।

इस वर्णन में कई शब्द और बाजों के नाम महत्त्वपूर्ण हैं। आलिंग्यक एक विशेष प्रकार का गोपुच्छाकृति मृदंग था, जो एक सिरे पर चौड़ा और दूसरे पर सँकरा होता था। अमरकोश (१, ७, ५) में अंक्य, आलिंग्यक और ऊर्ध्वक तीन प्रकार के मृदंग कहे हैं। कालिदास ने इन तीनों का एक साथ उल्लेख किया है (कुमारसम्भव, ११। ३६), जिससे गुप्तकाल में उनका प्रचार सिद्ध होता है [चित्र ३६]। झल्लरी आजकल की झाँझ थी। तन्त्री-पटहिका छोटा ताशेनुमा बाजा था, जिसे डोरों से गले में लटकाकर बजाते थे [चित्र ३७]। अनुत्तान अलाबुवीणा अलाबु की बनी हुई वीणा थी, जिसकी तूँम्बी नीचे की ओर होती थी। कांस्यकोशी क्वणितकाहल बाजा सम्भवतः झाँझ होता था। शंकर ने काहल को कांस्यद्वयाभिघात लिखा है। सम्भव है, यह एक नगाड़ा था, जिसका नीचे का भाग फूल का बनाया जाता था। इसकी जोड़ी नौबतखाने में बजाई जाती थी। वस्तुतः, इन बाजों के द्वारा सम्मिलित नौबत बजती हुई वारविलासिनियों के पीछे चल रही थी।

'अश्लीलरासकपदानि' का तात्पर्य अश्लील सीठनों से भरे हुए गीत है। रासक शब्द का यह उल्लेख सबसे प्राचीन है। यहाँ रासा का अर्थ स्त्रियों में गाये जानेवाले ग्राम-गीत ही ज्ञात होता है।

'काश्मीर किशोरी' पद से केसर लगे हुए शरीरवाली कश्मीर की बछेड़ियों का उल्लेख किया गया है। इससे पूर्व राजद्वार प्रकरण की तरफ काम्बोजदेशीय घोड़ों से ही आ चुकी है।

सामन्तों की स्त्रियाँ, दास-दासियाँ, वारविलासिनियाँ जन्म-महोत्सव-नृत्य में भाग ले रही थीं। उन्हीं के साथ राजमहिषियाँ भी नृत्य में कूद पड़ीं (१३३)। उनके सिर पर धवल छत्र लगे हुए थे। दोनों तरफ कन्धों से उत्तरीय के लम्बे छोर लटक रहे थे, जैसा हिंडोले पर झूलते समय होता है [चित्र ३९]।[1] वे बाँहों में सोने के केयूर पहने थीं। उनके शरीर पर लहरिया पट्टांशुक और कानों में त्रिकंटक आभूषण था। ऊपर कहा गया है कि यह आभूषण दो बड़े मोतियों के बीच में पन्ने का नग जड़कर बनाया जाता था (२२)।

इस प्रकार, जन्म-महोत्सव बीतने पर हर्ष शनैः-शनैः बढ़ने लगा। उसकी ग्रीवा में बाघ के नखों की पंक्ति सोने में जड़वाकर पहना दी गई थी [चित्र ४०]।[2] शस्त्र लिये हुए रक्षिपुरुष उसके चारों ओर तैनात रहने लगे : रक्षिपुरुषशस्त्रपञ्जरमध्यगते (१३४)। धात्री के हाथ की उँगली पकड़कर जब वह पाँच-छह कदम चलने लायक हो गया, और जब राज्यवर्द्धन छठे वर्ष में लग रहा था, तब यशोवती ने राज्यश्री को गर्भ में धारण किया। उचित समय पर रानी ने कन्या को जन्म दिया, जैसे आकाश से सुवर्णवृष्टि का जन्म होता है : महाकनकावदातां वसुधारामिव द्यौः (२३४)। बाण के पूर्व 'सुवर्णवृष्टि' का अभिप्राय साहित्य में आ चुका था। कालिदास के रघुवंश में (५, ३३) और दिव्यावदान (२१३, २२३) में आकाश से सोने का मेह बरसने का उल्लेख किया गया है। गुप्तकाल में जो अपार सुवर्णराशि फट पड़ी थी, उसकी व्याख्या के लिए सोने के मेह का अभिप्राय साहित्य में प्रचलित हुआ।

लगभग इसी समय यशोवती के भाई ने अपने पुत्र भंडि को, जिसकी आयु आठ वर्ष की थी, राज्यवर्द्धन और हर्ष के संगी-साथी के रूप में रहने के लिए दरबार में भेजा। बालक भंडि के सिर पर बाल अभी काकपक्ष के रूप में थे। बच्चों के सिर का यह केशविन्यास गुप्तकालीन कार्त्तिकेय की मूर्त्तियों में पाया जाता है [चित्र ४१]। उसके एक कान में नीलम का कुंडल था और दूसरे में मोतियों का त्रिकंटक। नीली और श्वेत आभा के मिलने से वह हरिहर की सम्मिलित मूर्त्ति-सा जान पड़ता था।[3] आधे शरीर में विष्णु और आधे में शिव की मिली हुई हरिहर-मूर्त्तियाँ, जिनका यहाँ बाण ने उल्लेख किया है, पहली बार गुप्त-कला में बनने लगी थीं। मथुरा की गुप्तकला में वे पाई गई हैं [चित्र ४२], उसकी कलाई में पुखराज का कड़ा पड़ा हुआ था। गले में, सूत्र में बँधा हुआ मूँगे का टेढ़ा टुकड़ा सिंह-नख की तरह लगता था।

प्रभाकरवर्द्धन उसे देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। राजकुमारों ने भी उसको भाई की तरह माना। क्रमशः वे यौवन को प्राप्त हुए। उनके उरुदंड, प्रकोष्ठ, दीर्घ भुजाएँ, चौड़ा

---

१. स्कन्धोभयपार्श्वलम्बमानलम्बोत्तरीयलग्ना लीलादोलाधिरूढा इव प्रेङ्खन्त्यः (१३३)।

२. हाटकबद्धविकटव्याघ्रनखपङ्क्तिमण्डितग्रीवके (१३४)।

वक्षःस्थल और ऊँचा आकार, ऐसा लगता था, मानो किसी महानगर की रचना में स्तम्भ, द्वार-प्रकोष्ठ, अर्गलादंड, कपाट और प्राकार हों (१३६)। एक बार पिता प्रभाकरवर्द्धन ने दोनों कुमारों से स्नेहपूर्वक यौवनोचित उपदेश देते हुए सूचित किया कि मैंने तुम्हारे अनुचर के रूप में मालवराजकुमार कुमारगुप्त और माधवगुप्त नाम के दो भाई नियुक्त किये हैं। यह कहकर प्रतीहार को उन्हें लाने का आदेश दिया। आगे-आगे अट्ठारह वर्ष का कुमारगुप्त और उसके पीछे माधवगुप्त उपस्थित हुए। कुमारगुप्त का मध्य भाग इस प्रकार कृश था, जैसे खराद पर चढ़ाया गया हो : उल्लिखितपार्श्वप्रकाशितकृशिम्ना मध्येन (१३८)। गुप्तकालीन मूर्त्तियों का कटि-प्रदेश गढ़कर ऐसा सुडौल बनाया जाता है, मानों खराद पर चढ़ाकर गोल किया गया हो [चित्र ४३]।[1] कालिदास ने भी इस विशेषता का उल्लेख किया है।[2] उसके बायें हाथ में माणिक्य का जड़ाऊ कड़ा था। कान में पद्मरागमणि का कर्णाभरण था। खड़ी कोरवाले केयूर में पत्रलता-सहित पुतली बनी हुई थी : उत्कोटिकेयूरपत्रभंगपुत्रिका (१३९)। माधवगुप्त उसकी अपेक्षा कुछ लम्बा और गोरा था। उसके सिर पर मालती के फूलों का शेखर था। चौड़ी छाती लक्ष्मी के विश्राम के लिए शिलापट्ट के पलंग की तरह थी, जिसपर बलेवड़ा मोटा हार गेंडुआ तकिये (गंडकउपधान = लम्बा गोल तकिया) की तरह सुशोभित था (१४०)। प्रवेश करते ही दोनों ने पृथ्वी पर लेटकर पंचांग प्रणाम किया और राजा की आँख का संकेत पाकर बैठ गये। क्षण-भर बाद प्रभाकरवर्द्धन ने उन दोनों को आदेश दिया, आज से तुम दोनों राजकुमारों के अनुगामी हुए। उन्होंने 'जो आज्ञा' कहकर सिर झुकाया और उठकर राज्यवर्द्धन और हर्ष को प्रणाम किया। इन दोनों ने भी अपने पिता को प्रणाम किया। उस दिन से वे दोनों राज्य और हर्ष के सदा पार्श्ववर्त्ती बन गये।

राज्यश्री भी नृत्य, गीत आदि कलाओं में प्रवीण होती हुई बढ़ने लगी। कुछ समय बाद उसने यौवन में पदार्पण किया। राजे दूत भेज-भेजकर उसकी याचना करने लगे। एक दिन जब प्रभाकरवर्द्धन अन्तःपुर के प्रासाद में बैठे थे, तब बाह्यकक्ष्या में नियुक्त पुरुष के द्वारा गाई जाती हुई एक आर्या उनके कान में पड़ी—'नदी जैसे वर्षाकाल में मेघों के झुकने पर अपने तट को गिरा देती है, वैसे ही यौवन को प्राप्त हुई (पयोधरोन्नमनकाले) कन्या पिता को।' उसे सुनकर राजा ने और सबको हटा दिया और पार्श्वस्थित महादेवी से कहा—'हे देवी, वत्सा राज्यश्री अब तरुणी हुई। मेरे हृदय में हर समय इसकी चिन्ता बनी रहती है। जैसे-जैसे वरों के दूत आते हैं, मेरी चिन्ता बढ़ती है। बुद्धिमान् लोग वर के गुणों में प्रायः कुलीनता पसन्द करते हैं। शिव के चरणन्यास की भाँति सर्वलोकनमस्कृत मौखरि-वंश राजाओं में सिरमौर है। उसमें भी श्रेष्ठ अवन्तिवर्मा के ज्येष्ठ पुत्र ग्रहवर्मा ने इसकी याचना की है। यदि तुम्हारी अनुमति हो, तो उसके साथ इसका

जल गिराया। ज्ञात होता है कि कन्या को वाग्दत्ता बनाने की यह उस युग की प्रचलित प्रथा थी।

प्रसन्न होकर जब ग्रहवर्मा का दूत लौट गया और विवाह के दिन निकट आये, तब राजकुल में अनेक प्रकार की तैयारियाँ होने लगीं। बाण ने विवाहोत्सव में व्यस्त राजकुल का वर्णन करते हुए पचास के लगभग भिन्न-भिन्न बातों का उल्लेख किया है। प्राचीन भारतीय साहित्य में यह वर्णन बेजोड़ है। स्वयं बाण के शताधिक वर्णनों में जो हर्षचरित तथा कादम्बरी में प्रस्तुत किये गये हैं, आसन्न विवाह-दिवसों के इस वर्णन की तुलना में रखने के लिए हमारे पास अन्य सामग्री कम ही है। इसमें ब्याह के अर्थ सैकड़ों प्रकार के काम-काज में लिपटे हुए समृद्ध भारतीय घराने का ज्वलंत चित्र खींचा गया है, जिसमें स्त्री और पुरुष, हित-मित्र और सगे-संबंधी एवं अनेक प्रकार के शिल्पी अपने-अपने अनुरूप काम करते हुए ब्याह-काज में हिस्सा बँटाते हैं। सांस्कृतिक सामग्री की दृष्टि से यह वर्णन विशेष ध्यान देने योग्य है। जैसे—

१. ब्याह के दिन पास आ गये, तो राजकुल की ओर से आमतौर पर सब लोगों की खातिर के लिए ताम्बूल (पान का बीड़ा), कपड़े में लगाने की सुगन्धि (पटवास या इत्र का फोया) और फूल बाँटे जाने लगे : उद्दामदीयमानताम्बूलपटवासकुसुमप्रसाधितसर्वलोकम् (१४२)।

२. देश-देश से चतुर शिल्पियों के झुंड-के-झुंड बुलवाये गये : सकलदेशादिश्यमानशिल्पिसार्थागमनम्।

३. राजा की ओर से जो राजपुरुष देहातों से समान बटोरने के लिए छोड़े गये थे, वे गाँववालों को पकड़-पकड़कर अनेक प्रकार का सामान लदवाकर ला रहे थे : अवनिपालपुरुषगृहीतसमग्रग्रामीणानीयमानोपकरणसम्भारम्।

४. अनेक राजा जो तरह-तरह का सामान लाये, उसे प्रभाकरवर्द्धन के दौवारिक ला-लाकर रख रहे थे : राजदौवारिकोपनीयमानानेकनृपोपायनम्।

५. राजा के विशेष प्रियपात्र लोग उन रिश्तेदारों को आदरपूर्वक ठहराने के काम में व्यस्त थे, जो निमंत्रित होकर आये थे : उपनिमन्त्रितागतबन्धुवर्गसंवर्गणव्यग्रराजवल्लभम्।

६. उत्सव में ढोल बजानेवाले ढोलिया चमार को पीने के लिए शराब दी गई थी। उसके नशे में धुत्त होकर वह हाथ में डंका लिये हुए धमाधम ब्याह का ढोल पीट रहा था : लब्धमधुमदप्रचण्डचर्मकारकरपुटोल्लालितकोणपटुविघट्टनरणन्मङ्गलपटहम्।

... के थापे लगाये जा रहे थे :

८. अनेक दिशाओं से दूर-दूर से आये हुए चारण लोग जिस कोठरी में जमा थे, उसमें इन्द्राणी की मूर्त्ति के रूप में दई-देवता पधराये गये थे : अशेषाशामुखाविभूतचारणपरम्पराप्रकोष्ठप्रतिष्ठाप्यमानेन्द्राणीदैवतम् ।[1]

९. सफेद फूल, चन्दनादि-विलेपन और वस्त्रों से राजमिस्त्रियों (सूत्रधारों) का सत्कार किया गया । फिर, वे ब्याह की वेदी बनाने के लिए सूत फटकने लगे : सितकुसुमविलेपनवसनसत्कृतैः सूत्रधारैर्दीयमानविवाहवेदीसूत्रपातम् ।

१०. पोतनेवाले कारीगर हाथ में कूँची लिये, कंधों से चूने की हंडी लटकाये, सीढ़ी पर चढ़कर राजमहल, पौरी, चहारदीवारी और शिखरों पर सफेदी कर रहे थे : उत्कूर्चककरैश्च सुधाकर्परस्कन्धैः अधिरोहिणीसमारूढैः धवैः धवलीक्रियमाणप्रासादप्रतोलीप्राकारशिखरम्) ।

११. पीसे हुए कुसुम्भ के धोने से जो जल बह रहा था, उससे आने-जानेवालों के पैर रँगे जा रहे थे: क्षुण्णक्षाल्यमानकुसुम्भकसम्भाराम्भःप्लवपूररज्यमानजनपादपल्लवम् ।

१२. दहेज में देने योग्य हाथी-घोड़ों की कतारों से आँगन भरा हुआ था और उन्हें जाँचा जा रहा था : निरूप्यमाणयौतकयोग्यमातङ्गतुरङ्गतरङ्गिताङ्गनम् ।

१३. गणना में लगे हुए ज्योतिषी विवाहयोग्य सुन्दर लग्न शोध रहे थे : गणनाभियुक्तागणकगृह्यमाणलग्नगुणम् ।

१४. मकरमुखी पनालियों से बहते हुए सुगन्धित जल से राजकुल की क्रीडावापियाँ (छोटी-छोटी हौजें) भरी जा रही थीं : गन्धोदकवाहिमकरमुखप्रणालीपूर्यमाणक्रीडावापीसमूहम् ।[2]

१५. राजद्वार की ड्योढी के बाहरवाले कोठे में सुनारों के ठट्ठ सोना गढ़ने में जुटे थे, जिसकी ठक-ठक वहाँ भर रही थी : हेमकारचक्रप्रक्रान्तहाटकघटनटङ्कारवाचालितालिन्दकम् ।[3]

---

१. विवाह-पद्धतियों के अनुसार विवाह में इन्द्राणी का पूजन आवश्यक है (विवाहे शचीपूजनं) नारदीयसंहितायाम्—सम्पूज्य प्रार्थयित्वा तां शचीं देवीं गुणाश्रयाम् इति । तथा च प्रयोगरत्नाकरे—ततोदाता पत्रस्थसिततण्डुलपुञ्जे शचीमावाह्य षोडशोपचारैः पूजयेत् । तां च कन्या एवं प्रार्थयेत्—देवेन्द्राणि नमस्तुभ्यं देवेन्द्रप्रियभामिनि । विवाहं भाग्यमारोग्यं पुत्रलाभञ्च देहि मे ॥

२. पुरातत्त्व की खुदाई में मकर, सिंह, हंस, बकरा, भेड़ा आदि के मुँहवाली कितने ही प्रकार की टोंटियाँ मिली हैं, किन्तु मकरमुखी टोंटियों की संख्या सबसे अधिक है । राजघाट से मिली हुई इस प्रकार की कितनी ही टोंटियाँ भारत कलाभवन, काशी में सुरक्षित हैं [चित्र ४४] । मिट्टी के जलपात्रों या करवों में भी इस प्रकार की टोंटियाँ लगी रहती थीं । बड़े परनालों में ये टोंटियाँ बड़े आकार की होती थीं, जिन्हें मकरमुख-

निशान मोहेनजोदड़ों में भी पाये गये हैं; किन्तु दीवारों पर पलस्तर करने का निश्चित साहित्यिक लेख यही सबसे पुराना है। नालन्दा में सातवीं शती के पलस्तर के अवशेष अभी तक सुरक्षित हैं।

१७. चतुर चित्रकार मांगलिक चित्र लिख रहे थे : चतुरचित्रकारचक्रवाललिख्यमानमङ्गल्यालेख्यम्।

१८. खिलौने बनानेवाले मछली, कछुआ, मगर, नारियल, केला, सुपारी के वृक्ष आदि भाँति-भाँति के मिट्टी के खिलौने बना रहे थे : लेप्यकारदकम्नकक्रियमाणमृण्मयमीनकूर्ममकरनालिकेरकदलीपूगवृक्षकम्।

१९. राजा लोग स्वयं फेंटा बाँध-बाँधकर अनेक प्रकार की सजावट के काम करने में जुट गये; जैसे, कुछ सिंदूरी रंग के फर्श को माँजकर चमका रहे थे, कुछ ब्याह की वेदी के खंभों को अपने हाथ से खड़ा कर रहे थे, कुछ ने उन्हें गीले ऐंपन के थापों, आलता के रंग में रँगे लाल कपड़ों और आम एवं अशोक के पल्लवों से सजाया था।[1]

२०. (अ) सामन्तों की सती रूपवती स्त्रियाँ सुहावने वेश पहने और माथे पर सिन्दूर लगाये शोभा और सौभाग्य से अलंकृत बड़े सवेरे ही राजमहल में आकर ब्याह के कामकाज करने में लग गई थीं (१४३)।

(आ) कुछ वर और वधू के नाम ले लेकर मंगलाचार के गीत गा रही थीं : वधूवरगोत्रग्रहणगर्भाणि श्रुतिसुभगानि मङ्गलानि गायन्तीभिः।

(इ) कुछ तरह-तरह के रंगों में उँगलियाँ बोरकर कंठियों के डोरों पर भाँति-भाँति की बिन्दियाँ लगा रही थीं : बहुविधवर्णकादिग्धाङ्गुलिभिः ग्रीवासूत्राणि चित्रयन्तीभिः।

(ई) उनमें से कुछ, जो चित्र-विचित्र फूल-पत्तियों का काम बनाने में चतुर थीं, सफेदी किये हुए कलसों पर और कच्ची सरइयों पर माँडने माँड रही थीं—चित्र लिख रही थीं : चित्रपत्रलतालेख्यकुशलाभिः कलशांश्च धवलितान् शीतलशाराजिरश्रेणीश्च मण्डयन्तीभिः।[2]

---

१. क्षितिपालैश्च स्वयमाबद्धकक्षैः स्वाम्यर्पितकर्मशोभासम्पादनाकुलैः सिन्दूरकुट्टिमभूमीश्च मसृणयद्भिः विनिहितसरसालक्तपर्णहस्तान् विन्यस्तालक्तकपाटलांश्च चूताशोकपल्लवलाञ्छितशिखरान् उद्वाहवितर्दिकास्तम्भानुत्तम्भयद्भिः प्रारब्धविविधव्यापारम्। वेदी के चार कोनों में चार लकड़ी के खंभे खड़े करने का रिवाज अभी तक कुरुक्षेत्र और पंजाब में प्रचलित है। विन्यस्तालक्तकपाटल पद कादम्बरी के सूतिकागृह-वर्णन में भी आया है, जिसका अर्थ है कि आलता के रँग से रँगने के कारण खंभे लाल हो गये थे।

२. चित्रों से मंडित पुते हुऐ कलसों में छाक का सामान भरकर देने की प्रथा अब भी

अभिन्नपुट का अर्थ शंकर ने बाँस का चौकोर पिटारा किया है, जिसे बहेलिये बनाते थे। वस्तुतः, पच्छिमी जिलों में और कुरुक्षेत्र के इलाके में अभी तक यह चाल है कि विवाह और कर्णच्छेदन के समय लड़के-लड़की को सरकंडों के बने हुए एक पिटारे पर बिठलाते हैं, जिसे खारा कहते हैं। उसी खारे से यहाँ बाण का अभिप्राय है। उसे सजाने के लिए कपास के छोटे-छोटे गाले भिन्न-भिन्न रँगों में रँगे जा रहे थे, जैसा कि शंकर ने लिखा है—तच्छिद्रान्तरपूरणाय कर्पासतूलपल्लवा रज्यन्ते। बाण ने कादम्बरी में सूतिकागृह के वर्णन में लिखा है कि सोहर के बाहर बने हुए गोबर के सथिये कई रँगों से रँगी हुई कपास के फाहों से सजाये गये थे। कंगन और दूसरे ब्याह-सम्बन्धी कामों के लिए कलावे रँगने की प्रथा अभी तक है। ये लाल-पीले और सफेद (तिरंगे) होते हैं।

(ऊ) कुछ बलाशना[1] ओषधि घी में पकाकर और उसे पिसे हुए कुमकुम में मिलाकर उबटन एवं सुन्दरता बढ़ानेवाले मुखालेपन तैयार कर रही थीं। पिसी हुई हल्दी में नीबू के रस मिलाकर उबटन के लिए कुमकुम बनाया जाता था। वर-कन्या के शरीर में विवाह के पहले पाँच-छह दिन तक स्नान से पूर्व वह मला जाता है, जिसे 'हल्दी चढ़ना' भी कहते हैं।

(ऋ) कुछ कक्कोल-जायफल और लौंग की मालाएँ बीच-बीच में स्फटिक-जैसे श्वेत कपूर की चमकदार बड़ी डलियाँ पिरोकर बना रही थीं : कक्कोलमिश्राः सजातीफलाः स्फुरत्स्फीतस्फाटिककर्पूरशकलखचितान्तराला लवङ्गमाला रचयन्तीभिः। स्फाटिक कपूर शंकर के अनुसार उस समय प्रचलित विशेष प्रकार के कपूर की संज्ञा थी।[2]

२१. इसके बाद बाण ने विस्तार के साथ उन वस्त्रों का विशेष वर्णन किया है, जो विवाह के अवसर पर तैयार किये जा रहे थे। इस प्रकरण में कुछ कठिन पारिभाषिक शब्द हैं, जिनपर अभी तक कहीं भी स्पष्ट प्रकाश नहीं डाला गया।[3] बाण ने यहाँ विशिष्ट प्रकार के वस्त्रों का वर्णन किया है।

---

१. बलाशना का अर्थ किसी कोश या आयुर्वेदिक ग्रंथ में नहीं मिला। शंकर ने इसे पुष्पा नामक ओषधि लिखा है। सम्भवतः, यह बला या बीजबन्द था। आजकल अंगराग या उबटन पिसी हुई हल्दी, सरसों और तेल को मिलाकर बनाया जाता है, परन्तु यहाँ तेल की जगह घृत में पकाई हुई बलाशना का वर्णन है।

२. स्फाटिककर्पूराख्यः कर्पूरभेदः (शंकर)। बाण ने पहले भी स्फटिक की तरह श्वेत कर्पूर का उल्लेख किया है : स्फाटिकशिलाशकलशुक्लकर्पूरखण्डः (१३०)। वस्तुतः, कर्पूर, कक्कोल और लवंग उस समय बनाई जानेवाली सुगन्धियों के आवश्यक अंग समझे जाते थे (देखिए, पृ० २२ और ६६)।

३. कावेल के अँगरेजी अनुवाद एवं श्री पी० वी० काणे के हर्षचरित नोट्स में यह विषय

की रँगाई को अँगरेजी में टाई एंड डाई (Tie and dye) कहते हैं। भारतवर्ष में बाँधनू की रँगाई गुजरात, राजस्थान और पंजाब में अब भी प्रसिद्ध है। विशेषतः सांगानेर अब भी इसका विख्यात केन्द्र है। वहाँ की चूनरी प्रसिद्ध है। चतुर स्त्रियाँ, विशेषतः लड़कियाँ अपनी कोमल अंगुलियों से फुरती के साथ मन में सोची हुई आकृति के अनुसार कपड़े को चुटकी में पकड़कर डोरियों से बाँधती हैं। बँधा हुआ कपड़ा रंग में बोर दिया जाता है। सूखने पर डोरों को खोल देते हैं। बँधाई की जगह रंग नहीं चढ़ता और उसी से कपड़े में विशेष आकृति बन जाती है। इस आकृति या अभिप्राय के लिए प्राचीन संस्कृत शब्द था 'भक्ति'। उसी से हिन्दी भाँत बना है। अन्य-अन्य भाँत की आकृतियों-वाली चूनरी अब भी जयपुर की तरफ 'भाँतभनूल्या' और मेरठ की बोली में 'भाँतभतीली' कहलाती है। इन भाँतों के अनेक नाम हैं। पंख की तरह हाथ फैलाए हुए स्त्रियों की आकृति सखियों की भाँत कहलाती है। तरह-तरह की चिड़ियों को 'चिड़ी चुड़कले की भाँत' कहते हैं। इसी प्रकार धनक (इन्द्रधनुष) की भाँत, मोरड़ी (मोरनी) की भाँत, लाडू की भाँत, चकरी की भाँत, पोचने की भाँत (चार कानों पर चार और बीच में एक कमल के फुल्ले और शेष सब स्थान खाली ; धनी भूँगड़े (भुने हुए धान के ऊपर भुने हुए चने की आकृति की बूँटी) की भाँत, डलिया या छावड़ी की भाँत, रास (नाचती हुई स्त्रियाँ) भाँत, बाघकुंजर भाँत आदि कितने ही प्रकार की आकृतियाँ बाँधनू के द्वारा कपड़े को रँगकर उत्पन्न की जाती थीं। कभी-कभी एक कपड़े को कई रंगों में एक दूसरे के बाद रँगते हैं और पहली भाँत के अतिरिक्त अन्य स्थान में बँधाई करके दूसरी भाँत उत्पन्न करते हैं। भारतवर्ष की यह लोकव्यापी कला थी, जिसे बचपन में ही स्त्रियाँ घरों में सीख लेती थीं। भिन्न ऋतुओं और अवसरों पर ओढ़ी जानेवाली चूनरियों की भाँतें अलग-अलग होती हैं, जैसे लड्डू की भाँत की केसरिया रँग की चूनरी फागुन में और लहरिया की सावन में ओढ़ी जाती है। स्त्रियों में अन्य-अन्य प्रकार की भाँतों को बाँधने की कला परम्परा से अभ्यस्त रहती थी, इसीलिए बाण ने अनेक प्रकार की भक्तियों को जाननेवाली बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों द्वारा वस्त्रों की बँधाई करने का उल्लेख किया है। बाँधनू की रँगाई का यह उल्लेख सबसे प्राचीन है [चित्र ४५]।

(आ) वस्त्रों की रँगाई

प्रायः ऐसा होता है कि स्त्रियाँ घरों में वस्त्रों को बाँध देती हैं और तब वे रँगने के लिए रँगरेज को दे दिये जाते हैं। क्योंकि, ब्याह की चूनरी और पीलिए की रँगाई मांगलिक है,

---

१. बहुविधभक्तिनिर्माणचतुरपुराणपौरपुरन्ध्रिबध्यमानैर्बद्धैश्च।

२. अँगरेजी डिजाइन के लिए प्राचीन संस्कृत शब्द 'भक्ति' ही था। गुजरात में इसका रूप भात (भक्ति-भति-भात) है। पाटन के पटोलों में रंगीन सूत की बनाई में

बाण ने उल्लेख किया है कि अन्तःपुर की बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों के द्वारा रँगनेवालों को जो नेग या पूजा-भेंट दी जा रही थी, उससे प्रसन्न होकर वे लोग उन वस्त्रों को रँग रहे थे। एवं जो रँगे जा चुके थे, उन्हें दोनों सिरों पर पकड़कर परिजन लोग छाया में सुखा रहे थे। आज भी जो वस्त्र चटकीले रँगों में रँगे जाते हैं, उन्हें छाया में ही सुखाया जाता है।[1]

(इ) छपाई के वस्त्र

बाँधनू के वस्त्रों के बाद बाण ने छपाई के वस्त्रों का उल्लेख किया है। इसमें दो प्रकार के वस्त्रों का वर्णन है। एक तो जिनपर फूल-पत्तियों के काम की छपाई आड़ी लहरिया के रूप में छापी जाती थी। सफेद या रंगीन जमीन पर फूल-पत्ती की आकृतियों-वाले ठप्पों को आड़े या टेढ़े ढंग से छेवकर छपाई की जाती है। इसी से फूल-पत्तियों का जँगला कपड़े पर बन जाता है। इसके लिए बाण ने 'कुटिलक्रमरूपक्रियमाणपल्लव-परभाग' इस पद का प्रयोग किया है। इसमें चार शब्द पारिभाषिक हैं : १. कुटिल-क्रम, २. रूप, ३. पल्लव और ४. परभाग। कुटिलक्रम (कुटिलः क्रमो येषाम्, शंकर) का अभिप्राय था, जिनके छपाने की चाल (क्रम=चाल) सीधी रेख में न जाकर टेढ़ी, अर्थात् एक कोने से सामने के कोने की तरफ चलती है। रूप का अर्थ ठप्पों से बनाई जानेवाली रेखाकृतियों से है। इसे अब भी रेख की छपाई या पहली छपाई कहते हैं। आकृति-युक्त ठप्पे के लिए प्राचीन पारिभाषिक शब्द 'रूप' था, जैसा कि पाणिनिसूत्र 'रूपादाहतप्रशंसयो-र्यप्' (५।२।१२०) में रूपा या ठप्पों से बनाये जानेवाले प्राचीन सिक्कों[2] के अर्थ में प्रयुक्त होता था। पल्लव का अर्थ है फूल-पत्ती का काम, बाण ने जिसे पत्रलता, पत्रावली, पत्रांगुली कहा है। गुप्तकाल और उसके बाद की शिल्पकला एवं चित्रकारी में फूल-पत्तियों के भाँति-भाँति के कटाव की प्रथा उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँच गई थी। अजन्ता की चित्रकला में और अनेक वास्तुमूर्त्तियों में इसका प्रमाण मिलता है। पत्रलता या पल्लव बनाने की प्रवृत्ति का सर्वोत्तम उदाहरण सारनाथ के धमेख स्तूप के बाह्य आवरण या शिला-पट्टों पर मिलता है। वस्तुतः, धमेख-स्तूप का यह शिलाघटित आवरण असली वस्त्र की पत्थर में नकल है। स्तूप के शरीर पर इस प्रकार के जो कीमती वस्त्र चढ़ाये जाते थे, वे देवदूष्य कहलाते थे। बाण का तात्पर्य वस्त्रों पर जिस प्रकार की फूल-पत्तियों की छपाई से था, उनका नमूना धमेख-स्तूप की पत्रावली और पत्रभंगों से समझा जा सकता है। चूनरी या साड़ी पर इनकी छपाई अवश्य ही रूप या ठप्पों को टेढ़े क्रम या टेढ़ी चाल से छपाने पर की जाती थी। इस पद में चौथा पारिभाषिक शब्द 'परभाग' है। स्वयं बाण ने वस्त्रों के प्रसंग में उसका अन्यत्र प्रयोग किया है।[3] एक रंग की पृष्ठभूमि पर दूसरे रंग में छपाई,

---

छापे जा रहे थे, यही बाण का अभिप्राय है [चित्र ४६]।

(ई) कुंकुम के थापों से छपाई

बाण ने एक दूसरे प्रकार के वस्त्रों का भी उल्लेख किया है, जो विशेषतः वर के लिए ही तैयार किये जाते हैं। गीले कुंकुम (नींबू के रस में भींगी हल्दी) से सफेद वस्त्र पर हाथ से चित्तियाँ छोपकर उसे मांगलिक बनाया जाता है (आरब्धकुङ्कुमपङ्कस्थासकच्छुरणैः)। पंजाब में अभी कल तक यह प्रथा थी कि वर इसी प्रकार का जामा पहनकर घुड़चढ़ी के लिए जाता था।

(उ) वस्त्रों में चुन्नट डालना

उद्भुजभुजिष्यभज्यमानभङ्गुरोत्तरीयैः — सेवक लोग उठे हुए हाथों से चुटकी दबाकर उत्तरीय या उपरने की तरह प्रयुक्त वस्त्रों में चुन्नट डालकर उन्हें मरोड़ी देकर रख रहे थे। चुन्नट डालने के लिए अभी तक भाँजना शब्द प्रयुक्त होता है। भाँजे हुए उपरने को अन्य वस्त्रों की तरह मोड़कर नहीं तहाया जाता, किन्तु उमेठकर कुंडलित करके रख दिया जाता है। उसी के लिए यहाँ 'भंगुर' शब्द है। सौभाग्य से अहिच्छत्रा से प्राप्त एक मिट्टी की मूर्ति (सं ३०२) के गले में भंगुर उत्तरीय का स्पष्ट नमूना अंकित पाया गया है, जिसकी सहायता से उस वस्तु को समझा जा सकता है। भास्करवर्मा के भेजे हुए प्राभृतों में 'क्षौम वस्त्रों का वर्णन है, जो कुंडली करके बेंत की करंडियों में रखे गये थे (२१७)। वे वस्त्र इसी प्रकार के भंगुर उत्तरीय होने चाहिए, जिन्हें गेंडुरीदार तह के रूप में करंडियों में रखते थे [चित्र ४७]।

वस्त्रों के भेद

इसके बाद बाण ने छह प्रकार के वस्त्र कहे हैं—क्षौम, बादर, दुकूल, लालातन्तुज, अंशुक और नेत्र। इनमें से बादर का अर्थ कार्पास या सूती कपड़ा है। शेष पाँचों के निश्चित अर्थ के बारे में मतभेद है। अमरकोष में क्षौम और दुकूल को एक दूसरे का पर्यायवाची कहा है।[२] इसी प्रकार नेत्र और अंशुक भी एक दूसरे के समानार्थक माने गये हैं।[3] किन्तु, बाण के वर्णन से अनुमान होता है कि ये अलग-अलग प्रकार के वस्त्र थे। राजद्वार के वर्णन में बाण ने अंशुक और क्षौम को अलग-अलग माना है। अंशुक की उपमा मंदाकिनी के श्वेत प्रवाह से और क्षौम की दुधिया रंग के क्षीरसागर से दी गई है।[४] अन्यत्र अंशुक की सुकुमारता की उपमा दुकूल की कोमलता से दी गई है, जिससे ज्ञात

१. यशस्तिलकचम्पू, भा० २, पृ० २४७, रङ्गवल्लिषु परभागकल्पनम्।

२. क्षौमं दुकूलं स्यात्, २।६।११३।

३. [illegible]

होता है कि दोनों वस्त्र मुलायमियत में एक-से होने पर भी भिन्न भिन्न प्रकार के थे।[1] क्षौम वस्त्र, जैसा कि नाम से प्रकट है, कदाचित् क्षुमा या अलसी नामक पौधे के रेशों से तैयार होता था। यही सम्भवतः छालटीन था। भाँग, सन और पाट या पटसन के रेशों से भी वस्त्र तैयार किये जाते थे, पर क्षौम अधिक कीमती, मुलायम और बारीक होते थे। चीनी भाषा में 'छु-म' एक प्रकार की घास के रेशों से तैयार वस्त्रों के लिए प्राचीन नाम था, जो बाण के समकालीन थाङ् युग में एवं उसके पूर्व भी प्रयुक्त होता था।[2] यही चीनी घास भारतवर्ष के पूर्वी भागों (आसाम-बंगाल) में होती थी। बंगाल में इसे काँखुर कहा जाता है। मोटे तौर पर यह ज्ञात होता है कि क्षौम और दुकूल, जिन्हें अमरकोष ने पर्याय माना है, रेशों से तैयार होनेवाले वस्त्र थे। इसके प्रतिकूल अंशुक और नेत्र दोनों रेशमी वस्त्र थे।

क्षौम अवश्य ही आसाम में बननेवाला एक कपड़ा था; क्योंकि आसाम के कुमार भास्करवर्मा ने हर्ष के लिए जो उपहार भेजे थे, उनमें क्षौम वस्त्र भी शामिल थे। ये कई रंग की बेंत की करंडियों में लपेटकर गये थे और इस योग्य थे कि धुलाई बरदाश्त कर सकें: अनेकरागरुचिरवेत्रकरण्डकुण्डलीकृतानि शौचक्षमाणि क्षौमाणि (२१७)।

दुकूल

बाण ने दुकूल और दुगूल इन दोनों रूपों का प्रयोग किया है, जो पर्याय ज्ञात होते हैं। यदि इनमें कोई भेद था, तो वह अब स्पष्ट नहीं। दुगूल के विषय में बाण ने लिखा है कि वह पुण्ड्रदेश (पुण्ड्रवर्द्धनभुक्ति या बंगाल) से बनकर आता था। उसके बड़े थान में से काटकर चादर, धोती या अन्य वस्त्र बनाये जाते थे। बाण का पुस्तकवाचक सुदृष्टि इसी प्रकार के वस्त्र पहने था: दुगूलपट्टप्रभवे शिखण्ड्यपाङ्गपाण्डुनी पौण्ड्रे वाससी वसानः (८५)। दुकूल से बने हुए उत्तरीय, साड़ियाँ पलंग की चादरें, तकियों के गिलाफ,

---

१. चीनांशुकसुकुमारे शोणसैकते दुकूलकोमले शयने इव समुपविष्टा (३६)।

२. मध्य एशिया से प्राप्त चीनी वस्त्रों का वर्णन करते हुए कहा गया है—

'The term *ma* has clearly been used as a complementary expression to names of other fibrous fabrics than hemp. Thus the words *ch'u* or *ch'u-ma* are used for the cloth made from the Chinese Boehmeria nivea......This material, which when in finished articles, fabrics, etc. resembles linen but is softer and looks fluffier, was thus used during the Han period as well as early T'ang. It is also called *China grass* and under the name *ramie* has been used for underclothes in modern times.'—Vivi Sylwan, *Inve-*

बना है।[1] दोहरी चादर या थान के रूप में विक्रयार्थ आने के कारण यह द्विकूल या दुकूल कहलाया।

लालातन्तुज

लालातन्तुज का अर्थ शंकर ने कौशेय, अर्थात् रेशम किया है। संभवतः, यह पत्रोर्ण या पटोर रेशम था, जिसे क्षीरस्वामी ने कीड़ों की लार से उत्पन्न कहा है।[2] गुप्तकाल में पत्रोर्ण धुला हुआ बहुमूल्य रेशमी कपड़ा समझा जाता था।[3] यदि लालातन्तुज और पत्रोर्ण दोनों पर्याय हों, तो यह वस्त्र भी अत्यन्त प्राचीन था। सभापर्व के अनुसार पुण्ड्र, ताम्रलिप्ति, वंग और कलिंग के राजा युधिष्ठिर के लिए दुकूल, कौशिक और पत्रोर्ण तीन प्रकार के वस्त्र भेंट में लाये थे।[4] कौटिल्य ने क्षौम, दुकूल और कृमितान वस्त्रों का उल्लेख किया है।[5] सम्भव है, कृमितान और लालातन्तुज एक ही रेशमी वस्त्र के नाम हों।

अंशुक

बाण के समय में दुकूल के बाद सबसे अधिक अंशुक नामक वस्त्र का प्रचार था। अंशुक दो प्रकार का था, एक भारतीय और दूसरा चीन देश से लाया हुआ, जो चीनांशुक कहलाता था। चीनांशुक का अत्यन्त प्रसिद्ध उल्लेख शकुन्तला में है : **चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य**। बाण ने भी कई बार उसका उल्लेख किया है (३६, १६७, २४२)। अंशुक वस्त्र को कुछ विद्वान् मलमल समझते हैं। बाण ने अंशुक वस्त्र को अत्यन्त ही झीना और स्वच्छ वस्त्र माना है[6]। एक स्थान पर अंशुक को फूल और चिड़ियों से सुशोभित कहा गया है।[7] यह प्रश्न मौलिक है कि अंशुक सूती वस्त्र था या रेशमी। इस विषय में जैन आगम के अनुयोगद्वारसूत्र के साक्ष्य का प्रमाण उल्लेखनीय है।

---

१. गुजराती पटोले के मूल संस्कृत 'पट्टकूल' में भी वही कूल शब्द है।
२. लकुचवटादिपत्रेषु कृमिलालोर्णाकृतं पत्रोर्णम् (क्षीरस्वामी)।
३. पत्रोर्णं धौतकौशेयं बहुमूल्यं महाधनम् (अमरकोश)।
४. वङ्गाः कलिङ्गपतयस्ताम्रलिप्ताः सपुण्ड्रकाः।
   दुकूलं कौशिकं चैव पत्रोर्णं प्रावरानपि ॥ (सभा० ४८, १७)
५. अर्थशास्त्र, २।२३, पृ० ११४।
६. सूक्ष्मविमलेन अंशुकेनाच्छादितशरीरा देवी सरस्वती (६)। बिसतन्तुमयेन अंशुकेन उन्नतस्तनमध्यबद्धगात्रिकाग्रन्थिः सावित्री (१०)।
७. बहुविधकुसुमशकुनिशतशोभितादतिस्वच्छादंशुकात् (११४)।

इसका समर्थन होता है। इससे स्पष्ट है कि पट्ट, अंशुक और चीनांशुक तीनों रेशम के कीड़ों से उत्पन्न वस्त्र थे।

नेत्र

हर्षचरित में नेत्रनामक वस्त्र का पाँच जगह उल्लेख है। स्वयं हर्ष नेत्रसूत्र की पट्टी बाँधे हुए एक अधोवस्त्र पहने (७२) थे। कालिदास ने सर्वप्रथम नेत्र शब्द का प्रयोग रेशमी वस्त्र के अर्थ में किया है (रघुवंश ७।३९; नेत्रक्रमेणोपरुरोध सूर्यम्; अमरकोष ३।१८०; मत्स्यपुराण ७०।५०; अग्निपुराण ३३।४, ६१।४४)। यहाँ शंकर ने नेत्रसूत्र का अर्थ पट्टसूत्र किया है, अर्थात् रेशमी डोरी, जो धोती के ऊपर मेखला की तरह बाँधी जाती थी। पृ० १४३ पर शंकर ने नेत्र का अर्थ पिंगा किया है और पृ० २०६ पर नेत्र को पटविशेष कहा है। नेत्र और पिंगा दोनों रेशमी वस्त्र थे, किन्तु वे एक दूसरे से कुछ भिन्न थे। बाण ने स्वयं हर्ष के साथ चलनेवाले राजाओं की वेशभूषाओं का वर्णन करते हुए नेत्र और पिंगा को अलग माना है (२०६)। बाण के अनुसार नेत्र धवल रंग का वस्त्र था (धौतधवलनेत्रनिर्मितेन निर्मोकलघुतरेण कञ्चुकेन, ३१) और पिंगा रंगीन वस्त्र था। यही नेत्र और पिंगा का मुख्य भेद जान पड़ता है। दोनों की बुनावट में फूल-पत्ती का काम बना रहता था।[2] बाण ने कहा है कि नेत्रनामक वस्त्र फूल-पत्ती के काम से सुशोभित था: उच्चित्रनेत्रसुकुमारस्वस्थानस्थगितजङ्घाकाण्डैः (२०६)।[3] नेत्र की पहचान बंगाल में बनानेवाले नेत्रसंज्ञक एक मजबूत रेशमी कपड़े से की जाती है, जो चौदहवीं सदी तक भी बनता रहा।[4]

वस्त्रों के गुणों का उल्लेख करते हुए उन्हें साँप की केंचुली की तरह महीन (निर्मोक-निभ), छोटे केले के भीतर के गाभे की तरह मुलायम (अकठोररम्भागर्भकोमल), फूँक से उड़ जाने योग्य हलके (निःश्वासहार्य), और कुछ को ऐसे पारदर्शी कहा है कि वे केवल स्पर्श से ही जाने जाते थे (स्पर्शानुमेय)। ऐसे ही पारदर्शी वस्त्रों के लिए मुगलकाल में 'बाफ्त हवा' (बुनी हवा के जाले) विशेषण बना होगा।

इसके बाद बाण ने कुछ ऐसे वस्त्रों का वर्णन दिया है, जो वस्तुतः बिछाने-ओढ़ने, पहनने या सजावट के काम में लिये जा रहे थे। विवाह के अवसर पर जो दान-दहेज के

---

१. अनुयोगद्वारसूत्र, ३७; श्रीजगदीशचन्द्रजैन-कृत 'लाइफ इन एँश्येंट इंडिया ऐज डेपिक्टेड इन जैन कैनन', पृ० १२९।

२. पिंगा रंगीन बूटेदार रेशमी वस्त्र का नाम था, जिसका उल्लेख मध्य एशिया के खरोष्ठी लेखों में आया है। अँगरेजी में इसे 'डैमस्क' या 'यूनिकलर्ड फिगर्ड सिल्क' कहा गया है। इसके विषय में आगे पृ० २०६ की व्याख्या में लिखा जायगा।

में बनाई गई थी। वे चादर के पल्लों के इधर-उधर गिरने से ढक गई थीं (अवगुण्ठ्यमान हंसकुलैः)। निचोलक को अमरकोष में प्रच्छद-पट[1] या चादर कहा है। बाण ने इस शब्द का दो अर्थों में प्रयोग किया है, एक चादर के अर्थ में दूसरे गिलाफ या खोल के अर्थ में। कुमार भास्करवर्मा का भेजा हुआ आतपत्र निचोलक (खोल) में से निकालकर हर्ष को दिखलाया गया।[2] इसी प्रकार चमड़े की ढालों की कान्ति की रक्षा के लिए उनपर निचोलक चढ़े हुए थे : निचोलकरक्षितरुचां कार्दरङ्गचर्मणाम् (२१७)।

पहनने के लिए जो कंचुक तैयार किये जा रहे थे, उनपर चमकीले मोतियों से कढ़ाई का काम किया गया था : तारमुक्ताफलोपचीयमानैश्च कञ्चुकैः। कंचुक एक प्रकार का बाँहदार घुटनों तक लटकता हुआ कोट-जैसा पहनावा था। राजाओं की वेशभूषा का वर्णन करते हुए बाण ने कंचुक, वारबाण, चीनचोलक और कूर्पासक इन चार प्रकार के ऊपरी वस्त्रों का वर्णन आगे किया है (२०६)। अमरकोष के अनुसार कंचुक और वारबाण पर्यायवाची थे। एक जाति के दो पहनावे होते हुए भी बाण की दृष्टि में इनमें कुछ भेद अवश्य था। वारबाण का प्रयोग कालिदास के समय में भी चल गया था[3]। गुप्त सिक्कों पर समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त आदि राजा जिस प्रकार का कोट पहने हैं, वही वारबाण ज्ञात होता है। कुषाणों की देखा-देखी गुप्तों ने इस पोशाक को अपनाया। वारबाण और कंचुक में परस्पर क्या भेद था, यह आगे पृ० २०६ की व्याख्या में स्पष्ट किया गया है। वारबाण कंचुक की अपेक्षा ऊँचा, मोटा चिलटे की तरह का कोट था, जिसका ईरान में चलन था।[4] बाण ने जैसे कंचुकों पर सच्चे मोतियों का काम बनाने का यहाँ उल्लेख किया है, वैसे ही सातवें उच्छ्वास में राजाओं के वेश का वर्णन करते हुए वारबाणों पर भी सच्चे मोतियों के झुग्गों से बने फूल-पत्ती के काम का वर्णन किया है : तारमुक्तास्तबकितस्तवरक वारबाणैः (२०६)।[5] सासानी राजाओं को अपने कोट में मोतियों की टँकाई कराने का बहुत शौक था। भारतवर्ष में भी प्राप्त सासानी शैली की मूर्त्तियों में यह विशेषता पाई जाती है।

---

१. प्रच्छदपट का अर्थ आस्तरण या चादर है। कादम्बरी जिस पलंग पर बैठी हुई थी, उसपर नीले अंशुक का प्रच्छदपट बिछा हुआ था (कादम्बरी, वैद्य, पृ० १८६)।

२. स वचनान्तरमुत्थाय पुमान् ऊर्ध्वीचकार तत्, धौतदुकूलकल्पिताच्च निचोलकादकोषात्, २१५।

३. तद्योधवारबाणानाम्, रघुवंश ४।५५ (रघुभटकञ्चुकानामिति मल्लि:)।

४. वारबाण का पहलवी रूप बरवान (barvan), अर्माइक भाषा में वरपनक (varapanak), सीरिया की भाषा में गुर्मानका (gurmanaqa) और अरबी में जुरमानकह् (zurmanaqah=a sleeveless woollen vest) है। और भी वारबाण पर देखिए,

उल्लेख किया है। शंकर ने स्तवरक को एक प्रकार का वस्त्र माना है। यह वस्त्र ईरान में बनता था। पहलवी भाषा में इसका नाम स्तब्रक् था। उसी से संस्कृत स्तवरक बना और उसी से फारसी उस्तब्रक् शब्द निकला। अरबी में इसी का रूप इस्तब्रक् हुआ, जिसका अर्थ है भारी रेशमी किमखाब।[1] इस शब्द का प्रयोग कुरान में स्वर्ग की हूरों की वेश-भूषा के वर्णन में आया है। कुरान के टीकाकार भी इसे अन्य भाषा का शब्द मानते हैं।[2] वस्तुतः, इस्तब्रक् सासानी युग के ईरान में तैयार होनेवाला रेशमी किमखाब का कपड़ा था। वह बहुमूल्य और सुन्दर होता था। ईरान के पच्छिम में अरब तक और पूरब में भारतवर्ष तक उस कपड़े की कीर्त्ति फैल गई थी और उसका निर्यात होता था। बाण ने हर्ष के दरबार में इस विदेशी वस्त्र का नाम और साक्षात् परिचय प्राप्त किया होगा। सूर्य की गुप्तकालीन मूर्त्तियों की वेश-भूषा ईरानी है। वराहमिहिर ने उसे उदीच्य वेश कहा है। इनके शरीर पर जरी के काम का कीमती वस्त्र दिखाया जाता था। सम्भवतः, वही स्तवरक है। अहिच्छत्रा की खुदाई में मिली हुई मिट्टी की एक सूर्य-मूर्त्ति के शरीर पर पूरी आस्तीन का कोट है, जिसकी पहचान स्तवरक से की जा सकती है [चित्र ४८]।[3] उसमें मोतियों के झुग्गे वस्त्र की कुल जमीन पर टँके हुए हैं। बाण ने स्तवरक की विशेषता कहते हुए इसका संकेत किया है: तारमुक्तास्तवकित। अहिच्छत्रा से ही मिली हुई नर्त्तकी[4] की एक छोटी मिट्टी की मूर्त्ति का लहँगा इसी प्रकार मोतियों के लच्छों से सजा है। उसका वस्त्र भी स्तवरक ही जान पड़ता है। उसमें मोतियों की प्रत्येक लच्छी के नीचे एक-एक सितारा भी टँका हुआ है। बाणभट्ट ने जिसे 'तारामुक्ताफल' की टँकाई का काम कहा है, वह यही सितारे-मोतियों का काम था: तारामुक्ताफलोपचीयमानकञ्चुक। मंडप के नीचे स्तवरक की छत उसी प्रकार की जान पड़ती है, जैसे मुगल-काल में शाही मसनद के ऊपर चार सोने के डंडों पर तना हुआ कीमती चँदोवा होता था।

वहाँ नये रँगे हुए दुकूल वस्त्रों के बने पटवितान या शामियाने लगे हुए थे और पूरे थानों में से पट्टियाँ और छोटे-छोटे पट फाड़कर अनेक प्रकार की सजावट के काम में लाये जा रहे थे।[5] पट संभवतः पूरा थान था और पटी लंबी पट्टियाँ थीं, जो झालर आदि के काम में लाई जा रही थीं।

---

१. स्टाइनगास, पर्शियन इंगलिश डिक्शनरी, पृ० ५० ।
२. ए० जेफरी, दि फॉरेन वाकेबुलेरी ऑफ् दि कुरान, (गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज, सं० ७६), पृ० ५८, ५६ ।
३. देखिए, वासुदेवशरण अग्रवाल-कृत 'अहिच्छत्रा से प्राप्त मिट्टी की मूर्त्तियाँ,' पृ० १११ और १३०, चित्र-सं० १०२ ।
४. वही, पृ० १११ और १६५, चित्र-संख्या २८६ ।

में भाँति-भाँति की आकृतियाँ (अं० फिगर्ड) डाल दी जाती थीं। बाण के ही समकालीन ऐसे अनेक नमूने मध्य एशिया से प्राप्त हुए हैं। ये आकृतियाँ दो प्रकार की होती थीं, एक वे, जिनपर रेखा-उपरेखाओं और बिन्दुओं को मिलाने से चित्र बनते हैं और दूसरे वे, जिनमें मछली आदि की आकृतियाँ बनती थीं।[२]

पृंग

शंकर के अनुसार नेत्र-नामक वस्त्र का पर्याय पृंग था। यह शब्द मध्य एशिया के खरोष्ठी लेखों में पाया गया है, जहाँ इसका रूप 'प्रिघ' है। बौद्ध-संस्कृत-ग्रंथ 'महाव्युत्पत्ति' में पृंग शब्द आया है, जहाँ उसके पाठान्तर पृंगा या पृंगु मिलते हैं। पृंगु का उल्लेख बौद्ध शब्दों के संस्कृत चीनी कोश फान्-यु-चिएन-यु-वेन् में भी हुआ है।[३] पहलवी और फारसी में भी ध्वनि-परिवर्त्तन के साथ इसका रूप परंद मिलता है।[४] उसी से पंजाबी शब्द परांदा बना है, जिसका अर्थ इस समय बाल या जूड़े में डाला जानेवाला रेशमी फीता है।[५] मध्य एशिया के लेखों में कपोत, श्वेत (कबूतरी और सफेद) रंगों के पृंग का वर्णन है। सुग्धी भाषा में लिखी मानी धर्म की पुस्तकों में, जो तुन्हुआंग से प्राप्त हुईं, कपोत रंग की पृंग (कपूवथ् प्रयुंक) का उल्लेख है। हेनिंग के मतानुसार पृंग का अर्थ चित्र-शोभित इकरंगा रेशमी वस्त्र था। यह वस्त्र मध्यएशिया से आता था अथवा यहाँ भी बनता था—इसका निश्चित प्रमाण इस समय उपलब्ध नहीं; क्योंकि अपने देश में इतने प्राचीन वस्त्रों के वास्तविक नमूने उपलब्ध नहीं हुए।

इस प्रकार, राज्यश्री के विवाह के लिए समस्त राजकुल मांगलिक और रमणीय हो उठा एवं भाँति-भाँति के कुतूहलों से भर गया। रानी यशोवती विवाह के बहुविध कामों

---

१. उच्चित्रनेत्रपटवेष्ट्यमानैः स्तम्भैः (१४३)।

२. देखिए, वावी सिल्वान (Vivi Sylwan)-कृत इन्वेस्टीगेशंस ऑव सिल्क फ्रॉम एडसन-गोल ऐंड लाप-नॉर (स्टॉकहोल्म, १९४९) पृ० १०३-१११, फलक १-२।

३. श्रीप्रबोधचन्द्र बागची द्वारा सम्पादित, दो संस्कृत चीनी कोष, भाग १, पृ० २८०, शब्द-संख्या ५४१ ; इसका चीनी पर्याय लिङ् है। (बारिक झीना रेशमी वस्त्र; अं० डेमेस्क)।

४. देखिए, डब्लू० बी० हैनिंग, 'टू सेण्ट्रल एशियन वर्ड्स,' ट्रैन्जेक्शन्स ऑव दि फाइलोलॉजिकल सोसाइटी, १९४५, पृ० १५१, जहाँ मध्यएशिया में प्रचलित 'प्रिघ' शब्द पर विस्तृत विचार करके उसे संस्कृत पृंग का ही रूप माना है। और भी देखिए, मेरा लेख, 'संस्कृत-साहित्य में कुछ विदेशी शब्द' (सम फॉरेन वर्ड्स् इन ऐंश्येंट संस्कृत लिटरेचर, इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भाग १७ (मार्च १९५१), पृ० १५-१७।

५. तिब्बती भाषा का पुग शब्द, जो सर्वसाधारण में प्रयुक्त लाल-भूरे रंग का वस्त्र है, मूलतः पृंग से ही निकला हुआ जान पड़ता है। पुग के लिए देखिए श्रीमती प्रो० हानसेन (कोरेन हागेन) कृत मंगोल कास्ट्यूम्स (१९५०) पृ० ६१, ६२। बाण ने इसी रंग

को देखती हुई ऐसी लगती थी, मानों एक से अनेकरूप हो गई हो। राजा ने भी जामाता की प्रसन्नता के लिए एक के ऊपर एक ऊँट और वामियां (घोड़ियां) की डाक लगा दी : विसर्जितोष्ट्रवामीजनितजामातृजोषः (१४४)। मार्गों में झंडियाँ लगा दी गई, मंगल-वाद्य बजने लगे। मौहूर्त्तिक या ज्योतिषी उत्सुकता से विवाह-दिवस की बाट जोहने लगे। विवाह के दिन प्रातःकाल प्रतीहार लोगों ने सब फालतू आदमियों को हटाकर राजकुल को एकान्त-प्रधान बना दिया। उसी समय प्रतीहार ने आकर सूचना दी—'महाराज, जामाता के यहाँ से उनका तांबूलदायक पारिजातक आया है।' उसके भीतर आने पर राजा ने आदर के साथ पूछा—'बालक[1], ग्रहवर्मा तो कुशल से हैं ?' पारिजातक ने कुछ पैर आगे बढ़ाकर, भुजाएँ फैलाकर पृथ्वी में मस्तक टेककर निवेदन किया—'देव, कुशल से हैं और प्रणामपूर्वक आपकी अर्चना करते हैं।' राजा ने यह जानकर कि जामाता विवाह के लिए आ गये हैं, कहा—'रात्रि के पहले पहर में विवाह-लग्न साधना चाहिए, जिससे दोष न हो', और उसे वापस भेजा।

अब ग्रहवर्मा सायंकाल लग्न-समय के निकट बरात के साथ उपस्थित हुआ। बरात की चढ़त से उठी हुई धूल दिशाओं में फैल रही थी। रक्तांशुक से बना हुआ सौभाग्यध्वज फहरा रहा था। ज्योतिषी लग्न-सम्पादन के लिए तैयार बैठे थे। विवाह-मंगलकलश और उसके ऊपर पुती हुई सफेद सरइयाँ यथास्थान टाँग दी गई थीं। जलूस में आगे-आगे पैदल लाल चँवर फटकारते चल रहे थे। उनके पीछे कान उठाये घोड़ों के झुंड हिनहिनाते आ रहे थे। पीछे बड़े-बड़े हाथियों की पंक्तियाँ थीं, जिनके कानों के पास चँवर हिल रहे थे। उनकी साज-सज्जा सब सोने की थी। रंगबिरंगी झूलें (वर्णक, १४५) लटक रही थीं और घंटे घहरा रहे थे। नक्षत्रमाला[2] से अलंकृत मुखवाली सुन्दर हथिनी के ऊपर वर ग्रहवर्मा बैठे थे। उसके आगे-आगे चारण लोग तालयुक्त गान करते चल रहे थे, जिससे चिड़ियों के चहचहाने-जैसा शब्द हो रहा था। गन्धतैल पड़ने से सुगन्धित दीपक जल रहे थे, कुमकुम और पटवास-धूलि सब ओर उड़ रही थी। ग्रहवर्मा के सिर पर खिले मल्लिका-पुष्पों की माला थी, जिसके बीच में फूलों का सेहरा[3] सजा था। छाती पर फूलों के गजरे का वैकक्षक विलसित था। प्रभाकरवर्द्धन ने पैदल ही द्वार पर उसका स्वागत किया। वर ने नीचे उतरकर प्रणाम किया और राजा ने बाँह फैलाकर उसे गाढ़ आलिंगन दिया। पुनः ग्रहवर्मा ने राज्यवर्द्धन और हर्ष का भी आलिंगन किया। तब हाथ पकड़कर वर को भीतर ले गये एवं अपने समान ही आसन आदि उपचारों से उसका सम्मान किया।

तभी, गम्भीर नामक राजा के प्रिय विद्वान् ब्राह्मण ने ग्रहवर्मा से कहा—'हे तात, राज्यश्री के साथ तुम्हें संबद्ध पाकर आज पुष्पभूति और मुखर दोनों के वंश धन्य हुए।'

मान्य और प्रिय सखियों से और स्वजन-स्त्रियों से घिरी हुई लाल अंशुक का घूँघट डाले, कान में मोतियों की बालियाँ और पन्ने का कर्णाभरण पहने वधू राज्यश्री को देखा।[1] कोहबर में स्त्रियों ने जामाता से लोकाचार के अनुसार जो कुछ होता है, वह सब कराया और हँसोड़ स्त्रियों ने कुछ हँसी भी की। उसके बाद वर वधू का हाथ पकड़कर कोहबर से बाहर आया और विवाह-मंडप में रची हुई वेदी के समीप गया। यहाँ बाण ने पहले कोहबर और पीछे विवाह-वेदी के कृत्य का जो उल्लेख किया है, वह पंजाब का आचार है, जो कुरुक्षेत्र में भी प्रचलित रहा होगा। दिल्ली-मेरठ के क्षेत्र में यह बदल जाता है। वहाँ वेदी के निकट अग्निसाक्षिक विवाह-कार्य पहले होते हैं एवं कोहबर में देवताओं के थापे के आगे स्त्रियों के पूजाचार बाद में।

विवाह की वेदी चूने से ताजी पोती गई थी। निमंत्रित होकर आये हुए लोग वहाँ जमा थे। चारों ओर पास में रखे हुए कलसों से वह सुशोभित थी। कलसों के मुँह (पञ्चास्य) चौड़े थे। पानी की तरी से नये उगे हुए जवारे उनके बाहर निकले हुए थे। अँधेरे में रखे जाने के कारण उन घड़ों ने सूर्य का मुख नहीं देखा था। उनपर हलकी बत्ती या खरिया पुती थी।

ऊपर जिस वाक्य का अर्थ लिखा गया है, वह हर्षचरित के अतिक्लिष्ट और अर्थ की दृष्टि से अस्पष्ट वाक्यों में है। टीकाकार ने कई कूट-कल्पनाएँ की हैं, पर वे बाण के अर्थ को नहीं छू सकीं। पूरा वाक्य इस प्रकार है : सेकसुकुमारयवाङ्कुरदन्तुरैः पञ्चास्यैः कलशैः कोमलवर्णिकाविचित्रैरमित्रमुखैश्च उद्भासितपर्यन्ताम् (१४७)।

इसमें 'पंचास्यैः' का कावेल ने पाँच मुँहवाले (घड़े) और कणे ने सिंहमुखी अर्थ किया है। पंचास्य का एक अर्थ सिंह भी है; पर यहाँ ये दोनों अर्थ नहीं हैं। पंचास्य का अर्थ चौड़े मुँहवाला है। बाण जिस प्रथा का वर्णन कर रहे हैं, वह इस प्रकार है। मांगलिक अवसरों के लिए स्त्रियाँ घड़ों में मिट्टी डालकर जौ बो देती हैं और इतना पानी डालती हैं कि मिट्टी तर रहे। उस घड़े को सूरज की धूप नहीं दिखाते, अँधेरी कोठरी में रखते हैं। तब उसमें अंकुर फूटकर बढ़ने लगते हैं। दूसरे-तीसरे दिन आवश्यकतानुसार पानी का सेक या छिड़काव करते रहते हैं। लगभग दस-बारह दिन में यवांकुर काफी बढ़ जाते हैं। इन्हें हिन्दी में जवारा (पंजाबी में खेत्री) कहते है। दशहरे के अवसर पर जवारों को मांगलिक मानकर कानों में लगाते हैं। दशहरा यवांकुरों का विशेष पर्व है। झुंड-की-झुंड स्त्रियाँ जवारों के चौड़े मुँह के घड़े या मिट्टी के पात्र सिर पर रखे हुए नृत्य-गान के साथ नगर या ग्राम की उत्सव-यात्रा करती हैं। हरे-पीले यवांकुर अत्यन्त सुहावने लगते हैं। जवारों को मंगलांकुर भी कहा जाता था (अग्निपुराण ६८।३)। ये शराव, घटिका, पालि आदि में रोपे जाते थे (अग्नि ६८।४३) और उनसे चतुःस्तंभ-

[illegible] अमरकोश, रामाश्रमी टीका में पंचास्य का यह अर्थ स्पष्ट है (पञ्चं विस्तृतम् आस्यम् अस्य)।[2] बाण का पहला विशेषण सेक-सुकुमार-यवाङ्कुर-दन्तुरैः भी अब सार्थक हो जाता है। सेक का अर्थ हलका पानी का हाथ या छिट्टा है। सुकुमार पद इसलिए हैं कि जवारे दस-बारह दिन से अधिक के नहीं होते। दंतुर इसलिए कहा गया कि वे घड़े के बाहर निकल आते हैं। इस प्रकार, जवारों से भरे हुए घड़े तैयार हो जाने पर उन्हें रंगीन मिट्टी या बन्नी[3] से हलका पोतकर मंडप की सजावट के लिए वेदी के आस-पास रख दिया गया था।

इस वाक्य में दूसरी गाँठ 'अमित्रमुख' विशेषण है। कावेल, कणे और शंकर तीनों ने ही अमित्र का अर्थ शत्रु किया है। शत्रु की तरह भयंकर मुखवाले, यह अर्थ कलशों के लिए असंगत है। जवारे अँधेरे में उगाये जाते हैं, यही अमित्रमुख का तात्पर्य है। जिन्होंने मित्र या सूर्य का मुख नहीं देखा था, जिनके मुख में सूर्य-प्रकाश नहीं गया था, अथवा जो सूर्याभिमुख नहीं हुए थे, ऐसे यवांकुरों से सुशोभित वेदिकलश थे।

पंचास्य और अमित्रमुख कलशों का सीधा-सादा अर्थ, जो वेदी की सजावट के पक्ष में घटता है, ऊपर लिखा गया है। किन्तु, व्यंजना से कवि ने भावी अमंगल की सूचना भी दी है। जवारों के साथ घड़े शेर के मुँह-जैसे लगते थे और ऐसा प्रतीत होता था, मानों शत्रुओं के मुँह दिखाई पड़ रहे थे। बाण की यह शैली है। आगे भी कलंकी शशांकमंडल के आकाश में उदय का वर्णन करते हुए गौडराज शशांक के उदय की व्यंजना की गई है (१७८)।

वेदी के आस-पास मिट्टी की मूर्त्तियाँ हाथों में मांगल्य फल लिये हुए रची गई थीं, जिन्हें अंजलिकारिका कहा गया है। शंकर के अनुसार — अञ्जलिकारिकाभिः मृण्मयप्रतिमाभिः सालभञ्जिकाभिर्वा। आजकल भी इस प्रकार की मिट्टी की मूर्त्तियाँ बनाई जाती हैं, जिन्हें 'गूजरी' कहते हैं। वेदी के स्थान में वे सजावट के लिए रखी गई थीं।

विवाहाग्नि में आचार्य ईंधन डाल रहे थे। साक्षी-रूप से उपस्थित ब्राह्मण धुआँ हटाने के लिए अग्नि फूँक रहे थे। विवाह में पुरोहित या कर्मकर्त्ता मुख्य ब्राह्मण के अतिरिक्त कुछ ब्राह्मण उपद्रष्टा या साक्षी-रूप से भी रहते हैं, वे ऊपर के काम करते हैं। अग्नि के पास हरी कुशा, अश्मारोहण के लिए सिल, कृष्ण मृगचर्म, घृत, स्रुवा और समिधाएँ रखी हुई थीं। लाजाहोम के लिए नये सूप में शमी के पत्तों के साथ मिली हुई खीलें रखी थीं। आज भी विवाह के लिए ये ही उपकरण सामान्यतः जमा किये

---

१. श्रीगुप्तजी के यहाँ चिरगाँव (बुन्देलखण्ड) में जवारों का बहुत बड़ा उत्सव मुझे देखने को मिला, जिससे बाण का अर्थ मैं समझ सका।

२. पचि विस्तारे धातु से पंच शब्द बनता है।

यहाँ बाण ने प्राचीन श्रीमन्त कुलों में वर-वधू के चतुर्थी-कर्म के लिए सम्पादित वासगृह का सुन्दर वर्णन दिया है। उसके द्वारपक्ष या पक्खों पर एक ओर रति और दूसरी ओर प्रीति (कामदेव की दो स्त्रियों) की आकृतियाँ चित्रित की गई थीं। बंधुवर्मा के मंदसोर-लेख में प्रीति और रति के साथ कामदेव का उल्लेख है: श्लोक १३; मत्स्यपुराण २६२।५४-५५; प्रीतिः स्याः दक्षिणे तस्य... ...रतिश्च वामपार्श्वे तु। उसमें मंगलदीप जल रहे थे। एक ओर फूलों से लदे रक्ताशोक के नीचे धनुष पर बाण रखकर तिरछी ऐंची हुई मिचमिचाती आँख से निशाना साधते हुए कामदेव का चित्र बना था।[1] अन्दर सफेद चादर से ढका हुआ पलंग बिछा था, जिसके सिरहाने तकिया रखा था [चित्र ४६]।[2] उसके एक पार्श्व में सोने की झारी (काञ्चनआचामरुक, १४८) रखी थी और दूसरी ओर हाथी-दाँत का डिब्बा लिये हुए सोने की पुतली खड़ी थी। सिरहाने पानी-भरा चाँदी का निद्राकलश रखा था।

दान्त शफरुक या हाथी-दाँत के डिब्बे का वर्णन पहले सामन्त-स्त्रियों की लाई हुई भेंटों में किया गया है (१३०)। इसमें कत्था और सुपारी रखी जाती थी। शफरुक ऊँचा उठा हुआ लम्बोत्तरा गोल डिब्बा ज्ञात होता है। आजकल इसे फरुआ कहते हैं, जो लकड़ी का बनता है। हाथी-दाँत के शफरुक में कतरी सुपारी और सुगन्धित सहकार-तैल में भींगा हुआ खैर भरकर रखा था। निद्राकलश रखने की उस समय प्रथा थी। गंधर्व-लोक में चन्द्रापीड के शयन के पास भी इस प्रकार के निद्रा-मंगलकलश का वर्णन किया गया है (कादम्बरी १७८)।

वासगृह में भित्तियों पर गोल दर्पण लगे थे। उनमें वधू-मुख के प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे। ज्ञात होता है कि वासगृह की दीवारों का रूप कुछ-कुछ आदर्शभवन[3] (बाद के सीसमहल) की तरह था। गोल शीशों में पड़े मुख-प्रतिबिम्ब-जैसे लगते थे, मानों गवाक्षों से कौतुक देखने के लिए झाँकते हुए गृहदेवताओं की स्त्रियों के मुख हों। गवाक्षों से झाँकते हुए स्त्रीमुख गुप्तकाल की कला की विशेषता थी [चित्र ५०]।[4] डॉ० कुमार-

---

१. एकदेशलिखितस्तबकितरक्ताशोकतरुतलभाजा अधिज्यचापेन तिर्यक्कूणितनेत्रत्रिभागेन शरमृजूकुर्वता कामदेवेनाधिष्ठितम् (१४८)।

२. वासगृह में पलंग पर बैठे वर-वधू के चित्र के लिए देखिए, औंधकृत अजन्ता, फलक ५७, गुफा १७ का चित्र।

३. तिलकमंजरी (११वीं शती) में आदर्शभवन का निश्चित उल्लेख है (पृ० ३७२)। सम्भवतः सातवीं शती के महलों में भी सीसमहल कमरा बनने लगा था। आदर्श-भवन=गुजराती अरीसा महल, हिन्दी सीसमहल।

४. कालिदास ने भी लिखा है कि झाँकते हुए पुरस्त्रियों के मुखों से गवाक्षों के झरोखे भरे

का अध्ययन करते हुए बताया है कि शुंगकाल और कुषाणकाल में वातपान तीन प्रकार के थे—वेदिका-वातपान, जाल-वातपान और शलाका-वातपान, किन्तु गुप्तयुग की वास्तुकला में तोरणों के मध्य में बने हुए वातायन गोल हो गये हैं। तभी उनका गवाक्ष (बैल की तरह गोल)[1] यह अन्वर्थ नाम पड़ा।[2] इन झरोखों में प्रायः स्त्रीमुख अंकित किये हुए मिलते हैं। उसी के लिए बाण ने गृहदेवताननानीव गवाक्षेषु वीक्षमाण (१४८) यह कल्पना की है।

इस तरह ससुराल में दस दिन रहकर ग्रहवर्मा यौतक में दी हुई सामग्री के साथ (यौतकनिवेदितानि शम्बलानि आदाय, १४८) वधू को विदा करा अपने स्थान को लौट गया।



पाँचवाँ उच्छ्वास

पाँचवाँ उच्छ्वास दुःख और शोक के वर्णनों से भरा है। इसका नाम ही 'महाराज मरण-वर्णन' है। इसमें प्रभाकरवर्द्धन की मांदगी, रानी यशोवती का शोक के आवेग में सती होना, प्रभाकरवर्द्धन का देहावसान और हर्ष एवं राजकुल के शोक का अत्यन्त द्रावक वर्णन किया गया है। विषयारम्भ करते हुए बाण ने लिखा है—'काल जब करवट लेता है, अनेक महापुरुषों को भी एक साथ बिलट डालता है, जैसे पृथ्वी को सहस्र फनों पर धारण करनेवाला शेषनाग जब सुसताने के लिए एक मस्तक से दूसरे मस्तक पर बोझा बदलता है, तब बड़े-बड़े पहाड़ उलट-पुलट जाते हैं।' बैल के सींग बदलने से भूकम्प आने के जनविश्वास की भाँति शेषनाग के फन बदलने से भूचाल होने का विश्वास भी बहुत पुराना था।

जब राज्यवर्द्धन कवच पहनने की आयु प्राप्त कर चुका, तब प्रभाकरवर्द्धन ने उसे हूणों से युद्ध करने के लिए पुराने मन्त्रियों और अनुरक्त महासामन्तों की देखरेख में सेना के साथ उत्तरापथ की ओर भेजा। बाण ने प्रभाकरवर्द्धन को 'हूणहरिणकेसरी' कहा है। हूणों के साथ प्रभाकरवर्द्धन की भिड़न्त ५७५ ई० के आसपास हुई होगी। यशोधर्मन् (मालवा के जनेन्द्र शासक) और नरसिंहगुप्त बालादित्य ने हूण-सम्राट् मिहिरकुल को ५३३ ई० के लगभग मध्यभारत से उखाड़ दिया था। मिहिरकुल अपनी पुरानी राजधानी शाकल की ओर बढ़ा, किन्तु वहाँ उसका भाई जमा बैठा था, अतएव उसने कश्मीर में शरण ली और धोखे से उसे हड़प लिया। वहाँ से अपने पुराने राज्य गंधार पर धावा किया, और वहाँ के अन्य हूण शासक को मारकर स्वयं राजा बन बैठा। ५४२ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के समय हूण कश्मीर और गंधार में जमे थे। ५४७ ई० के लगभग कोसमा इंडिको प्लेउस्ते ने लिखा है कि श्वेत हूण भारत के उत्तर में थे और उनके तथा भारतवर्ष के बीच में सिन्धु नदी सीमा थी। हूणों के इन्हीं दो राज्यों के विरुद्ध प्रभाकरवर्द्धन ने युद्ध किया होगा। उसे इसमें कितनी सफलता मिली, यह निश्चित नहीं; क्योंकि हम उसे हूणों को जीतने के लिए पुनः राज्यवर्द्धन को उत्तरापथ की ओर भेजते हुए पाते हैं। कश्मीर और विशेषतः गंधार बाण के उत्तरापथ में सम्मिलित जान पड़ते हैं। कुवलयमालाकथा (७७८ ई०) के अनुसार तोरमाण उत्तरापथ का राजा था। सातवीं शती के ऐतिहासिक भूगोल में गन्धार और उससे लगे हुए प्रदेश उत्तरापथ के अन्तर्गत थे। उत्तरापथ की विजय का सिरदर्द प्रभाकरवर्द्धन के साथ अन्त समय तक रहा, इसीलिए उसने कवच धारण के योग्य होते ही राज्यवर्द्धन को अपरिमित सेना (अपरिमितबलानुयातम् १५०),

लौटकर बेंत की शीतलपाटी (वेत्रपट्टिका) पर, जिसके सिरहाने धवल उपधान रखा था, चिन्तित बैठा था कि दूर से ही उसने कुरंगक नाम के दूरगामी (दीर्घाध्वग) लेखहारक को आते हुए देखा। दीर्घाध्वग मेखलक (५२) के समान इसके सिर पर भी नीली पट्टी माला की तरह बँधी हुई थी, जिसके भीतर लेख था।[1] चीरचीरिका कपड़े का वह फीता था, जो प्रायः मूर्त्तियों के माथे के चारों ओर बँधा हुआ मिलता है। उसके दोनों सिरे चिड़ियों की दोफँकी पूँछ के ढंग से पीठ के ऊपर फहराते हुए दिखाये जाते हैं। भारतवर्ष और सासानी ईरान दोनों ही जगह यह उस युग की वेषभूषा थी। उसके उत्तरीय पट के छोर कंधे के दोनों ओर नीचे तक छहरा रहे थे : अभिमुखपवनप्रेङ्खत्प्रविततोत्तरीय-पटप्रान्तवीज्यमानोभयपार्श्वम् (१५१)। हवा में उड़ती हुई गन्धर्व-मूर्त्तियों में भी उत्तरीय की यही छवि दिखाई जाती है।

कुरंगक ने प्रणाम कर आगे बढ़कर लेख दिया। हर्ष ने स्वयं ही उसे लेकर बाँचा। लेखार्थ समझकर उसने पूछा—'कुरंगक, पिताजी को कौन-सी बीमारी (मान्द्य, १५२) है ?' उसने कहा—'देव, महान् दाहज्वर है।' सुनकर हर्ष को बहुत दुःख हुआ। तुरन्त उसने सामने खड़े हुए युवक को घोड़े पर जीन (पर्याण) कसवाने की आज्ञा दी। ज्ञात होता है, उस समय पदाति सैनिक के लिए आजकल के 'जवान' की तरह 'युवन्' शब्द का व्यवहार होता था।[2] बाण ने यहाँ सैनिक अभिवादन की रीति का उल्लेख किया है। पदातियों के एक हाथ में प्रायः तलवार रहती थी (दे० पृ० २१, कृपाणपाणिना)। उसे मस्तक से छुलाकर वे सैनिक अभिवादन की रीति पूरी करते थे।[3] तुरन्त ही अश्वपाल (परिवर्द्धक, १५२) के लाये हुए घोड़े पर सवार होकर वह चल दिया।

उसकी टुकड़ी में अचानक कूच का संकेत देनेवाला शंख बजा दिया गया : अकाण्ड-प्रयाणसंज्ञाशङ्ख (१५२)।[4] तुरन्त चारों ओर से घुड़सवार तैयार होकर चल पड़े। चलते समय उसे तीन तरह के असगुन हुए। हिरन बाईं ओर से निकले, कौआ सूर्य की ओर मुख करके सूखे पेड़ पर बैठकर काँव-काँव करने लगा और नंगा साधु मैले-कुचैले शरीर से हाथ में मोरछल लिये सामने दिखाई पड़ा (१५२)। शकुन-शास्त्र के अनुसार उपर्युक्त तीनों बातें प्राचीन भारत में अपशकुन समझी जाती थीं। हिरन को उचित है कि सिंह की परिक्रमा करता हुआ निकले, यदि वह सिंह को अपना बायाँ देता है, तो यह सिंह के विनाश का सूचक है : विनाशमुपस्थितं राजसिंहस्य। कादम्बरी में कहा है कि हिरन यदि स्त्री की प्रदक्षिणा करता हुआ निकले, तो वह उस स्त्री के लिए अशुभ है :

---

१. लेखगर्भया नीलीरागमेचकरुचा चीरचीरिकया रचितमुण्डमालकम् (१५१)।

२. तुलना कीजिए, पृ० २१, युवप्रायेण सहस्रमात्रेण पदातिबलेन।

अमात्य राक्षस ने क्षपणक-दर्शन को अशुभ कहा है।

वह जल्दी-जल्दी मार्ग लाँघता हुआ चला। भंडि के कहने पर भी उसने भोजन नहीं किया और रात में भी बराबर रास्ता तय करता रहा। बाण ने यहाँ कहा है कि राजा या राजकुमार की सवारी से पहले ही प्रतीहार हरावल की तरह भेज दिये जाते थे। वे लोग गाँववालों को पकड़कर मार्ग-सूचन के लिए रास्ते के किनारे थोड़ी-थोड़ी दूर पर खड़ा कर देते थे : पुरःप्रवृत्तप्रतीहारगृह्यमाणग्रामीणपरम्पराप्रकटितप्रगुणवर्त्मा (१५२)। ये लोग हाथ में रस्सी या जंजीर पकड़े रहते थे, जिसके कारण इन्हें मुगलकाल में जंजीरबरदार कहा जाता था (मनुच्चि, स्तोरिया दि मुगोर, अर्सकीन का अँगरेजी-अनुवाद)।

अगले दिन वह स्कन्धावार में पहुँच गया। यह राजकीय छावनी स्थाण्वीश्वर में थी। उसने देखा कि स्कन्धावार में बाजे-गाजे, उत्सव-हाट का सब काम बन्द है। वहाँ तरह-तरह के पूजा-पाठ और भूतोपचार हो रहे हैं। यद्यपि बाण ने इनका पूरा वर्णन दिया है, तथापि ये प्रथाएँ अत्यन्त भीषण होने के कारण तत्कालीन संस्कृति के लिए शोभास्पद नहीं कही जा सकतीं। एक ओर कोटि होम की आहुतियों का धुँआ यमराज के भैंसे के टेढ़े सींग की तरह उठ रहा था। स्नेही स्वजन उपासे रहकर हर को प्रसन्न करने में लगे थे। राजघरानों के कुलपुत्र दियाली जलाकर सप्तमातृकाओं (मातृमंडल) को प्रसन्न कर रहे थे। कहीं पाशुपतमतानुयायी द्रविड़ मुण्डोपहार चढ़ाकर वेताल (आमर्दक) को प्रसन्न करने की तैयारी में था।[२] कहीं आंध्रदेश का पुजारी अपनी भुजा उठाकर चंडिका के लिए मनौती मान रहा था। एक ओर नये भरती हुए नौकरों (नवसेवक) के सिर पर गुग्गुल जलाकर महाकाल को प्रसन्न किया जा रहा था और इस पीडा से वे छटपटा रहे थे। बाण ने अन्यत्र लिखा है कि इस तरह सिर के आधे हिस्से पर गुग्गुल जलाने से कपाल की हड्डी तक जलकर दीखने लगती थी (१३)। एक ओर आप्तश्रेणी के लोग अनिष्टबाधा-निवृत्ति के लिए तेज छुरी से स्वयं अपना मांस काट-काटकर होम कर रहे थे : आत्ममांसहोम। कहीं राजकुमार लोग खुले आम महामांस की बिक्री की तैयारी में थे। यह क्रिया शैवों में कापालिक लोगों की थी, जो अपने आपको महाव्रती भी कहते थे। वे एक हाथ में खट्वांग लिये रहते थे। महामांस का विक्रय वेतालों के लिए किया जाता था। छठे उच्छ्वास में भी महाकाल के मेले में प्रद्योत के राजकुमार द्वारा महामांस-विक्रय का उल्लेख है (१९९)।

---

१. हिन्दी का लुच्चा-लुंगाड़ा शब्द संस्कृत के लुंचित-नग्नाटक से बना है। नंगे जैनसाधु के लिए बाण ने क्षपणक शब्द का भी उल्लेख किया है (४८)। ये लोग हाथ में मोर के पंखों की पीछी रखते थे और बहुत दिनों तक स्नान न करने से अत्यन्त मैले रहते थे। दिवाकरमित्र के आश्रम के वर्णन में इन्हीं साधुओं को आर्हत कहा है (२३६)।

बाजार में घुसते ही हर्ष ने एक यमपट्टिक को देखा। सड़क के लड़कों ने उसे घेर रखा था। बायें हाथ में ऊँची लाठी के ऊपर उसने एक चित्रपट फैला रखा था, जिसमें भयंकर भैंसे पर चढ़े यमराज का चित्र लिखा था। दाहिने हाथ में सरकंडा लिये हुए वह लोगों को चित्र दिखाता और परलोक में मिलनेवाली नरक-यातनाओं का बखान कर रहा था।[1] बाण ने अन्यत्र कहा है कि यमपट्टिक लोग चित्र दिखाते समय जोर-जोर से पद्यबद्ध कुछ कहते जाते थे : उद्गीतकाः (१३८)। सम्भवतः, उनका विषय स्वर्ग-नरक के सुख-दुःख था। देवी-देवताओं के चित्रपटों की प्रथा खूब चल गई थी। लक्ष्मीपट्ट, अनंगपट्ट आदि के अवतरण मिलते हैं। मध्य एशिया से लगभग बाण के समकालीन अनेक बुद्धपट सहस्रबुद्धगुफामन्दिर से प्राप्त हुए हैं।

हर्ष स्कन्धावार पार करके राजद्वार पर आया। ड्योढ़ी के भीतर सब लोगों का आना-जाना रोक दिया गया था। जैसे ही वह घोड़े से उतरा, उसने सुषेण नामक वैद्यकुमार को भीतर से बाहर आते हुए देखा और पिता की हालत पूछी। सुषेण ने कहा—'अभी तो अवस्था में सुधार नहीं है, आपके मिलने से कदाचित् हो जाय।' ड्योढ़ी पर द्वारपालों ने उसे प्रणाम किया और वहाँ उसने अनेक प्रकार के पूजा-पाठ और उपचार होते हुए देखे। लगभग सभी धर्मों के अनुसार मन्त्रों का पाठ-जप और देव-पूजन चल रहा था। तत्कालीन समन्वयप्रधान धार्मिक स्थिति पर इससे प्रकाश पड़ता है। वहाँ दान-दक्षिणा दी जा रही थी; कुलदेवताओं का पूजन हो रहा था, अमृतचरु पकाना आरम्भ किया गया था, षडाहुति होम हो रहा था।[2] महामायूरी का पाठ चल रहा था। जैसा कि शंकर ने लिखा है, महामायूरी बौद्धों की विद्या थी।[3] ग्रहशान्ति का विधान हो रहा था और भूतों से रक्षा के लिए बलि दी जा रही थी। संयमी ब्राह्मण संहिता-मंत्रों का जप करने में लगे थे। शिव के मन्दिर में रुद्र-एकादशी (यजुर्वेद के रुद्र-सम्बन्धी ११ अनुवाक) का जप बैठा हुआ था। अत्यन्त पवित्र शैव भक्त विरूपाक्ष (शिव) को एक सहस्र दूध के कलशों से स्नान कराने में लगे थे। राजद्वार के सामने खुले आँगन में राजा लोग जमा थे और भीतर से बाहर आनेवाले राजा के निकटवर्ती सेवकों से सम्राट् के स्वास्थ्य का हाल-चाल पूछ रहे थे (१५४)।

राजद्वार के बाहर के इस चित्र में पूरा रंग भरने के लिए बाण ने बाहर ही काम करनेवाले नौकरों (बाह्य परिजन) के आलापों का भी परिचय दिया है। वे लोग राजद्वार के बाहरी अलिंद या द्वार से सटे हुए कोठों में ठठ्ठ बनाकर बैठे कानाफूसी कर रहे थे। दुःख से उनके मुख मलिन थे। कोई कहता, वैद्यों से ठीक चिकित्सा नहीं बन पड़ी; कोई व्याधि को असाध्य कहकर उसके लक्षण बताता; कोई अपने दुःस्वप्नों की चर्चा करता; कोई कहता कि पिशाच ने राजा को धरा है; कोई दैवज्ञों की कही हुई बात सुनाता;

---

१. प्रविशन्नेव च विपणिवर्त्मनि कुतूहलकलबहलबालकपरिवृतमध्वयष्टिविष्कम्भवितते वाम-

करता, कभी राजकुल के देवताओं की निन्दा करता, कभी उन कुलपुत्रों के भाग्य की निन्दा करता, जिनपर दुःख का पहाड़ टूट पड़ा था।

इस प्रकार वह राजकुल में प्रविष्ट हुआ। अनेक प्रकार के औषधिद्रव्य, तरल पदार्थों और सुगन्धियों से औंटाये जाते हुए काढ़ों, घृत और तैलों की गन्ध लेते हुए वह महल की तीसरी कक्ष्या में पहुँचा। राजभवन में तीन कक्ष्याएँ या चौक लगते थे, ऐसा मणितारा के स्कन्धावार के सम्बन्ध में कहा जा चुका है (६६)। चौथी कक्ष्या में राजा का निजी आस्थानमंडप होता था। बीमारी के समय प्रभाकरवर्धन चौथी से तीसरी कक्ष्या में आ गये थे। वाल्मीकिरामायण में भी कहा है कि महल में तीन कक्ष्याएँ होती थीं और तीसरी में रनिवास रहता था (अयो० २०।१२)।[1]

यहाँ थानेश्वर के राजभवन में तीसरी कक्ष्या में देवी यशोवती का धवलगृह था। उसी में इस समय प्रभाकरवर्धन थे।

धवलगृह (हिन्दी धौराहर, धरहरा)—राजकुल के भीतर राजा और महादेवी के निवास का मुख्य महल धवलगृह कहलाता था। उसकी देहली पर अनेक वेत्रधारी प्रतीहारियों का कड़ा पहरा लगता था। उसके अंदर लंबी-चौड़ी वीथियाँ थीं, जो तिहरे पर्दे के पीछे छिपी थीं : त्रिगुणतिरस्करणीतिरोहितसुवीथिपथे (१५५)। अजन्ता के चित्रों को देखने से वीथियों और परदों का क्रम कुछ समझ में आता है। राजा साहब औंधकृत अजन्ता पुस्तक के फलक ६७ पर विश्वन्तरजातक के एक दृश्य में विश्वन्तर टापदार छोटे पायों की चौकी (पर्यङ्किका) पर बैठे है। उनके पीछे रंगीन बटी हुई डोरी पर दौड़ती हुई नलकियों से लटकती रंग-विरंगी लंबी तिरस्करणी तनी हुई है। उसके पीछे एक ऊँची तिरस्करिणी और अन्त में लाल परदा या कनात है, जिसके बीच में दीसिपट (छोटा परदा) भी दिखाया गया है। इन परदों के अंदर की तरफ सुडौल खम्भों के ऊपर छत के पटाव-समेत आँगन की ओर खुलते हुए दालान हैं। ये ही महल के अंदर की सुवीथियाँ हैं। फलक-संख्या ७७, ५७, ४१ और ३३ में भी तिरस्करणी के अन्दर की ओर खम्भों के साथ बनी हुई वीथियाँ दिखाई गई हैं। ये वीथियाँ अत्यन्त सुन्दर और अलंकृत होती थीं। वीथियों और बाहर की दीवार के बीच में दास-दासियों के आने-जाने के लिए गलियारा रहता था। उसे ही हर्षचरित में वीथी-पथ कहा गया है। महल के भीतरी भाग में पहुँचने के लिए पक्षद्वार भी होते थे। उपर्युक्त पुस्तक के फलक ७७ पर वीथी के बाईं ओर की दीवार या ओटे में पक्षद्वार स्पष्ट दिखाया गया है [चित्र ५१]। इसी में होकर लोग वीथी के भीतर आते-जाते दिखाये गये हैं।

---

१. प्रविश्य प्रथमां कक्ष्यां द्वितीयायां ददर्श सः।

बाण के ग्रन्थों में राजकीय स्कन्धावार, उसके भीतर बने हुए राजकुल एवं उसके भीतर सम्राट् और महादेवी के निजी निवास के लिए निर्मित धवलगृह—इन तीनों के स्थापत्य का स्पष्ट चित्र उपलब्ध होता है। स्कन्धावार और राजकुल के विषय में संक्षेप में ऊपर कहा जा चुका है। धवलगृह का स्वरूप बाण के समय में इस प्रकार था—धवलगृह की ड्योढ़ी गृहअवग्रहणी कहलाती थी। अवग्रहणी का अर्थ रोक-थाम या रोक-टोक करने की जगह था; क्योंकि राजद्वार में बाहर से प्रविष्ट होनेवाले व्यक्ति यहीं पर रोके जाते थे और विशेष राजाज्ञा या प्रसाद जिन्हें प्राप्त था, वे ही उसके भीतर प्रवेश पाते थे। गृहावग्रहणी में गृह पद धवलगृह का ही अवशिष्ट रूप है। गौरव के लिए उसके साथ गृह पद आवश्यक था, इसलिए बोलचाल में वह बचा रहा, फिर इसका साधारण अर्थ देहली हो गया।[1] यहाँ के कड़े प्रबन्ध की सूचना में बाण ने कहा है कि इस स्थान पर बहुसंख्य वेत्रग्राही नियुक्त रहते थे और उनके अन्धकार भी अन्य वेत्रग्राहियों की अपेक्षा अधिक थे। एक प्रकार में, गृहावग्रहणी के वेत्री लोगों का उसपर कब्जा माना जाता था और उनकी अनुमति के बिना कोई भीतर-बाहर आ-जा नहीं सकता था : गृहावग्रहणी ग्राहिबहुवेत्रिणि (१५५)।

धवलगृह में भीतर चारों ओर कमरों की पंक्ति होती थी। इसके लिए मूल शब्द 'चतुःशाल' था। चतुःशाल का ही 'चौसल्ला' रूप बनारस की बोली में अभी तक प्रचलित है। यह शब्द उस स्थापत्य से लिया गया था, जिसमें एक आँगन के चारों ओर चार कमरे या दालान बनाये जाते थे। गुप्तकाल में इस चतुःशाल भाग को 'संजवन' कहने लगे थे (अमरकोष)। बाण ने भी इसी शब्द का प्रयोग किया है। संजवन का अर्थ है वह स्थान, जहाँ विशेष आज्ञा से लोग पहुँच सके।[2] संजवन या चतुःशाल स्थान धवलगृह की ड्योढ़ी के भीतर थीं, अतएव वहाँतक पहुँचना कठिनाई से ही हो सकता था। संजवन या चतुःशाल के विशाल आँगन में बीचो-बीच राजा और रानियों के रहने का निजी स्थान था। इसकी ड्योढ़ी के भीतर दो छोटे-छोटे पक्षद्वार थे, उन्हीं से भीतर प्रवेश सम्भव था। यह कुलस्थान, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, तिहरी तिरस्करणी से घिरा रहता था। इसके भीतर तीन ओर सुवीथियाँ थीं। अजन्ता की गुफाओं में परिवार के साथ बैठे हुए राजा-रानियों के जो कई चित्र हैं, वे इन्हीं वीथियों से सम्बन्ध रखते हैं। यहीं पक्षद्वारों के पास ऊपर जाने के लिए सोपानमार्ग बना होता था। ऊपर के तल्ले में आगे की ओर तीन कमरे रहते थे, जो विशेष रूप से राजा-रानी के निजी कमरे थे। बीच में प्रग्रीवक (उठने-बैठने का कमरा[3]), दाहिनी ओर वासगृह (सोने का कमरा) और बाईं ओर सौध, जिसकी छत अधिकांश खुली रहती थी। यहाँ रानी यशोवती स्तनांशुक को भी छोड़कर चाँदनी में बैठती थी। वासगृह सबसे अन्तरंग कमरा था, जहाँ राजा-रानी विश्राम करते थे।

पर बना हुआ खुला कमरा था। यहाँ विशेष रूप से चाँदनी में उठते-बैठते थे और रात्रि के उत्सव भी यहीं मनाये जाते थे।

इस प्रकार के धवलगृह की रचना का एक स्पष्ट चित्र हर्षचरित से प्राप्त होता है। स्कन्धावार, राजकुल और धवलगृह इन तीनों का सन्निवेश स्पष्ट समझाने के लिए परिशिष्ट में उनके तलदर्शन (ग्राउंड प्लान) के स्वरूप (नक्शे) चित्र में अंकित किये गये हैं। न केवल बाणभट्ट, अपितु संस्कृत के अन्य काव्यों में भी राजकुल के विविध भागों का उल्लेख बराबर आता है, जो इन चित्रों की सहायता से स्पष्ट हो सकेगा।

प्रस्तुत प्रसंग में यह कहा गया है कि प्रभाकरवर्द्धन अपनी बीमारी की हालत में धवलगृह में थे। धवलगृह की उस समय क्या अवस्था थी, यह भी प्रस्तुत वर्णन से ज्ञात होता है। वहाँ उस समय बिलकुल सन्नाटा छाया हुआ था। पत्तद्वार बंद कर दिया गया था। गवाक्ष या रोशनदान बंद कर दिये गये थे, जिससे सीधी हवा न आ सके : घटितगवाक्षरक्षितमरुति। सोपान पर पैरों की आहट होने से प्रतीहारी विशेष कुपित होते थे। राजा का निजी अंगरक्षक (कंकटी, जो रक्षा के सब साधनों से हर समय लैस रहता था) अत्यन्त निकट न होकर कुछ हटकर बैठा था। आचमन का पात्र लिये हुए सेवक कोने में खड़ा था। पुराने मन्त्री लोग चन्द्रशालिका में चुप मारे बैठे थे। स्वजन स्त्रियाँ अत्यन्त विषादयुक्त अवस्था में सुगुप्त प्रग्रीवक (मुखशाला) में बैठी थी : बान्धवाङ्गना गृहीतप्रच्छन्नप्रग्रीवके (१५५)। सेवक लोग दुःखी होकर नीचे संजवन या चतुः शाला में एकत्र थे। कुछ ही प्रेमी व्यक्तियों को धवलगृह में अंदर आने की आज्ञा मिल सकी थी। वैद्य भी ज्वर की गम्भीरता से डर गये थे। मन्त्री घबराये हुए थे। पुरोहित का बल भी फीका पड़ रहा था। मित्र, विद्वान्, मुख्य सामन्त सभी दुःख में डूबे थे। चामरग्राही और शिरोरक्षक (प्रधान अंगरक्षक) दोनों दुःख से कृश थे। राजपुत्रों के कुमार रात-भर जागने से धरती पर ही पड़कर सो गये थे।[1] कुल में परम्परा से आये कुलपुत्र[2]

---

१. बाण ने 'राजपुत्र कुमारक' का पहली बार प्रयोग विशेष अर्थ में किया है। राजपुत्र का अर्थ यहाँ राजपूत जान पड़ता है। राजपूतों की विभिन्न शाखाओं के प्रधान घरानों से बाण का तात्पर्य ज्ञात होता है। उनके पुत्र सम्राट् के यहाँ बारी-बारी से उपस्थित रहने में अपना गौरव मानते थे। ऐसी किसी प्रथा की सम्भावना सूचित होती है, पर इस विषय में और प्रमाण-सामग्री की आवश्यकता है।

२. कुलपुत्रों का बाण ने कई बार उल्लेख किया है। वे ऐसे राजकुमार थे, जिन्हें राजा और रानी पुत्र समझ करके स्वीकार कर लेते थे और जो राजकुल में ही रहते थे। प्रभाकर-वर्द्धन की बीमारी से दुःखित होकर एक कुलपुत्र ने भक्ति के आवेश में आकर अपने-आपको आग में जला दिया। इस समाचार को सुनकर हर्ष ने कहा—'क्या पिता

अध्यक्ष (तोयकर्मान्तिक) की बार-बार पुकार हो रही थी। तक्र की मटकियों को बरफ में लपेटकर ठंडा किया जा रहा था।[1] बरफ के प्रयोग के सम्बन्ध में बाण का यह उल्लेख सबसे प्राचीन है। जाड़े में हिमालय से लाकर बरफ का संचय भूमि के नीचे गड्ढे खोदकर उनमें यत्नपूर्वक रखा जाता था।

इस वर्णन में सांस्कृतिक वर्णन की दृष्टि से कुछ अन्य बातें इस प्रकार हैं। श्वेत गीले कपड़े में लपेटकर कपूर की सलाइयाँ ठंडी की जा रही थीं। नये बरतनों के चारों ओर गीली मिट्टी लथेड़कर उसमें कुल्ली करने की ओषधि रखी हुई थी। लाल रंग की कच्ची शक्कर की तेज गन्ध उठ रही थी। एक ओर घड़ौंची पर पानी भरी हुई बालू की सुराही रखी हुई थी : मञ्चिकाश्रितसिकतिलकर्करी (१५६)। उसपर रोगी की दृष्टि पड़ने से उसे कुछ शान्ति मिलती थी। पानी में भींगी हुई सिरवाल घास में लपेटी हुई गोलें छींकों पर टँगी हुई थीं। उनमें से रिसता हुआ जल वायु को शीतल कर रहा था।[2] गल्वर्क की सरैयों में भुजिया के सत्तू भरे हुए थे और पीले मसार की प्याली में सफेद शक्कर रखी हुई थी : गल्वर्कशाराजिरोल्लासितलाजसक्तुनि पीतमसारपारी-परिगृहीत कर्कशर्करे (१५६)।

इस प्रसंग में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—एक तो पाटलशर्करा (लाला या गुड़िया शक्कर) और दूसरे कर्कशर्करा[3] या सफेद शक्कर (खाँड़ की चासनी को पकाकर और कूटकर बनाया हुआ बूरा)। इन दोनों का पृथक्-पृथक् उल्लेख भारतीय शर्करा के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

गल्वर्क के शाराजिर और मसार की पारी, ये उस समय के रत्नपात्र थे, जो राजकीय खान-पान में काम आते थे। शाराजिर बाण में कई जगह आता है। इसका मूल अर्थ मिट्टी की सराई थी। शार और अजिर इन दो शब्दों के मिलने से यह बना है, जिसका अर्थ है वह वस्तु, जिससे आँगन शबलित हो जाय। इस शब्द के प्रचलन का मूल कारण यह था कि कुम्हार चाक पर जो सरैयाँ बनाता जाता था, वे आँगन में बालू की तरह बिछाकर

---

१. तुषारपरिकरितकरकशिशिरीक्रियमाणोदश्विति (१५५)।

२. सरस शेवलवलयितगलद्गोलयन्त्रके (१५६)। सिरवाल (शेवल) एक प्रकार की लम्बी घास है, जो बहते पानी में प्रायः होती है। इसी से नदी को शैवलिनी कहते हैं। यह बहुत गरम होती है। बीच-बीच में इसकी तह बिछाने से राब में से शीरा टपककर अलग हो जाता है। यहाँ भी सम्भवतः वही उद्देश्य था। सिरवाल की गरमी से गोल का पानी रिसकर बाहर आ रहा था और भाप बनकर उड़ रहा था।

३. कर्कश्वेत सफेद घोड़े को भी कहा गया है। दे० महाभाष्य, समाने च शुल्के

सूखने के लिए फैला दी जाती थीं। यों सफेद और काले के मिलने से कुम्हार के घर का खुला आँगन शबलित दिखाई पड़ता था। पारी का अर्थ पाली या कटोरी है। हिन्दी में यह शब्द अब भी प्रयुक्त होता है।

गल्वर्क और मसार ये दोनों शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। महाभारत, दिव्यावदान और मृच्छकटिक में भी ये दोनों शब्द प्रयुक्त हुए हैं। मसार का रूप मुसार भी मिलता है। मसार संस्कृत अश्मसार से सम्बद्ध हो सकता है। पूर्व देश के राजा अश्मसार के बरतन युधिष्ठर के लिए भेंट में लाये थे। बहुत सम्भव है कि मसार बर्मा से आनेवाली यशब (अँगरेजी जेड) का नाम था। बाण ने उसके आगे पीत विशेषण लगाया है। हलके पीले रंग की यशब को पीत मसार कहा गया ज्ञात होता है। दूसरा संग, जिसके खान-पान के पात्र बनते थे, हकीक था। उसी के लिए सम्भवतः गल्वर्क शब्द प्रयुक्त होता था।[1]

इसके बाद काव्य की शैली से प्रभाकरवर्द्धन की रुग्णावस्था का वर्णन किया गया है (१५६)। उसमें प्रासंगिक रूप से यह सूचना आई है कि जब राजा लोग दूतों से भेंट करते थे, तो वे उस अवसर के अनुरूप विशेष आभूषण पहनकर ठाट-बाट का प्रदर्शन करते थे।[2] जिस समय प्रभाकरवर्द्धन ने हर्ष को देखा, उन्होंने उठने की कुछ चेष्टा की। हर्ष ने उन्हें प्रणाम किया। उन्होंने बड़ी कठिनता से इतना कह पाया—'हे वत्स, कृश जान पड़ते हो।' भंडि ने सूचना दी कि हर्ष को भोजन किये हुए तीन दिन हो चुके हैं। यह सुन प्रभाकरवर्द्धन ने गद्गद होकर रोते हुए कहा—'उठो, आवश्यक क्रियाएँ करो। तुम्हारे आहार करने के बाद ही मैं भी पथ्य लूँगा।' फिर, क्षण-भर वहाँ ठहरकर हर्ष धवलगृह से नीचे उतरा और अपने स्थान पर जाकर उसने दो-चार कौर खाये। पुनः वैद्यों को अलग बुलाकर पिता की हालत पूछी। उन्होंने गोल-मोल उत्तर दिया। उन वैद्यों में रसायन नाम का एक वैद्यकुमार था, जो अष्टांग आयुर्वेद का ज्ञाता और राजकुल के साथ वंश-परम्परा से सम्बद्ध था। हर्ष ने उससे पूछा—'सखे रसायन, सच्ची हालत बताओ। क्या कुछ खटके की बात है?' उसने उत्तर दिया—'देव, कल प्रातः निवेदन करूँगा।' इसके बाद हर्ष पुनः धवलगृह में सम्राट् के समीप ऊपर गया। वहाँ रात में प्रभाकरवर्द्धन की हालत और बिगड़ी हुई थी। वे बहकी-बहकी बातें कर रहे थे। प्रातःकाल होने पर हर्ष फिर नीचे उतर आया। इससे यह ज्ञात होता है कि प्रभाकरवर्द्धन बीमारी की हालत में धवलगृह के ऊपरी भाग में थे। धवलगृह से राजद्वार तक हर्ष पैदल ही आया।

---

१. श्रीसुनीतिकुमार चटर्जी ने गल्वर्क और मसार शब्दों पर विस्तृत विचार करते हुए यह सम्मति प्रकट की है कि संस्कृत मसार या मुसार शब्द चीनी 'मोसो' से, जिसका प्राचीन उच्चारण 'मुवासार' था, निकला है। चीनी शब्द को वे ईरानी शब्द बस्सद (=मूँगा) से लिया हुआ समझते हैं, किन्तु यह मत असंदिग्ध नहीं है।

गल्वर्क शब्द उनकी दृष्टि में तमिल 'कल', तेलुगु 'कल्ल', सिंहली 'गल्ल' से संबद्ध है, जिसका मूल अर्थ पत्थर था। गल्ल—गल्लक से संस्कृत रूप गल्वर्क (गल्ल अर्क)

अतिरिक्त अन्य कोई घोड़े पर चढ़कर नहीं जा सकता था। यह नियम राजकुमारों के लिए भी लागू था।

वहाँ से उसने राज्यवर्द्धन को बुलाने के लिए तेज दौड़नेवाले दीर्घाध्वग (लम्बी मंजिल मारनेवाले) संदेशहरों को और वेगगामी साँड़नी सवारों (प्रजविनः उष्ट्रपालान्) को तला-ऊपरी दौड़ाया। इसी बीच में उसने सुना कि एक कुलपुत्र ने सम्राट् के प्रति भक्ति और स्नेह से अभिभूत होकर आग में कूदकर जान दे दी है। हर्ष की प्रतिक्रिया हुई कि इसने अपने कुलपुत्रता-धर्म को चमका दिया। इसका यह काम स्नेह के अनुसार ही हुआ; क्योंकि पिता प्रभाकरवर्द्धन और माता यशोवती क्या इसके भी पिता-माता न थे। कुलपुत्रों का राजकुल के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध इस कथन से सूचित होता है। उस दिन वह राजभवन में नहीं गया। उत्तरीय से मुख ढककर अपने पलंग पर पड़ा रहा।

दुःख की उस अवस्था में राजभवन की सब हँसी-खुशी जाती रही। परिहास, गीत-गोष्ठियाँ, लास्य, प्रसाधन, उपभोग, आहार-आपानमंडल, बन्दिजनों के श्लोकपाठ, सब कुछ बन्द-से थे। इस समय राजधाम में अनेक प्रकार के अपशकुन होने लगे। बाण ने सोलह प्रकार के महोत्पात कहे हैं, जैसे भूकम्प, समुद्र की लहरों का मर्यादा छोड़कर बढ़ना, धूमकेतुओं का आकाश में ऊँचे पर दिखाई देना, उन्हीं का नीचे क्षितिज के पास दिखाई पड़ना, सूर्यमंडल में कबन्ध का दिखाई पड़ना, चन्द्रमा का जलते हुए कुण्डल के भीतर बैठना, लाली से दिशाओं का लहूलुहान हो जाना, पृथ्वी पर रक्त की वर्षा होना, दिशाओं का काले-काले मेघों से ओझल हो जाना, घोर वज्रपात होना, धूल-गुबार का सूर्य के ऊपर छा जाना, स्यारों का मुँह उठाकर रोना, प्रतिमाओं के केशों का धुँधुआना, सिंहासन के समीप भौंरों का उड़ना, कौओं का अन्तःपुर के ऊपर उड़ते हुए काँव-काँव करना, बूढ़े गृद्ध का सिंहासन में जड़े माणिक्य पर मांसखंड की तरह झपटना। इस प्रकार के अशुभ निमित्त या प्राकृतिक उत्पातों का विचार बाणभट्ट के समय काफी प्रचलित था। वराहमिहिर-कृत बृहत्संहिता में इस प्रकार के उत्पातों और अपशकुनों पर विस्तृत विचार किया गया है।

यशोवती की वेला नामक प्रतीहारी ने आकर हर्ष को सूचना दी कि महादेवी ने सम्राट् के जीते ही अनुमरण का भयंकर निश्चय कर लिया है। वेला के वर्णन में क्वणित तुलाकोटिसंज्ञक नूपुर, शिंजान रशना, तरंगित उत्तरीयांशुक, धम्मिल्ल केशरचना का उल्लेख किया गया है। सांस्कृतिक दृष्टि से तरंगित उत्तरीय से तात्पर्य उस प्रकार की उत्तरीय-रचना से था, जिसमें सामने छाती पर उत्तरीय में बारीक शिकन या रेखाएँ दिखलाई जाती हैं। पत्थर और काँसे की मूर्त्तियों में यह लक्षण मिलता है [चित्र ५२]। इस प्रकार की मूर्त्तियाँ सातवीं शती में बननी आरम्भ हो गई थीं। यह बाण के अवतरण से ज्ञात होता है।

सिर के ऊपर केशों को भारी जूड़े के रूप में बाँध लिया जाता था, जो अजन्ता की १७वीं गुफा में अंकित प्रेयसी के चित्र में है (राजा साहब औंधकृत अजन्ता, फलक ६६); [चित्र ५३]। इस प्रकार का केशविन्यास उत्तरी भारत में सर्वप्रथम गुप्तकाल में दक्षिणी प्रभाव से आया, कुषाणकालीन मूर्त्तियों में धम्मिल्ल केशरचना नहीं मिलती।

उस दारुण समाचार को सुनकर हर्ष तुरन्त अन्तःपुर में आया। वहाँ मरणोद्यत राजमहिषियों के आलाप सुने। इन आलापों का वर्णन काव्य के बँधे हुए ढंग पर है। इस वर्णन में उन पशु-पक्षियों एवं लता-वनस्पतियों की सूची है, जो अत्यन्त प्रिय भाव से राजकीय भवन में रखी जाती थीं। काव्यों में प्रायः इनका वर्णन मिलता है।

भवन-पादपों में जातिगुच्छ, भवन-दाडिमलता, रक्ताशोक, अन्तःपुर-बालबकुल, प्रियंगुलतिका और राजभवन के द्वार पर लगा हुआ सहकार, ये नाम हैं। इन वनस्पतियों से सम्बद्ध राजाओं के विनोदों का भी उल्लेख मिलता है। रनवास में यौवन-सुख, आमोद-प्रमोद, उद्यान-क्रीडा, सलिल-क्रीडा आदि अनेक उपभोग-लीलाओं का राजकीय दिनचर्या और ऋतुचर्या में निश्चित स्थान कल्पित किया गया था। कादम्बरी में राजा शूद्रक की इस प्रकार की लीलाओं का कुछ वर्णन है (कादम्बरी, वैद्य०, पृ० ५७ ५८)। गृहपक्षियों में पंजर-शुक-शारिका, गृहमयूर, हंसमिथुन, चक्रवाकयुगल, गृहसारसी और भवनहंसी एवं पशुओं में गृहहरिणिका, पंजरसिंह और राजवल्लभ कौलेयक (१६५) के नाम हैं। ये भी अन्तःपुर के आमोद-प्रमोदों के जनक और साझीदार थे।

यशोवती के निजी सेवक और पार्श्वचरों में चेटी, कात्यायनिका, धात्रेयी और कंचुकी का उल्लेख किया गया है। कात्यायनिका बड़ी-बूढ़ी संसार का अनुभव रखनेवाली स्त्री होती थी।[1] बाण की मित्र-मंडली में भी एक कात्यायनिका थी। धात्रेयी या धात्रीसुता का काम रानी का प्रसाधन करना था।[2] कंचुकी पुरुष होते हुए भी रानी के पार्श्वचरों में सम्मिलित था। उसे बाण ने आयु में अत्यन्त वृद्ध कहा है।[3] बूढ़े कंचुकियों में जो सबसे अधिक आयु के थे, वे रानी के सेवक नियुक्त किये जाते थे; क्योंकि वे अत्यन्त विश्वसनीय और चरित्र-शुद्ध समझे जाते थे। रानी के चारों ओर जो सखियाँ रहती थीं, उनमें एक मुख्य थी, जिसकी पदवी प्रियसखी की थी।

हर्ष ने अपनी माता को सती-वेश धारण किये हुए देखा : गृहीतमरणप्रसाधनाम्। वे कुसुम्भी बाना पहने थीं। उस समय विधवाएँ मरणचिह्न के रूप में लाल पट्टांशुक धारण करती थीं। उनके गले में लाल कंठसूत्र था। शरीर पर कुंकुम का अंगराग लगा था। अंशुक के आँचल में चिताग्नि की अर्चना के लिए कुसुम भरे थे। कंठ में पैरों तक लटकती माला थी। हाथ में पति का चित्रफलक दृढता से पकड़े हुए थीं। पति की

छोड़ रही हो। कृपा कर इस विचार से निवृत्त होओ।' यह कहकर चरणों में गिर पड़ा। देवी यशोवती उसे इस प्रकार देखकर शोक से विह्वल हो गईं और साधारण स्त्री की तरह मुक्त कंठ से विलाप करने लगीं। उनके इस रुदन में कहा गया है कि बड़े पुत्र राज्यवर्द्धन कहीं दूर पर थे और इस अवसर पर वे नहीं आ सके थे। दूसरे उनकी पुत्री राज्यश्री ससुराल में थीं और वे भी उस समय तक नहीं आई थीं। शोक कुछ कम होने पर यशोवती ने हर्ष को स्नेह के साथ उठाया, उनके आँसू पोंछे और स्वयं नेत्रों से जलधार छोड़ती हुई उन्हें अनेक प्रकार से समझाने लगीं—'मैं अविधवा ही मरना चाहती हूँ, आर्यपुत्र से विरहित हो जाना नहीं चाहती। हे पुत्र, ऐसी अवस्था में मैं ही तुम्हें मनाती हूँ कि मेरे मनोरथ का विरोध कर मेरी कदर्थना मत करो।' यह कहकर स्वयं हर्ष के चरणों में गिर पड़ीं। हर्ष ने जल्दी से अपने पैर खींच लिये और झुककर तुरन्त माता को उठाया। माता के शोक को असह्य जानकर और उनके निश्चय को दृढ समझकर वह चुप होकर नीचे देखने लगा।

इस वर्णन-प्रसंग में बाण ने सांस्कृतिक दृष्टि से कई मार्के की सूचनाएँ दी हैं। रानी यशोवती चीनांशुक का उत्तरीय धारण करती थीं : विधूयमानचामरमरुच्चलचीनांशुक-धरौ पयोधरौ (१६७)। उनके सिर पर पहले सुवर्णघटों से अभिषेक किया था और तब ललाट पर महादेवीपद का सूचक पट्टबन्ध[1] बाँधा गया था। शरीर पर तरंगित स्तनोत्तरीय पहने हुए थीं। वस्त्र के प्रकरण में तरंगित पद का अभिप्राय पहले कहा जा चुका है (पृ० १६२)।

रानी यशोवती ने मुख धोने के लिए चाँदी के बरतन में से जो जल लिया, उसका निम्नलिखित वर्णन बाण की श्लेषप्रधान शब्दावली, अपनी समकालिक कला की वस्तुओं को साहित्य में उतारने की रुचि और स्पष्टाक्षर शब्दों के द्वारा इष्ट अर्थ को कहने की असाधारण शक्ति का हर्षचरित और कादम्बरी में सर्वोत्तम उदाहरण माना जा सकता है—

---

१. वराहमिहिर के अनुसार पट्ट सोने के होते थे और पाँच प्रकार के बनाये जाते थे—राजपट्ट, महिषीपट्ट, युवराजपट्ट, सेनापतिपट्ट और प्रसादपट्ट (जो राजा की विशेष कृपा का द्योतक था)। संख्या एक में पाँच शिखाएँ, दो और तीन में तीन शिखाएँ, चार में एक शिखा होती थी। पाँचवें प्रसादपट्ट में शिखा या कलँगी नहीं लगाई जाती थी। महादेवीपट्ट साढ़े दस इंच लम्बा, बीच में सवा पाँच इंच चौड़ा और किनारों पर इसकी आधी चौड़ाई का होता था (बृहत्संहिता, ४८।२४)।

बैठता है एवं शब्दों के स्वरूप को भी तोड़ना-मरोड़ना नहीं पड़ता। बाण ने 'निरन्तर-श्लेषघनाः सुजातयः' (कादम्बरी, प्रस्तावना-श्लोक ६) कहते हुए जिस शैली को आदर्श माना है, वह पाँचों अर्थों में चरितार्थ होती है। राजहंस के कई अर्थ हैं— १. राजा, २. हंस, ३. हंस की आकृति का पात्र। संख्या (२) वाले हंस के पक्ष में साधारण हंस, राजहंस, ब्रह्मा का हंस—इन तीनों को लक्ष्य करने से तीन अर्थ होते हैं, जैसा नीचे दिखाया गया है।

पहला अर्थ, हंसाकृति पात्र को लक्ष्य करके

चाँदी के राजहंस की आकृति के बने हुए पात्र के मुख से निकलता हुआ जल लेकर रानी ने मुँह धोया। वह पात्र एक कुब्जिका, अर्थात् आठ वर्ष के वय की सुन्दरी कुआँरी कन्या की पुतली उठाये हुए थी। हाथी-दाँत का शफरुक पात्र लिये हुए कनकपुत्रिका (सोने की पुतली) का उल्लेख पहले आ चुका है (१४८)। इस प्रकार का, वास्तविक चाँदी का, राजहंस की आकृति का एक पात्र तक्षशिला से सिरकप की खुदाई में प्राप्त हो चुका है। उसकी ऊँचाई ६½ इंच है [चित्र ५५]। उसे रखने के लिए आधार की आवश्यकता स्पष्ट विदित होती है। कुब्जिका या कुआँरी कन्या के आकार की पुतली के हाथ में यह पात्र पकड़ाया गया था। उसके मुख से जल की धारा निर्गत होती थी। कुब्जिका का विशेषण है : मग्नांशुकपटान्ततनुताम्रलेखालाञ्छित-लावण्य। इनमें मग्नांशुक और तनुताम्रलेखा, ये दो विशेषताएँ उस समय की कला से ली गई हैं। गुप्तकाल में शरीर पर पहननेवाले वस्त्र इतने झीने होते थे कि वे शरीर से सटे जान पड़ते थे, देह से उन्हें अलग पहचानना कठिन था। पत्थर और ताँबे की मूर्त्तियों से यह विशेषता स्पष्ट पहचानी जा सकती है। अँगरेजी में इस प्रकार के वेष को 'वैट ड्रेपरी'

---

1. निर्णयसागर-संस्करण में 'मग्नांशुक' से 'समुद्गीर्णोन' तक १६ शब्दों का एक ही समास माना गया है। वही ठीक है। कैलाशचन्द्र शास्त्री, कावेल और कणे ने लावण्य के ऊपर अनुस्वार मानकर पहले ६ शब्दों का समास अलग करके उसे मुख-कमल का विशेषण माना है। जैसा अर्थ देखने से स्पष्ट होगा, इस प्रकार पाठ-संशोधन अनावश्यक है। उससे अर्थ का चमत्कार ही जाता रहता है। या यों कहना चाहिए कि समास तोड़ने से इसका शुद्ध अर्थ हो ही नहीं सकता। यह वाक्य मध्यकाल में भी दुरूह हो गया था। शंकर ने इसपर टीका-टिप्पणी बिलकुल नहीं की, यद्यपि इसमें कई शब्द ऐसे हैं, जिनका अर्थ खोलना चाहिए था। कश्मीर के पाठ में भी यह समास तोड़ दिया गया था। लावण्य से अन्त होनेवाले वाक्यांश का 'मुखकमल' का विशेषण कर लेने से ज्यों-त्यों अर्थ बिठाने की इच्छा से ऐसा किया गया होगा।

निर्णयसागर के संस्करण में कुब्जिका की जगह कुंजिका पाठ दिया गया है। यह छापे की भूल जान पड़ती है। अन्य सब संस्करणों में, कश्मीरी प्रतियों में भी, कुब्जिका

मूर्त्तियों में ये वस्त्र शिकन आदि से पृथक् न दिखाकर सामने छाती पर एक पतली रेखा डालकर अंकित किये जाते हैं। इसके कितने ही उदाहरण पत्थर और ताँबे की मूर्त्तियों में देखे जा सकते हैं। इनकी डोरीदार किनारी के लिए पटान्त या वस्त्रान्त की तनुताम्रलेखा शब्द है। यह किनारी पतली ताँबे की डोरीनुमा होती थी। इससे यह भी ज्ञात होता है कि चाँदी का पात्र उठानेवाली कुब्जिका पुतली ताँबे की ही बनी थी। इस प्रकार के मग्नांशुक वस्त्र का छोर दिखानेवाली पतली किनारी का अत्यन्त स्पष्ट उदाहरण श्रीकुमारस्वामी की भारतीय कला का इतिहास[1], नामक पुस्तक की चित्र-संख्या १५९ (ताँबे की गुप्तकालीन बुद्धमूर्त्ति) में देखा जा सकता है [चित्र ५६]। छाती पर डाली हुई यह डोरी मूर्त्ति के ऊर्ध्वकाय भाग की जान है, इसीके लिए बाण ने लांछितलावण्य पद दिया है, अर्थात् उस धारी से पुतली की लुनाई निकल रही थी। उससे बाण का भाव साफ समझ में आ जाता है। इस प्रकार वाक्य में मग्नांशुक, पटान्ततनुताम्रलेखा, कुब्जिका और राजतराजहंस इन चारों पारिभाषिक शब्दों के अर्थ कला की सहायता से विदित हो जाते हैं [चित्र ५५, ५६, ५७]।

पूरे वाक्य का अर्थ इस प्रकार हुआ—शरीर से चिपटे हुए अंशुक वस्त्र के छोर पर डाली गई पतली ताँबे की धारी से जिनका सौंदर्य बढ़ रहा था, ऐसी कुब्जिका पुतली से झुकाकर पकड़े हुए चाँदी के बने राजहंस की आकृति के पात्र के मुख से निकलते हुए जल से रानी ने अपना मुख-कमल धोया।

दूसरा अर्थ, राजहंस पक्षी को लक्ष्य करके

इस पक्ष में कुब्जिका=सिंघाड़ा।[2] अंशुक, वह महीन सुतिया अँखुवा या रेशा, जो सिंघाड़े की सिर की ओर निकली हुई टूंड के भीतर रहता है।[3] पट=छिलका। तनुताम्रलेखा=वह हलकी लाल धारी, जो गुलाबी-मायल सिंघाड़े के छिलके पर दिखाई देती है। सिंघाड़े के पक्ष में 'कुब्जिकावर्जित का पदच्छेद कुब्जिका+आवर्जित न करके कुब्जिका+वर्जित किया जायगा। सिंघाड़ा गँदले बरसाती पानी में होता है और हंस उस पानी को छोड़कर चले जाते हैं। वे शरद् के स्वच्छ जल में उतरते हैं, जब तालाबों में सिंघाड़े की बेल समाप्त हो लेती है। जैसे ही सिंघाड़े की बेल तालाबों के पानी में फैलाई

---

१. हिस्ट्री ऑफ् इंडियन एँड इंडोनेशियन आर्ट, फलक ४०, चित्र १५९।

२. सिंघाड़ा—शृंगाटक, संस्कृत वारिकुब्जक (वैद्यक-शब्दसिंधु, पृ० १०६५,); कुब्जक से से ही स्त्रीलिंग में कुब्जिका; अँगरेजी Trapa bispinosa त्रापा बाइस्पिनोसा। वाट, डिक्शनरी ऑफ् इकनॉमिक प्राडक्ट्स, वाल्यूम ६, भाग ४, पृ० ७२ के अनुसार तमिल में सिंघाड़े को कुब्जकम (कुब्जक) कहते हैं।

छोड़कर जानेवाले श्वेत राजहंस के मुख से उछाले हुए जल से (सरोवर में) कमल का मुख धोकर।'

तीसरा अर्थ, राजहंस के ही पक्ष में

इस अर्थ में कुब्जिकावर्जित का पदच्छेद स्वाभाविक रीति से कुब्जिका आवर्जित यहाँ होगा। भिन्न-भिन्न पदों में श्लेषार्थ इस प्रकार है—मग्न=जल के भीतर डूबी हुई। अंशुक=किरणें। तनुताम्रलेखा=पतली लाल झलक। लांछित=चिह्नित। कुब्जिका=गर्दन मोड़कर बैठने की मुद्रा। इस अर्थ में यह कल्पना की गई है। प्रातःकाल के समय सूर्य की किरणें जल में पड़ रही हैं। उनके बीच में गरदन झुकाये हंस तैर रहा है और अपनी चोंच से जल को उछालकर कमल का मुख धो रहा है। इस चित्र के अनुसार वाक्य का अर्थ इस प्रकार होगा—'जल में पड़ी किरणों के जालरूपी पट के चारों ओर झलकती हुई पतली लाल किनारी से सुशोभित, गरदन मोड़कर झुका हुआ श्वेत राजहंस मुख से जल में किलोल करता हुआ कमल के मुख को धो रहा है।

चौथा अर्थ, ब्रह्मा के हंस के पक्ष में

राजतराजहंस का एक पदच्छेद यों है, राजतर+अजहंस। राजतर+उत्तम, श्रेष्ठ। अजहंस=प्रजापति ब्रह्मा का हंस। मग्न=पानी में भींगा हुआ। अंशुकपट=धोती की तरह पहना हुआ वस्त्र। तनुताम्रलेखा=शरीर की लाल रेखा। कवि की कल्पना इस प्रकार है—क्षीरसागर में विष्णु की नाभि से निकलते हुए कमल के आसन पर ब्रह्माजी अपने हंस के ऊपर बैठे हैं। शरीर के निचले भाग में वे गीली धोती (मग्नांशुकपट) पहने हैं। ऊपर लाल शरीर है। इस पक्ष में तनु का अर्थ शरीर है। ब्रह्मा का शरीर लाल है, वे रजोगुण के अधिष्ठाता हैं।[2] उनके लाल शरीर की आभा से हंस लावण्ययुक्त बन रहा है। ऐसा उत्तम हंस कुब्जिकावर्जित मुद्रा में बैठा हुआ मुख से क्षीरसागर का पय उछालता हुआ ब्रह्मा के कमलासन को पखार रहा है। पूरा अर्थ इस प्रकार होगा—'गीले अंशुक की धोती पहने ब्रह्मा के लाल शरीर के संपर्क से सुशोभित, दुबककर बैठा हुआ उनका श्रेष्ठ हंस मुख से क्षीरसागर का पय लेकर कमलासन को धो रहा है।'

---

१. सिंघाड़े का बीज न बोकर उसकी लत्ती (लतिका) या बेल डाली जाती है। गरमी में किसी तरह उसे जिलाये रखते हैं। पुष्य या चिरैया नक्षत्र में (१६-२० जुलाई के लगभग) जब ताल बरसाती पानी से भर जाते हैं, तब सिंघाड़े की बेल रोपी जाती है। कविसमय के अनुसार बरसात के गँदले पानी को हंस छोड़कर चले जाते हैं। इसी की ओर अर्थ की ध्वनि है।

२. रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये स्थितौ प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे।
अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः॥

हंस, शश, रुचक, भद्र और मालव्य भेद से पुरुषों के गुण, कर्म, स्वभाव, शरीर, लक्षण आदि कहे गये हैं।[1] वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में हंसजातीय पुरुष को सर्वोत्तम कहा है। वहीं यह भी कहा गया है कि हंसजाति के पुरुष का सेवक या पार्श्वचर कुब्जक पुरुष ही होना चाहिए।[2] कन्या-रूप में वह अनुचरी कुब्जिका कहलाई। वह कुब्जिका दासी जब राजा को पानपात्र में मधुपान देती है, तब उससे पानपात्र लेने के लिए राजा उसकी ओर आवर्जित होते या झुकते हैं और उस मधु को अपने मुख में पीकर उसका गंडूष-सेक रानी के मुख पर डालते हैं। स्त्री-पुरुष में परस्पर गंडूष-सेक कामविलास का अंग था। कादम्बरी में राजा शूद्रक के यौवनसुखों में बाण ने इसका भी उल्लेख किया है (कादम्बरी, वैद्य०, पृ० ५७)। राजाओं के आपान-मण्डल के अनेक विलासों में यह भी गिना जाता था। इस पद्य में वाक्य का अर्थ निम्नलिखित होगा—'सटे हुए अंशुक वस्त्र के छोर की पतली लाल किनारी से दीप्त सौन्दर्यवाली कुब्जिका (सुन्दरी कन्या के हाथ में रखे हुए पानपात्र) की ओर झुके हुए गौरवर्ण हंसजातीय सम्राट् प्रभाकरवर्धन के मुख से निकले हुए तरल (मधु) गंडूष से (रानी यशोवती ने अपना) कमल-रूपी मुख धोकर।'

'भग्नांशुकपटान्ततनुताम्रलेखलाञ्छितलावण्य' यह पद कुब्जिका के स्थान में राजा का विशेषण भी माना जा सकता है। गौरवर्ण राजा का वेश ठीक उससे मिल जाता है, जो उपर्युक्त बुद्धमूर्त्ति में पाया जाता है।[3] उस दशा में वाक्य का अर्थ इस प्रकार होगा—

'भग्नांशुक उत्तरीय के छोर पर बनी हुई महीन लाल किनारी से जिसका सौन्दर्य झलक रहा है और जो कुब्जिका की ओर (मधुपान लेने के लिए) झुके हैं, ऐसे गौरवर्ण राजा के मुख से सिंचित गंडूष-सेक से यशोवती ने अपना मुख-कमल प्रक्षालित करके।'

---

१. जिसका बृहस्पति स्वक्षेत्री, स्वराशि में, उच्च का होकर बैठा हो, वह हंस कहलाता है (बृहत्संहिता, ६८।२)। हंस के शरीर-लक्षण बहुत विशिष्ट होते हैं (६८।२४)। खस देश, शूरसेन, गन्धार, गंगा-यमुना का अंतराल, इनपर वह शासन करता है (६८।२६)।

२. कुब्ज वह है, जिसके शरीर का निचला भाग शुद्ध या परिपूर्णांग हो, पूर्वकाय कुछ क्षीण और झुका हो। वह व्यक्ति हंसजाति के पुरुष का अनुचर बनता है (बृहत्संहिता ६८।३५, दे० मानियर विलियम्स, संस्कृत-कोश, पृ० २९१)। कुब्ज और वामन राजाओं के अन्तःपुर के अनुचरों में कहे गये हैं। दोनों में भेद है। जिसका निचला भाग भुग्न या झुका हो, ऊपर ठीक हो, वह वामन और जिसका ऊपर का झुका हो, वह कुब्ज कहलाता है—

सम्पूर्णाङ्गो वामनो भुग्नपृष्ठः किञ्चिच्चोरूमध्यकक्ष्यान्तरेषु।
ख्यातो राज्ञां ह्येष भद्रानुजीवी स्फीतो राजा वासुदेवस्य भक्तः॥ (६८।३२)
कुब्जो नाम्ना यः स शुद्धो ह्यधस्तात् क्षीणः किञ्चित् पूर्वकाये ततश्च।

दूसरे रसभरे अर्थों के कोष खुलने लगते हैं।[1]

रानी यशोवती अन्तःपुर से पैदल ही सरस्वती के किनारे तक गईं और वहाँ सती हो गईं (१६८)।

हर्ष भी माता के मरण से विह्वल होकर बन्धुवर्ग को साथ ले पिता के पास आये। प्रभाकरवर्धन के शरीर में थोड़ी ही प्राणशक्ति बची थी। उनकी पुतलियाँ फिर रही थीं। हर्ष के फूट-फूटकर रोने का शब्द उनके कान में पड़ा। बहुत धीमे स्वर में उन्होंने उसके लिए कुछ अन्तिम वाक्य कहे—'पुत्र, तुम महासत्त्व हो। लोक महासत्त्व के आश्रय से ठहरता है, राजा का अंश (राजबीजिता १६८) तो बाद की वस्तु है। तुम सत्त्वधारियों में श्रेष्ठ हो, कुल के दीपक हो, पुरुषों में सिंह हो। यह पृथ्वी तुम्हारी है। राज्यलक्ष्मी ग्रहण करो। लोक का शासन करो। कोश स्वीकार करो। राजसमूह को वश में करो। राज्यभार सँभालो। प्रजाओं की सर्वथा रक्षा करो। परिजनों का पालन करो। शस्त्रों का अभ्यास दृढ करो। शत्रुओं का शेष न रखना।' यह कहते-कहते उन्होंने आँखें मीच लीं।

प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के बाद उनकी शव-शिबिका काले चँवर लगाकर बनाई गई। काले अगरु के काष्ठ से चिता तैयार की गई। अनुमरण के लिए तैयार स्त्रियों ने प्रसन्नता से कानों में हाथी-दाँत की कर्णिका और सिर पर केसर की मुण्डमालिका पहनी। स्वयं हर्ष

---

१. ऊपर के अर्थों को लिखने के कुछ दिन बाद मुझे यह देखकर अत्यंत हर्ष हुआ कि कम-से-कम एक विद्वान् डॉ० श्री आर० सी० हाजरा ने इस वाक्य के पाठ और अर्थ पर विचार करने का प्रयत्न किया था (ए पैसेज इन बाणभट्ट्स हर्षचरित, पूना ओरियेंटलिस्ट, भाग १४ (१९४९), पृ० १३-२०)। डॉ० हाजरा ने केवल एक अर्थ (चाँदी के राजहंस-संज्ञक पात्र के पक्ष में) ही दिया है। तो भी उनके लेख से मैं 'कुब्जिका' का ठीक अर्थ समझ सका। मैंने भी पहले कुबड़ी अर्थ किया था। पर, श्रीहाजरा ने तंत्रों के पुष्कल प्रमाणों से सिद्ध किया है कि कुब्जिका का वास्तविक अर्थ था 'आठ वर्ष की अविवाहिता कन्या'। रुद्रयामलतंत्र तथा अन्य तंत्रों में एक वर्ष से १६ वर्ष तक की आयु की कन्याओं की संज्ञाएँ बताते हुए अष्टवर्षा कन्या को कुब्जिका कहा है (सप्तभिर्मालिनी साक्षादष्टवर्षा च कुब्जिका, रुद्रयामल, पटल ६, श्लो० ९४)। मुझे यह नया अर्थ बिलकुल समीचीन जान पड़ता है। विशेषतः, जब मैं महोली (मथुरा) से मिले हुए मधुपान के दृश्य में अंकित, चषक लिये हुए रानी के एक पार्श्व में खड़ी हुई अनुत्पन्नस्त्रीव्यंजना कन्या को देखता हूँ (मथुरा म्यूज़ियम हैंडबुक, चित्र २४), तो मुझे कुब्जिका का यही अर्थ निश्चित प्रतीत होता है (चित्र ५७), मैंने श्रीहाजरा द्वारा प्रदर्शित कुब्जिका के इस अर्थ को यहाँ अपना लिया है। अपने लेख के पूर्वार्ध में श्रीहाजरा ने मग्नांशुक... से पहले के वाक्य में 'नखांशुपटलेन' का पाठ माना है (अश्रुप्रवाहपूरितमार्द्रं च किञ्चिच्च्युतमुत्क्षिप्य हस्तेन स्तनोत्तरीयं तरङ्गितमिव नखांशुपटलेन)। श्रीहाजरा ने

एवं सामन्त, पौर और पुरोहित कंधा देकर अरथी को सरस्वती के किनारे ले गये और चिता पर रखकर अग्निक्रिया की।

हर्ष ने वह भयंकर रात्रि नंगी धरती पर बैठे-बैठे बिताई। कुछ दिनों तक स्वामिभक्त अन्तरंग सेवक कुशाओं पर सोते रहे। हर्ष सोचने लगा कि प्रभाकरवर्धन की मृत्यु से एक बड़ा अभाव हो गया है। इस प्रसंग में बाण ने सत्यवादिता, वीरता, कृतज्ञता आदि कुछ गुणों का परिगणन किया है। वस्तुतः, गुप्तयुग में चरित्र-सम्बन्धी गुणों पर बहुत जोर दिया जाने लगा था। मनुष्य के नामों में भी (जैसे धृतिशर्मा, सत्यशर्मा) इसकी छाप पाई जाती है। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़-लेख में पर्णदत्त और चक्रपालित के गुणों की अलग-अलग सूचियाँ दी गई हैं, जिनपर सम्यक् विचार करके उन्हें सुराष्ट्र का गोप्ता बताया गया था। शुक्रनीति में भी जो गुप्तशासन का परिचय ग्रन्थ है, उसमें सार्वजनिक अधिकारियों के लिए आवश्यक गुणों की तालिकाएँ दी गई हैं। कालिदास ने सब गुणों में विनय (प्रशिक्षण के द्वारा उत्पन्न योग्यता) को प्रधान माना है। बाण ने कहा है कि प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के बाद मानों अपदानों के लिए कोई स्थान न रहा : अपदानि अपदानानि (१७०)। अपदान शब्द का मूल अर्थ वीरता का विलक्षण कार्य था। सभापर्व के युधिष्ठिर-राजनीति-पर्व में योद्धाओं को 'दत्तापदाना विक्रान्ताः' (५।३७, पूना) कहा गया है। संस्कृत अपदान से ही 'अवदान' शब्द बना है, जो 'दिव्यावदान', 'बोधिसत्त्वावदान' आदि नामों में बोधि-सत्त्वों के चरित्र-गुण-सम्बन्धी किसी लोकोत्तर कार्य के लिए प्रयुक्त होता था।

इसके बाद सम्राट् के फूल चुनकर कलश में रखे गये और वे 'भूभृद्धातुगर्भकुम्भ' हाथियों पर रखकर विविध तीर्थस्थानों और नदियों को ले जाये गये। भारहुत-साँची की प्राचीन कला में बुद्ध की धातुगर्भमंजूषाएँ इसी प्रकार हाथियों पर ले जाई जाती हुई दिखाई गई हैं। यह प्रथा बहुत प्राचीन थी और बाण के समय में भी वह प्रचलित थी।[1] मृतक के लिए उबले भात के पिंडे जल के किनारे दिये गये; उनका रंग मोम के गोले की तरह सफेद था।[2]

अगले दिन प्रातःकाल हर्ष उठे और राजकुल से बाहर निकलकर सरस्वती के किनारे गये। राजमन्दिर में सन्नाटा छाया हुआ था। अन्तःपुर में केवल कुछ कंचुकी रह गये थे। महल की तीन कक्ष्याओं में काम करनेवाले परिजन अनाथ की तरह थे। राज-कुंजर दर्पशात अपने स्तम्भ से बँधा विषाद में चुपचाप खड़ा था और ऊपर बैठे महावत की आँख से आँसुओं की धारा बह रही थी। खासा घोड़े (राजवाजि), जिन्हें मंदुरापालक के रुदन से सम्राट् के देहावसान का संकेत मिल चुका था, दुःखित दशा में चुपचाप आँगन

में खड़े थे।[1] महास्थानमंडप सूना पड़ा था और जयशब्द की ध्वनि इस समय वहाँ नहीं सुन पड़ रही थी।[2]

सरस्वती-तीर पर जाकर हर्ष ने स्नान किया और पिता को जलांजलि दी। मृतक-स्नान करने के बाद उसने बालों में से जल नहीं निचोड़ा और धुले हुए दुकूल वस्त्रों का जोड़ा पहनकर छत्र के विना और लोगों को हटानेवाले (निरुत्सारण) प्रतीहारों के विना वह पैदल राजभवन को लौट आया (१७२)।[3]

इसके बाद धार्मिक इतिहास की दृष्टि से हर्षचरित का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रकरण है (१७२)। इसमें बाण ने २१ धार्मिक सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। इनमें से केवल चार के नाम दिये हैं और शेष १७ विना नाम के ही कहे गये हैं। केवल उनके धार्मिक सिद्धान्तों और आचारों के बहुत ही गूढ़ संकेत से उन्हें पहचानना होगा। इनमें से कुछ लोग तो हर्ष के साथ समवेदना प्रकट करने के लिए और समझाने के लिए आते हैं। शेष के लिए यह कल्पना की गई है कि प्रभाकरवर्द्धन के अत्यन्त प्रिय (राजवल्लभ) भृत्य, सुहृद् और सचिव, जो सम्राट् से वियुक्त होने के शोक को न सह सके, वे घरबार छोड़कर अपने-अपने धार्मिक विश्वासों के अनुसार साधु बन गये। यह तो कल्पना है, पर इस प्रसंग से लाभ उठाकर बाण ने भारत के धार्मिक इतिहास पर प्रकाश डालनेवाली बहुमूल्य सामग्री एक स्थान पर दे दी है। सोमदेव ने यशस्तिलकचम्पू (६वीं शती) में अनेक सम्प्रदायों का और उनके सिद्धान्तों का अच्छा परिचय दिया है। श्रीहंदीकी ने अपने ग्रन्थ में ऐतिहासिक दृष्टि से उनपर विस्तृत विचार किया है।[4] श्रीहर्ष के नैषधचरित में एवं प्रबोधचन्द्रोदय आदि नाटकों में भी इन सम्प्रदायों के नाम और उनके मतों का संकेत मिलता है। किन्तु, बाण का उल्लेख सातवीं शती के पूर्वार्ध का होने से अधिक महत्त्व का है। शंकराचार्य के समय से पूर्व के विभिन्न दार्शनिक मतों और धार्मिक सम्प्रदायों के ऐतिहासिक विकास पर बाण की सामग्री प्रकाश डालती है। बाण ने आगे अष्टम उच्छ्वास में दिवाकर-मित्र के आश्रम में रहनेवाले उन्नीस संप्रदायों के अनुयायियों के नाम गिनाये हैं (२३६)। उसी सूची से प्रस्तुत प्रकरण को समझने की कुंजी प्राप्त होती है। दिवाकरमित्र के आश्रम

---

१. मन्दुरापालाक्रन्दकथिते वाजिरभाजि राजवाजिनि—बाण का यह मूलपाठ बिलकुल शुद्ध था। राजकुंजर के विषादिनि और निष्पन्दमन्दे विशेषण घोड़ों के लिए भी लागू हैं। श्रीकैलाशचन्द्र शास्त्री ने अनावश्यक ही 'कथिते' के स्थान पर 'क्वथिते' या 'व्यथिते' पाठ-संशोधन किया है। कश्मीरी पाठ 'कथिते' ही है।

२. शुद्धान्त, अर्थात् धवलगृह तीसरी कक्ष्या में था। उसके बाहर दूसरी कक्ष्या थी, जिसमें नौकर-चाकर जमा थे। उसके बाद पहली कक्ष्या थी, जिसमें एक ओर खासा हाथी (राजकुंजर) के लिए इभधृष्णयागार, बीच में महास्थानमंडप, और बाईं ओर खासा घोड़ों (राजवल्लभतुरंग) के लिए मन्दुरा थी—इस प्रकार राजकुल का संक्षिप्त

१५. धर्मशास्त्री, १६ पौराणिक, १७. साप्ततन्तव, १८. शाब्द, १९. पांचरात्रिक और अन्य (२३६)। जैसा हम देखेंगे, उक्त सूची में और यहाँ के क्रम में भेद है, किन्तु इनके पहचानने की कुंजी वहाँ अवश्य छिपी है।

हर्षचरित के पाँचवें उच्छ्वास की सूची इस प्रकार है। प्रत्येक अंक के नीचे दो अर्थ दिये गये हैं; पहला अर्थ भृत्य आदि के पक्ष में है, दूसरा सम्प्रदायों के पक्ष में।

१. केचिदात्मानं भृगुषु ववन्धुः।

(अ) कुछ ने भृगुपतन स्थान में अपने-आपको नीचे गिराकर आत्माहुति दे दी। भृगुपतन या भृगुपाद स्थान हिमालय में केदारनाथ के समीप है, जहाँ मोक्षार्थी पर्वत से नीचे कूदकर शरीरान्त कर लेते थे।[१] प्राचीन विश्वास के अनुसार आर्त्त लोग असह्य दुःख से त्राण पाने के लिए भृगुपतन, काशी-करवट, करीषाग्नि-दहन और समुद्र में आत्मविलय—इन चार प्रकारों से जीवन का अन्त कर डालते थे।

(आ) कुछ लोग भृगुओं में अनुरक्त हुए। यहाँ भागवतों से तात्पर्य है। भृगु ने विष्णु की छाती में लात मारी, फिर भी विष्णु ने उनका सम्मान किय। यह कथन विष्णु के चरित्र की विशेषता बताने के लिए भागवतों को मान्य था। मूल में भार्गव लोग रुद्र या शिव के भक्त थे। भार्गवों के साथ वैष्णवधर्म का समन्वय इस कथा का भाव है। इस समन्वय का सबसे अच्छा प्रमाण महाभारत का वर्त्तमान रूप है, जिसमें नारायणीय धर्म और भार्गवों के चरित्रों का एक साथ वर्णन है।[२]

२. केचित्तत्रैव तीर्थेषु तस्थुः।

(अ) कुछ तीर्थयात्रा के लिए गये और वहीं रह गये।

(आ) दूसरे पक्ष में तीर्थ का अर्थ गुरु है। कुछ विद्याध्ययन के लिए आचार्यों के पास गये और नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर वहीं रह गये। ऐसे लोग वर्णी कहलाते थे। वर्णी अपने व्रत के सूचक जटा, अजिन, वल्कल, मेखला, दंड, अक्षवलय आदि चिह्न धारण करते थे। इसीलिए, भारवि ने वर्णलिंगी पद का प्रयोग किया है (किरातार्जुनीय, १।१)। बाण ने वत्स के भाई सारस्वत के विषय में लिखा है कि उन्होंने अविवाहित रहकर इन्हीं चिह्नों को धारण करके जन्म भर तप किया।[3] कादम्बरी में जटा, कृष्णाजिन, वल्कल, आषाढदंड धारण करनेवाली तापसियों को वर्णी कहा गया है (वैद्य० २०८)।

---

१. श्रीकैलाशचन्द्र शास्त्री ने 'ववन्धुः' के स्थान पर, 'बभञ्जुः' पाठ सुझाया है, जो बाण के श्लिष्ट अर्थ की दृष्टि से अशुद्ध है। बन्ध धातु के यहाँ दो अर्थ हैं, आत्मार्पण करना और अनुरक्त होना।

२. इस विषय के विस्तार के लिए देखिए, श्रीविष्णु सीताराम सुकथंकर के 'भृगुवंश और

(अ) कुछ लोग आहार त्याग कर अपना भारी शोक मिटाने लगे।

(आ) यहाँ निराहार रहकर प्रायोपवेशन के द्वारा शरीर त्यागनेवाले अथवा लंबे-लंबे उपवास करनेवाले जैन साधुओं से तात्पर्य है। ये श्वेताम्बरी साधु ज्ञात होते हैं। कादम्बरी में सित वसन पहननेवाली श्वेतपट तापसियों का उल्लेख है।[1] अन्य जैन सम्प्रदायों के लिए संख्या ७.८ देखिए।

४. केचित् शलभा इव वैश्वानरं शोकावेगविवशा विविशुः।

(अ) कुछ शोक के आवेग से अग्नि में प्रविष्ट हो गये।

(आ) धार्मिक पक्ष में यहाँ चारों ओर आग जलाकर पंचाग्नि-तापन करनेवाले साधुओं की ओर संकेत है। स्वयं पार्वती के सम्बन्ध में कालिदास ने पंचाग्नि-तापन का उल्लेख किया है।[2] सम्भवतः, ये लोग शुद्धवृत्ति के शैव थे। मथुरा-कला में पंचाग्नि-तापन करती हुई पार्वती की अनेक मूर्त्तियाँ मिली हैं, जो गुप्तकाल से शुरू होती हैं। अवश्य ही वे इसी प्रकार के शिवभक्तों को जान पड़ती हैं। इनके विपरीत पाशुपत घोर वृत्ति के शैव थे, जैसे भैरवाचार्य। बाण की मित्र-मंडली में शैव वक्रघोण इसी प्रकार का शिवभक्त जान पड़ता है।

५. केचिद्दारुणदुःखदह्यमानहृदया गृहीतवाचः तुषारशिखरिणं शरणं ययुः।

(अ) कुछ मौनव्रत लेकर हिमालय पर चले गये।

(आ) यहाँ वैयाकरण लोगों से तात्पर्य है, जो पाणिनि की शब्द-विद्या के माननेवाले थे। स्वयं पाणिनि वाक् या शब्द-विद्या की साधना का व्रत लेकर हिमालय में तप करने गये थे। दिवाकरमित्र की सूची में इन्हें 'शाब्द' कहा गया है।[3]

६. क्वचिद् विन्ध्योपत्यकासु वनकरिकुलकरशीकरासारसिच्यमानतनवः पल्लवशयनशयिनः सन्तापमशमयन्।

(अ) कुछ विन्ध्याचल के जंगलों में पत्तों पर सोकर अपना सन्ताप मिटाने लगे।

(आ) सम्प्रदाय के पक्ष में यहाँ पांडुरि भिक्षुओं से तात्पर्य ज्ञात होता है, जो पहनने और शयनादि के लिए पल्लव, अर्थात् श्वेत दुकूलवस्त्रों का प्रयोग करते थे। ज्ञात होता है, ये लोग ठाट-बाट से रहनेवाले महन्त थे, जो हाथी आदि भी रखते थे। निशीथचूर्णि (ग्रन्थ ४, पृ० ८६५) के अनुसार आजीवकों की संज्ञा पाण्डुरिभिक्षु थी।[4] ये लोग गोरस

१. सितवसननिबिडनियद्धस्तनपरिकराभिः श्वेतपटव्यञ्जनाभिः तापसीभिः (वैद्य०, २०८)।

२. ततश्चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा।
विजित्य नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभामनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत॥ (कुमार० ५।२०)।

३. गुप्तकाल के वैयाकरणों या शाब्दिकों के वाग्व्यसन का पद्मप्राभृतकम् नामक भाण में चित्र खींचा गया है (चतुर्भाणी १, पृ० ८ से १० तक)।

शून्या जगृहुः।

(अ) कुछ विषयों का त्याग कर अल्पाहार से कृशशरीर होकर शून्य अटवीस्थानों में रहने लगे।

(आ) यहाँ जैन साधुओं का वर्णन है, जो चान्द्रायण आदि अनेक प्रकार के व्रतों में अत्यन्त नपा तुला आहार (परिच्छिन्न पिंडक) लेते थे। इन साधुओं की पहचान यापनीय संघवाले साधुओं से की जा सकती है। यदि यह सत्य हो, तो बाण के समय (सातवीं शती) में इस सम्प्रदाय का खूब प्रचार रहा होगा। श्रीनाथूरामजी प्रेमी के अनुसार यापनीय संघ के साधु मोरपिच्छ रखते थे,[1] नग्न रहते थे, पाणितलभोजी थे, घोर अवमोदर्य या अल्पभोजन का कष्ट संक्लिष्ट बुद्धि के विना सहकर उत्तम स्थान पाने की अभिलाषा रखते थे और मुनियों की मृत देह को शून्य स्थान में अकेली छोड़ देते थे (नाथूराम प्रेमी, यापनीय साहित्य की खोज, जैनसाहित्य और इतिहास, पृ० ४४,५९)। इन पहचानों को लेकर चलें, तो बाण के वर्णन से यापनीयों के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी मिल जाती है। बाण ने मोरपिच्छ रखनेवालों को क्षपणक (४८) और नग्नाटक (१५२ शिखिपिच्छिलाञ्छनः) कहा है। यापनीय नंगे रहते थे, यही श्वेताम्बरों से उनका भेद था। यापनीयों के लिए भी उस समय क्षपणक और नग्नाटक ये दो विशेषण प्रयुक्त होते थे। तीसरी बात बाण ने यह कही है कि ये लोग बहुत दिन तक स्नानादि के विना रहकर शरीर को अत्यन्त मलिन रखते थे। सम्भवतः, मलधारी विशेषण इन्हीं के लिए प्रयुक्त होता था। अल्प भोजन से शरीर को कष्ट देने की बात तो यहीं मिलती है कि वे परिमित ग्रास खाकर रहते थे: परिच्छिन्नैः पिण्डकैः (१७२)। शून्य स्थान या जंगलों में आश्रय लेने की बात का भी समर्थन बाण के इसी उल्लेख में है: अटवीभुवः शून्या जगृहुः। 'सेवाविमुखाः' शब्द में भी श्लेष ज्ञात होता है। अविमुख, अर्थात् नैगमेश-संज्ञक देवता की सेवा करनेवाले। नैगमेश ने ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ से तीर्थंकर को निकालकर क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ में बदल दिया था। बाण के पूर्व और उनके समय में जैनों में इस देवता की पूजा का विशेष प्रचार था। मथुरा एवं अहिच्छत्रा के कुषाण और गुप्तकाल की कई नैगमेश-मूर्त्तियाँ मिली हैं। बहुत सम्भव है कि यापनीय संघ के अनुयायी लोगों में नैगमेश की पूजा का विशेष प्रचार गुप्तकाल या उसके कुछ बाद भी जारी रहा।

८. केचित्पवनाशना धमनिधना धमद्रुमनयो मुनयो बभूवुः।

(अ) कुछ वायुभक्षण करते हुए कृशशरीर मुनि हो गये।

(आ) यह दिगम्बर जैन साधुओं का वर्णन है। सब प्रकार का आहार त्याग कर वायुभक्षण से तपश्चर्या करते हुए वे शरीर को सुखाते थे। 'धमद्रुमनयः' विशेषण इन लोगों

आश्रम [illegible]
आर्हत कहा है, वे यापनीय संघ के। हिन्दी में एक मुहावरा है लुच्चा-लुंगाड़ा। इसका लुच्चा पद लुंचित या केशलुंचन की ओर संकेत करता है। लुंगाड़ा शब्द नग्नाटक का अपभ्रंश रूप है। इस प्रकार लुच्चा लुंगाड़ा पद में दिगम्बरी साधु और यापनीय संप्रदाय के साधु, इन दोनों की ओर एक साथ संकेत विहित ज्ञात होता है। इस प्रकार यापनीयों की उस समय नग्नाटक, क्षपणक, आर्हत आदि कई संज्ञाएँ प्रचलित थीं।

९. केचित् गृहीतकाषायाः कापिलं मतम् अधिजगिरे गिरिषु (१७३)।

(अ) कुछ काषाय धारण करके गिरिकन्दराओं में कपिलमत का अध्ययन करने लगे।

(आ) कपिलमतानुयायी साधुओं को बाण ने लंबी जटाएँ रखनेवाले (जटा-लम्बी, ५०) कहा है। दिवाकरमित्र के आश्रम में भी कपिलों का उल्लेख है। कपिलमतानुयायी सांख्यवादी साधु मोक्षमार्ग का अनुसरण करते और काषाय वस्त्र पहनते थे (दे० याज्ञ० स्मृति, ३।५७)।

१०. केचित् आचोटितचूडामणिषु शिरस्सु शरणीकृतधूर्जटयो जटा जगृहिरे।

(अ) कुछ ने चूड़ामणि उतारकर शिव की शरण लेकर जटाएँ रख लीं।

(आ) ये लोग पाशुपत शैव ज्ञात होते हैं। हर्ष के स्कन्धावार में पाशुपत साधु भी एकत्र थे। पाशुपतव्रतधारिणी परिव्राजिकाएँ माथे पर भस्म लगाकर हाथ में रुद्राक्ष की माला लिये शरीर पर गेरुए वस्त्र पहनती थीं।[1] प्रथम शताब्दी ई० के बाद से मथुरा और समस्त उत्तरभारत में पाशुपत शैवों का व्यापक प्रचार हो गया था।[2]

११. अपरे परिपाटलप्रलम्बचीवराम्बरसंवीताः स्वाम्यनुरागमुज्ज्वलं चक्रुः।

(अ) कुछ लाल रंग का लम्बा चीवर पहनकर स्वामी के प्रति अपनी भक्ति प्रकट करने लगे।

(आ) साधुओं के पक्ष में, लाल लम्बा चीवर, अर्थात् संघाटी पहननेवाले भिक्षु स्वामी, अर्थात् बुद्ध के प्रति अपना अनुराग प्रकट कर रहे थे। बौद्ध भिक्षु दिवाकरमित्र भी अरुण चीवर-पटल पहने था (२३७)। कादम्बरी में पक्के तालफल के छिलके की तरह लाल वस्त्र पहननेवाली और रक्तपट साधुओं का व्रत धारण करनेवाली तापसियों का उल्लेख है।[3] बाण ने बौद्धों के लिए जैन शब्द प्रयुक्त किया है। शंकर ने हर्ष के स्कन्धावार में एकत्र

---

१. धवलभस्मललाटिकाभिरक्षमालिकापरिवर्तनप्रचलकरतलाभिः पाशुपतव्रतधारिणीभिः धातुरागारुणाम्बराभिश्च परिव्राजिकाभिः (कादम्बरी, वैद्य०, पृ० २०८)।

२. शंकराचार्य ने पाशुपतदर्शन का खंडन किया है (शारीरकभाष्य, २।२।३७)।

३. परिणततालफलवल्कललोहितवस्त्राभिः रक्तपटव्रतवाहिनीभिः तापसीभिः (कादम्बरी,

१२. अन्ये तपोवनहरिणजिह्वाञ्चलाल्लिह्यमानमूर्तयो जरां ययुः।

(अ) कुछ तपोवन में आश्रममृगों से चाटे जाते हुए वार्द्धक्य को प्राप्त हुए।

(आ) साधुओं के पक्ष में, इसमें वैखानसों का उल्लेख है, जो गृहस्थ-जीवन के बाद वानप्रस्थ-आश्रम तपोवन में व्यतीत करते थे। भवभूति ने तपोवनों में वृक्षों के नीचे रहनेवाले वृद्ध गृहस्थों को, जो शमधर्म का पालन करते थे, वैखानस कहा है।[2] कालिदास ने भी कण्व के आश्रम में शमप्रधान तपोधन साधुओं के आदर्श का वर्णन किया है। ज्ञात होता है कि कण्व का आश्रम भी वैखानसों के आदर्श पर ही संगठित था। इसीलिए, उसमें स्त्रियों के भी एक साथ रहने की सुविधा थी। बाण के पहले गुप्तकाल में ही वैखानस-धर्म ने महत्त्व प्राप्त कर लिया था। इस वैखानस-आदर्श में कई धाराओं का समन्वय हुआ। उन्होंने गृहस्थधर्म को प्रतिष्ठा दी। गृहस्थाश्रम के बाद भिक्षु बनने का मार्ग भी खुला रखा; किन्तु स्त्री का परित्याग करके नहीं, बल्कि उसे साथ लेकर वानप्रस्थ आश्रम में शमधर्म का पालन करते हुए। उपलब्ध वैखानस आगमों से एक बात और ज्ञात होती है कि वैखानसों ने धर्म के क्षेत्र में एक ओर भागवतधर्म और पांचरात्रों की व्यूहपूजा को स्वीकार किया, तो दूसरी ओर वैदिक यज्ञों को भी अपने पूजापाठ में नये ढंग से सम्मिलित करते हुए ग्रहण किया। इस प्रकार वैखानस-धर्म कई धाराओं को साथ लेकर गुप्तकाल के धार्मिक आन्दोलन में युग की आवश्यकताओं के अनुसार विकसित हुआ। वसिष्ठ और जनक के जीवन उसके आदर्श थे। वस्तुतः, वैष्णवों में भी भागवत, पांचरात्र, वैखानस और सात्त्वत आदि भेद थे। दिवाकरमित्र के आश्रम में भागवत और पांचरात्रिकों का पृथक् उल्लेख हुआ है। पांचरात्रिक चतुर्व्यूह के माननेवाले थे। उन्हीं में कुछ लोग अपने को एकान्तिन् कहकर केवल वासुदेव विष्णु की उपासना करते थे। सात्त्वतों का सम्बन्ध प्राचीन नारायणीय धर्म से था। वे विष्णु के अन्य अवतारों—विशेषतः नृसिंह और वराह—को भी मानते थे। नृसिंह वराहमुखों के साथ विष्णु की अनेक मूर्त्तियाँ मथुरा-कला में मिली हैं। वे सात्त्वत-परम्परा में ही ज्ञात होती हैं। वैखानस-धर्मानुयायी पंचवीर अथवा सत्यपंचक के रूप में विष्णु और उनके चार अन्य साथियों या चतुर्व्यूह की उपासना करते थे। धार्मिक इतिहास के लिए भागवतों के विविध सिद्धान्तों और आचारों का अन्वेषण महत्त्वपूर्ण है। साहित्य और कला दोनों पर उनकी छाप पड़ी थी।

१३. अपरे पुनः पाणिपल्लवप्रमृष्टैरनारतागमैर्निस्तुषैः कमण्डलुभिश्च वारि वहन्तो गृहीतव्रता मुण्डा विचेरुः।

---

१. शाक्याश्रम इति शमीभिः (६८)।

२. एतानि तानि गिरिनिर्झरिणीतटे वैखानसाश्रिततरूणि तपोवनानि।

(अ) कुछ ने आँसू भरे हुए लाल नेत्रों को हाथों से पोंछकर और कमंडलु के जल से धोकर सिर मुँड़वा लिये और भूमि-शयन, एक बार भोजन आदि विविध व्रत ले लिये।

(आ) साधुओं के पक्ष में, बाण यहाँ पाराशरी भिक्षुओं का वर्णन कर रहे हैं। दिवाकरमित्र के आश्रम की सूची में पाराशरी नाम नहीं है, किन्तु हर्षचरित में अन्यत्र पाराशरियों का जो लक्षण बाण ने दिया है, वह इससे बिलकुल मिल जाता है। द्वितीय उच्छ्वास में कहा गया है कि कमंडलु के जल से हाथ-पैर धोकर चैत्य-वन्दन करनेवाले लोग पाराशरी थे।[1] बाण ने अन्यत्र यह भी कहा है कि पाराशरी ब्राह्मणों से द्वेष करते थे : पाराशरी ब्राह्मण्यो जगति दुर्लभः (१८१)। यह बात इनकी चैत्यपूजा-परायणता से भी प्रकट होती है। शंकराचार्य ने 'जटिलो मुण्डी लुञ्चितकेशः काषायाम्बरबहुकृतवेशः' इस पद्यांश में चार प्रकार के प्रमुख संप्रदायों का उल्लेख किया है। जटिल (=कापिल), मुंडी (=पाराशरी), लुंचितकेश (=केशलुंचन करनेवाले जैन) और काषायाम्बरधारी (=बौद्ध)। पाराशरी भिक्षुओं का उल्लेख तो पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी मिलता है[2], किन्तु चैत्यपूजा करनेवाले इन पाराशरियों का प्राचीन पाराशरी भिक्षुओं से क्या संबंध था, इसे स्पष्ट करनेवाली इतिहास की कड़ियाँ अविदित हैं।

इसके आगे बाण ने हर्ष को समझने के लिए आये हुए आठ अन्य प्रकार से लोगों का वर्णन किया है।

१४. पितृपितामहपरिग्रहागताश्चिरन्तनाः कुलपुत्राः।

(अ) वे पुराने कुलपुत्र, जिनके पितृ-पितामह को सम्राट् का परिग्रह प्राप्त हुआ था और पीढ़ी-दर-पीढ़ी क्रम से जो लोग राजकुल की भक्ति करते चले आते थे, जो राजकुल में कुलपुत्र संज्ञा से अभिहित होते थे, वे भी आये।

(आ) सम्प्रदाय-पक्ष में यहाँ पांचरात्रिकों का उल्लेख है, जो पितृ-पितामह के परिवार-क्रम से समुदित पंचव्यूह, अर्थात् वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और साम्ब की पूजा करते थे। वासुदेव और संकर्षण की पूजा सबसे प्राचीन थी। आगे चलकर उस परम्परा में प्रद्युम्न, अनिरुद्ध आदि कुलपुत्र भी सम्मिलित कर लिये गये।[3]

१५. वंशक्रमाहितगौरवाश्च ग्राह्यगिरः गुरवः।

(अ) वंशक्रम से पूजित ऐसे गुरुजन, जिनकी बात मानी जाती थी, आये।

(आ) सम्प्रदाय-पक्ष में यहाँ बाण ने सम्भवतः नैयायिकों का उल्लेख किया है। वे ही लोग निग्रहस्थानों की व्याख्या करते थे, जिनका संकेत 'ग्राह्यगिरः' पद में है। अन्य समस्त दर्शनों के मध्य में प्रमाणों पर आश्रित विवेचन-प्रणाली के कारण नैयायिक सबके

---

१. कमण्डलुजलशुचिशयचरणेषु चैत्यप्रणतिपरेषु पाराशरिषु (८०)। बाण की मित्र-मण्डली

गुरु समझे जाते थे। प्रत्येक दर्शन ईश्वर, जीव, जगत् के मतों को माने न माने, लेकिन षोडश पदार्थ और प्रमाण की तर्कसंगत प्रणाली प्रत्येक को माननी पड़ती थी। 'वंशक्रम से गौरव प्राप्त करनेवाले' यह विशेषण भी न्यायदर्शन के लिए ही चरितार्थ होता है। जैसा श्रीबलदेव उपाध्यायजी ने लिखा है--आरम्भ में न्याय और वैशेषिक स्वतंत्र दर्शनों के रूप में प्रादुर्भूत हुए। अपने उत्पत्तिकाल में न्याय पूर्वदर्शन मीमांसा का पुत्र था, परन्तु कालांतर में वह वैशेषिक का कृतक पुत्र बन गया।[1]

इनकी पहचान दिवाकरमित्र के आश्रम की सूची में उल्लिखित ऐश्वरकारणिक दार्शनिकों से की जानी चाहिए। न्याय-दर्शन ईश्वर को जगत् का निमित्तकारण माना है, यही उसका मुख्य सिद्धान्त है।[2]

१६. श्रुतिस्मृतीतिहासविशारदाश्च जरद्द्विजातयः।

(अ) अर्थात्, श्रुति-स्मृति-इतिहास के ज्ञाता तीन वर्णों के वृद्ध द्विजाति उपस्थित हुए।

(आ) यहाँ दिवाकरमित्र के आश्रम की सूची के धर्मशास्त्रियों से अभिप्राय है। धर्मशास्त्रों में धर्म का मुख्य आधार श्रुति, स्मृति और सदाचार, अर्थात् इतिहास-प्रसिद्ध महापुरुषों के आचार या कर्म कहा गया है।[3] द्विजाति, अर्थात् ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य, इनके उल्लेख की संगति भी धर्मशास्त्रियों के साथ ही लगती है।

१७. श्रुताभिजनशीलशालिनो मूर्द्धाभिषिक्ताश्चामात्याः।

(अ) ज्ञान, कुल और शील से युक्त, मूर्द्धाभिषिक्त राजा लोग, जो अमात्य-पदवी के अधिकारी थे, हर्ष के साथ समवेदना प्रकट करने के लिए उपस्थित हुए।

(आ) संप्रदाय-पक्ष में यह महत्त्वपूर्ण उल्लेख यज्ञवादी मीमांसकों के लिए है। दिवाकर-मित्र के आश्रम की सूची में इन्हीं को सप्ततान्तव कहा गया है। ऋग्वेद (१०।५२।४; १०।१२४।१) में यज्ञ के लिए सप्ततन्तु विशेषण प्रयुक्त हुआ है। महाभारत में भी यज्ञ को सप्ततन्तु कहा गया है। अतएव, साप्ततान्तव और मीमांसक दोनों एक ही थे। ये लोग श्रुति, अर्थात् वेद को ब्राह्मण-ग्रन्थों पर आश्रित कर्मकांड का मूल स्रोत या आधार मानते थे (अभिजन=पूर्वजों का वासस्थान)। यज्ञ में अवभृथ-स्नान करने के कारण इन्हें मूर्द्धाभिषिक्त कहा गया है।

यज्ञपक्ष में अमात्य शब्द का अर्थ है यज्ञशाला में रहनेवाले (अमा=अग्निशरण या घर+त्य)। राजानः पद भी श्लिष्ट ज्ञात होता है। राजा, अर्थात् सोम रखनेवाले (राजानः)।[4]

---

१. भारतीय दर्शन (१६४२), पृ० २२६।

२. श्रीबलदेव उपाध्यायकृत 'भारतीय दर्शन', पृ० २७४। और भी, शांकर भाष्य (२।२।३७)। वेदान्तदर्शन की न्याय से यह विशेषता है कि वह ईश्वर को निमित्त और उपादानकारण

राजा अमात्य कैसे हो सकते हैं। बाण ने उनके लिए किस स्थिति में अमात्य-पद का प्रयोग किया है। इसका उत्तर यह है कि अमात्य शब्द राजनीतिक क्षेत्र की एक विशेष पदवी का नाम था। गुप्त-अभिलेखों में प्रयुक्त कुमारामात्य पद के अर्थ पर विचार करने से इस अमात्य शब्द का अर्थ समझ में आ सकता है। अमात्य का एक अर्थ सखा या साथी भी था। परमभट्टारक सम्राट् के साथ सखाभाव या बराबरी का पद किसी का नहीं हो सकता था। कुमार राज्यवर्द्धन के लिये कुमारगुप्त और माधवगुप्त सखा नियुक्त किये गये थे। ज्ञात होता है कि बहुत पहले से कुमारों के बराबर सम्मान के भागी उनके सखाओं की नियुक्ति होने लगी थी। पीछे चलकर यही गौरवपूर्ण पद कुमारामात्य के रूप में नियमित किया गया। कुमारामात्य पदवी मंत्रिपरिषद् के मंत्री, सेनापति आदि शासन के उच्चतम अधिकारियों को प्रदान की जाती थी। समुद्रगुप्त के प्रयाग-स्तम्भ-लेख में हरिषेण के नाम के पहले तीन विशेषण प्रयुक्त हुए हैं—१. सांधिविग्रहिक (संधि और विग्रह का अधिकारी मंत्रिपरिषद् का एक सदस्य), २. कुमारामात्य, और ३. महादंड-नायक। इनमें महादंडनायक सैनिक पद (मिलिट्री रैंक) का द्योतक था। सांधिविग्रहिक शासनतंत्र के अधिकार-पद (ऑफिस) का सूचक था और कुमारामात्य व्यक्तिगत सम्मानित पदवी का वाचक (टाइटिल)[1] था। प्रस्तुत प्रसंग में मूर्धाभिषिक्त राजाओं को, जो सम्राट् के अधीन थे, अमात्य अर्थात् कुमारामात्य का सम्मानित पद प्रदान किया गया था। यहाँ अमात्य का अर्थ मंत्री नहीं है।

१८. यथावदधिगतात्मतत्त्वाश्च संस्तुता मस्करिणः।

(अ) आत्मतत्त्व को ठीक प्रकार से अधिगत करनेवाले प्रसिद्ध मस्करी साधु भी उपस्थित हुए थे। यहाँ बाण ने स्वयं ही सम्प्रदाय का नाम दे दिया है। पाणिनि ने मस्करी परिव्राजकों का उल्लेख किया है। कुछ इन्हें मंखलिगोशाल का अनुयायी आजीवक मानते हैं। बाण के समय में इनके दार्शनिक मतों में कुछ परिवर्त्तन हो गया होगा। अपने मूलरूप में मस्करी भाग्य या नियतिवादी थे। जो भाग्य में लिखा है, वही होगा, कर्म करना बेकार है, यही उनका मत था। किन्तु, बाण ने उनके मत का ऐसा कोई संकेत नहीं किया है।

१९. समदुःखसुखाश्च मुनयः।

अर्थात्, दुःख-सुख को एक-सा समझनेवाले मुनि लोग। ये लोग संभवतः लोकायत-मत के माननेवाले थे, जिनके लिए सब-कुछ सुख या मौज ही है।

२०. संसारासारत्वकथनकुशला ब्रह्मवादिनः।

संसार की असारता का उपदेश देनेवाले ब्रह्मवादी शांकर वेदान्त के अनुयायियों का

के टीकाकार शंकर ने उसका अर्थ वेदान्तवादी किया है। कालिदास ने विक्रमोर्वशीय के मंगलश्लोक में 'वेदान्तेषु' ऐसा उल्लेख किया है। वहाँ भी उसका अर्थ उपनिषद् ही किया जाता है। उपनिषदों पर आश्रित ब्रह्मवाद की परंपरा का आरम्भ बहुत पहले ही हुआ। शंकराचार्य तो उसके परमोत्कर्ष के द्योतक हैं।

२१. शोकापनयननिपुणाश्च पौराणिकाः।

अर्थात्, अनेक प्रकार के प्राचीन दृष्टान्त सुनाकर शोक को कम करनेवाले पौराणिक लोग भी उस समय वहाँ हर्ष के पास आये। दिवाकरमित्र के आश्रम की सूची में भी पौराणिकों का उल्लेख है। गुप्तकाल में पुराणों के उपबृंहण और परिवर्द्धन पर विशेष ध्यान दिया गया था। तत्कालीन धर्म और संस्कृति के लिए उपयोगी अनेक प्रकरण पुराणों में नये जोड़े गये और नये पुराणों की रचना भी हुई, जैसे विष्णुधर्मोत्तरपुराण ठेठ गुप्तकाल की सांस्कृतिक सामग्री से भरा है और उसी युग की रचना है। यह सब कार्य जिन विद्वानों के द्वारा सम्पन्न होता था, वे ही पौराणिक कहलाते थे। तत्कालीन विद्या के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में उनकी भी प्रतिष्ठित गणना थी।

इन लोगों के समझाने-बुझाने से हर्ष का शोक कुछ कम हुआ और उसके मन में परदेश गये राज्यवर्द्धन के विषय में अनेक विचार आने लगे। यहाँ बाण ने राज्यवर्द्धन के जीवन की तुलना बुद्ध के जीवन से की है और यह कल्पना की है कि कहीं राज्यवर्द्धन भी बुद्ध की तरह आचरण न कर बैठे। बाँसखेड़ा ताम्रपत्र-लेख में राज्यवर्द्धन प्रथम, उनके पुत्र आदित्यवर्द्धन और उनके पुत्र प्रभाकरवर्द्धन को परमादित्यभक्त कहा गया है एवं प्रभाकरवर्द्धन के दो पुत्रों में से राज्यवर्द्धन को परमसौगत[1] और हर्ष को परममाहेश्वर कहा गया है। राज्यवर्द्धन के विषय में ताम्रपत्र के इस उल्लेख का विचित्र समर्थन हर्षचरित से होता है। श्लेष में छिपे होने के कारण अभी तक विद्वानों का ध्यान इसपर नहीं गया था। निम्नलिखित वाक्यों के अर्थों से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

१. अपि नाम तातस्य मरणं महाप्रलयसदृशमिदमुपश्रुत्यार्यो बाष्पजलस्नातो न गृह्णीयाद् वल्कले

अर्थात्, कहीं आर्य राज्यवर्द्धन महाप्रलय के सदृश इस मरण-दुःख को सुनकर रोते हुए वल्कल न पहन लें, जैसे आर्य (बुद्ध) ने चार दृश्यों में मरण-संबंधी घोर दुःख के विषय में (अपने सारथि से) सुनकर दुःख से चीवर पहन लिये थे।

२. नाश्रयेद् वा राजर्षिराश्रमपदम्।

कहीं राजर्षि राज्यवर्द्धन किसी आश्रम में न प्रविष्ट हो जायें, जैसे राजर्षि बुद्ध ने आलार कालाम के आश्रम में प्रवेश किया था।

कहीं वह पुरुषसिंह पर्वत की गुफा में न चला जाय, जैसे शाक्यसिंह (ग

इन्द्रशैलगुहा में चले गये थे।

४. अस्रसलिलनिर्भरभरितनयननलिनयुगलो वा पश्येदनाथां पृथिवीम्।

कहीं वह इस पृथिवी को अनाथ देखकर नेत्रों से निरन्तर अश्रुधारा न प्र

करने लगे, जैसे बुद्ध ने भूमिस्पर्श-मुद्रा के समय प्रकट हुई पृथिवी को मारधर्षण से

देखकर दुःख माना था।

५. प्रथमव्यसनविषमविह्वलः स्मरेदात्मानं वा पुरुषोत्तमः।

कहीं वह श्रेष्ठ मनुष्य दुःख की इस पहली चोट से घबराकर संसार से विमुख

आत्मचिन्तन में न लग जाय, जैसे पुरुषोत्तम बुद्ध मारधर्षण के समय 'अत्ता' (आत्मा

ध्यान करने लगे थे।

६. अनित्यतया जनितवैराग्यो वा न निराकुर्यादुपसर्पन्तीं राज्यलक्ष्मीम्।

कहीं वह संसार की अनित्यता से वैराग्यवान् होकर आती हुई राज्यलक्ष्म

विमुख न हो जाये, जैसे बुद्ध ने वैराग्य उत्पन्न होने के बाद बिम्बिसार के द्वारा

राज्यलक्ष्मी को अस्वीकार कर दिया था।

७. दारुणदुःखदहनप्रज्वलितदेहो वा प्रतिपद्येताभिषेकम्।

कहीं इस दारुण दुःखरूपी अग्नि से जलती हुई उसकी देह को अभि

आवश्यकता न पड़े, जैसे बुद्ध ने महाकश्यप के आश्रम में देह से अग्नि की ज्वालाएँ

होने पर जलधाराएँ प्रकट करके अभिषेक किया था।

८. इहागतो वा राजभिरभिधीयमानो न पराचीनतामाचरेत्।

अथवा यहाँ लौट आने पर जब राजा लोग उससे सिंहासन पर बैठने की प्र

करें, तो वह पराङ् मुख न हो जाय, जैसे कपिलवस्तु में लौटने पर बुद्ध ने शुद्धो

आग्रह करने पर भी राजकुल के भोगों के प्रति पराङ्मुखता दिखाई थी

इस प्रकार, मन में अनेक प्रकार के विचार लाते हुए हर्ष राज्यवर्द्धन के लौ

बाट देखता रहा।

◉

हर्ष ने इस प्रकार राज्यवर्द्धन की प्रतीक्षा करते हुए अशौच के दिन बिताये। इस प्रसंग में बाण ने मृतक-सम्बन्धी कुछ प्रथाओं का वर्णन किया है, जो आज भी प्रचलित है, जैसे—

१. प्रेत-पिंड खानेवाले ब्राह्मणों[1] को जिमाया गया : प्रथमप्रेतपिण्डभुजि भुक्ते द्विजन्मनि (१७५)। दस दिन तक महाब्राह्मण, जो मृतकपिंड खाते हैं, प्रेतपिंडभुक् कहलाते हैं। उस समय मृतक को प्रेत कहते हैं। ग्यारहवें दिन एकादशाह या सपिंडीकरण की क्रिया होती है। उसके साथ मृतक व्यक्ति पितरों में मिल जाता है। एकादशाह के दिन अशौच समाप्त हो जाता है, इसी के लिए बाण ने कहा है: गतेषु शौचदिवसेषु (१७५)। दशाहपिंड तक जो ब्राह्मण-भोजन होता है, उसे बाण ने प्रथम प्रेतपिंड-भोजन कहा है; क्योंकि अशौच समाप्त होने पर पुनः तेरहवें दिन या उसके कुछ बाद ब्राह्मण-भोजन होता है।

२. द्वितीय ब्राह्मण-भोजन में उच्च कोटि के पांक्तेय ब्राह्मण भाग लेते हैं, जो यज्ञ, अग्निहोत्र आदि देवकार्य कराते हैं। इसी कारण दोनों प्रकार के ब्राह्मणों को अलग-अलग कहा है, यद्यपि दोनों के लिए ही द्विज शब्द का प्रयोग किया गया है। इन ब्राह्मणों को भोजन के अतिरिक्त दुबारा शय्यादान भी दिया जाता है। इसी के लिए बाण ने लिखा है—राजा के निजी उपयोग की जो सामग्री—पलंग, पीढ़ा, चँवर, छत्र, बरतन, सवारी, हथियार आदि—घर में थी, और अब जो आँखों में शूल-सी चुभती थीं, वह शय्यादान के साथ ब्राह्मणों को दे दी गई : चक्षुर्दाहदायिनि दीयमाने द्विजेभ्यः शयनासनचामरातपत्रामत्र-पत्र शास्त्रादिके नृपनिकटोपकरणकलापे (१७५)।

३. मृतक के फूल तीर्थस्थानों में जलप्रवाह के लिए भेज दिये गये : नीतेषु तीर्थ-स्थानानि कीकसेषु (१७५)। इसके विषय में कहा जा चुका है कि सम्राट् के धातुगर्भकुम्भ हाथियों पर रखकर विविध सरोवर, नदी और तीर्थों में सिलाने के लिए रवाना किये गये थे (१७१)।

४. चिता के स्थान पर चैत्य-चिह्न स्थापित किया गया, जो सुधा या गचकारी से बनाया गया था। शंकर ने चिताचैत्य का अर्थ श्मशान-देवगृह किया है। बाण के समय में इन चैत्यों की क्या आकृति थी, इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु अनुमान होता है कि ये चैत्य-चिह्न वही थे, जिन्हें अमरकोश में 'एडूक' कहा गया है, जिसके अन्दर कीकसा या मृत व्यक्ति की शरीर-धातु का कोई अंश रख दिया जाता था।[2] गुप्तकाल में एडूक बनाने की प्रथा का परिचय विष्णुधर्मोत्तरपुराण से मिलता है। ये त्रिमेधिस्तूप की आकृति के होते थे, अर्थात् क्रमशः परिमाण में कम होते हुए एक दूसरे पर बने तीन चबूतरों के ऊपर किसी देवचिह्न, शिवलिंग या प्रतिमा की स्थापना की जाती थी। अहिच्छत्रा की खुदाई

इसके बाद दो बातों की ओर उल्लेख है, एक राजगजेन्द्र या प्रभाकरवर्द्धन के खास हाथी का वन में छोड़ दिया जाना; दूसरे स्यापे की प्रथा, जो पंजाब में अभी तक प्रचलित है, अर्थात् गीत गाकर शोक मनाना और उस रूप में स्यापा करने के लिए मृतक के यहाँ जाना। इसके लिए 'कविरुदितक' शब्द का प्रयोग हुआ है।

जब यह हो चुका, तब सब वृद्ध बन्धुवर्ग, महाजन और मौल (वंशक्रमागत) मंत्र हर्ष के पास आये। शीघ्र ही उसने हूणयुद्ध से घायल होकर लौटे बड़े भाई को देखा। राज्य-वर्द्धन के शरीर के घावों पर लम्बी सफेद पट्टियाँ बँधी थीं : हूणनिर्जयसमरशरव्रणबद्ध-पट्टकोः दीर्घधवलैः (१७६)। यह अनिश्चित है कि हूणों को दबाने में राज्यवर्द्धन कहाँ-तक सफल हुए। इस समय पिता की मृत्यु के शोक से उनकी हालत बहुत खराब थी। शरीर कृश हो गया था। सिर पर चूडामणि और शेखर दोनों का पता न था। ज्ञात होता है कि उस समय दो आभूषण और तीसरी मुंडमाला पहनने का रिवाज था। हर्ष के सिर पर भी दरबार के समय इन तीनों का वर्णन किया गया है (७४)। राज्यवर्द्धन के कान में इस समय इन्द्रनीलजटित बाली (इन्द्रनीलिका) के स्थान पर पवित्री पड़ी हुई थी।

इस प्रसंग में बाण ने लिखा है कि हड़बड़ी में आने के कारण राज्यवर्द्धन के निजी परिजन या सेवक छूट गये थे या खिसटते साथ लग रहे थे। उनकी संख्या भी कम हो गई थी। वे इस प्रकार थे—१ छत्रधार, २. अम्बरवाही, अर्थात् राजकीय वस्त्रों को साथ ले चलनेवाला, ३. भृंगारग्राही, अर्थात् जलपात्र ले चलनेवाला, ४. आचमनधारी, अर्थात् आचमन करने का पात्र थामनेवाला[1]; ५. ताम्बूलिक, ६. खड्गग्राही एवं अन्य कुछ दासेरक।

राज्यवर्द्धन भीतर आकर बैठ गये। परिजन से लाये हुए जल से मुख धोकर ताम्बूलिक द्वारा दिये हुए तौलिये से उन्होंने मुँह पोंछा। बहुत देर बाद चुपचाप उठकर स्नान-भूमि में गये और वहाँ स्नान करके देवतार्चन के बाद चतुःशाल की वितर्दिका में आकर चौकी पर बैठ गये।[2] बाण ने लिखा है कि वितर्दिका के ऊपर-नीचे पटाववाली छत थी : नीचापाश्रय। ऊपर धवलगृह के वर्णन में जिसे संजवन कहा गया है, उसी का दूसरा नाम चतुःशाल था।[3] घर का चतुःशाल भाग इस समय चौसल्ला कहलाता है। आँगन के चारों ओर बने हुए कमरे चतुःशाल का मूलरूप था। इसी में एक ओर उठने-बैठने के लिए बना हुआ कुछ ऊँचा चबूतरा गुप्तकाल में वितर्दिका या वेदिका कहलाता था, जिसपर नीचा पटाव रहता था। आजकल की पटावदार बारहदरी, जो चौसल्ले आँगन में बनाई जाती है, इसी का प्रतिरूप है।[4]

---

१. प्रभाकरवर्द्धन के आचमनवाही का उल्लेख ऊपर हो चुका है।

२. चतुःशालवितर्दिकायां नीचपाश्रयविनिहितकोपवर्हायां पर्यङ्किकायां निपत्य जोषमास्थत।

३. सञ्जवनं त्विदं चतुःशालं (अमर, २।२।६)।

हर्ष ने भी स्नान किया और पृथिवी पर बिछे हुए कालीन पर पास आकर बैठ गया। उस समय आकाश में शशांक-मंडल का उदय हुआ। यहाँ बाणभट्ट ने श्लेष से गौडाधिप शशांक के भी उदय होने का उल्लेख किया है: प्रकटकलङ्क उदयमानं विशङ्कट-विषाणोत्कीर्णपङ्कसङ्करशाङ्करशाक्वरशाक्वरककुत्कूटसङ्काशम् अकाशत आकाशे शशाङ्कमण्डलम् (१७८)।

अर्थात्, चौड़े सींगों से उछाली हुई मिट्टी से सने हुए शिव के तगड़े वृषभ के उभारे हुए ककुद के समान कलंकित शशांक-मंडल आकाश में उदय होता हुआ सुशोभित हुआ। इस वर्णन में शशांक की स्वर्णमुद्रा पर अंकित शिव के साथ सामने बैठे हुए नन्दी एवं आकाश में उदित पूर्णचन्द्र का मानों यथार्थ चित्रण बाण ने किया है (चित्र ५८)। आगे आनेवाली विपत्तियों को श्लेष द्वारा सूचित करने की प्रवृत्ति बाण की शैली की विशेषता है। राज्यश्री के विवाह की वेदी में शोभा के लिए रखे हुए जवारों के कलशों का वर्णन करते हुए श्लेष द्वारा दूसरा अर्थ यह सुझाया गया था कि सिंहमुखी उन कलशों के जवारों से भरे हुए मुख ऐसे भयंकर लगते थे जैसे शत्रुओं के मुख, मानों विवाह की वेदी पर ही आगे आनेवाले दुर्भाग्य की छाया पड़ गई थी।

इस अवसर पर प्रधान सामन्तों ने, जिनकी बात टाली नहीं जाती थी (अतिक्रमणवचनैः), कह-सुनकर राज्यवर्द्धन को भोजन कराया। प्रातःकाल होने पर राजाओं के बीच बैठे हुए हर्ष से राज्यवर्द्धन ने कहा—'मेरे मन में दुर्निवार शोक भर गया है। राज्य मुझे विष की तरह लगता है। राज्यलक्ष्मी को इस प्रकार त्याग देने को मन करता है, जैसे रंग-बिरंगे कफन के वस्त्रों के घूँघट से सजाई हुई, लोगों का मन बहलानेवाली, बाँस के ऊपर लगी हुई टेसू की पुतली को डोम लोग फेंक देते हैं।[1] मेरी इच्छा आश्रमस्थान[2] में चले जाने की है। तुम राज्यभार ग्रहण करो। मैंने आज से शस्त्र छोड़ा।' यह कहकर खड्गग्राही के हाथ से तलवार लेकर धरती पर फेंक दी (१८०)।

इसे सुनते ही हर्ष का हृदय विदीर्ण हो गया। उसके मन में अनेक प्रकार के विचारों का तूफान उठ खड़ा हुआ। किन्तु, वह कुछ बोल न सका और मुँह नीचा किये बैठा रहा। इसी वर्णन के प्रसंग में बाण ने अपने समकालीन समाज के विषय में कुछ

---

१. बहुमृतपटावगुण्ठनां रञ्जितरञ्जां जनङ्गमानामिव वंशवाह्यामनार्यां श्रियं त्यक्तुमभिलषति मे मनः (१८०)। इस वाक्य का अर्थ पूर्व टीकाकारों ने स्पष्ट नहीं किया। कावेल ने बाण के जनङ्गमानाम् पाठ को जनङ्गमाङ्गनाम् करने का सुझाव दिया है (पृ० २७६), जो अनावश्यक है। जणागम—चाण्डाल (पाइअलच्छी नाममाला, पाइअसद्दमहण्णव, पृ० ४३२)। वस्तुतः, यहाँ बाण ने टेसू की उस पुतली का उल्लेख किया है, जिसे दिल्ली आदि की तरफ डोम, भंगी तीन बाँसों के ऊपर लगाकर कफन में प्राप्त रंग-बिरंगे कपड़ों से

फबतियाँ कसी हैं—'जिसमें अभिमान न हो, ऐसा अधिकारी; जिसमें एषणा न हो, ऐसा द्विजाति; जिसमें शाप न हो, ऐसा मुनि[1]; जिसमें मत्सर न हो, ऐसा कवि; जो बेईमानी न करे, ऐसा वणिक्; जो खल न हो, ऐसा धनी; जो ब्राह्मणद्वेषी न हो, ऐसा पाराशरी भिक्षु; जो भीख न माँगता हो, ऐसा परिव्राट् (पाशुपत साधु)[2]; जो सत्यवादी हो, ऐसा अमात्य (कूटनीतिज्ञ मन्त्री); जो दुर्विनीत न हो, ऐसा राजकुमार संसार में दुर्लभ है' (१८१)।

राज्यवर्द्धन जब इस प्रकार बोल चुके, तब पहले ही सहेजे हुए वस्त्रकर्मान्तिक (सरकारी तोशखाने के अधिकारी) ने रोते हुए वल्कल हाजिर किये। ये बातें हो ही रही थीं कि राज्यश्री का संवादक नाम का परिचारक रोता-पीटता सभा में आकर गिर पड़ा। राज्यवर्द्धन के पूछने पर उसने किसी प्रकार कहा—'देव, जिस दिन सम्राट् के मरने की खबर फैली, उसी दिन दुरात्मा मालवराज ने ग्रहवर्मा को जान से मार डाला और भर्तृदारिका राज्यश्री को पैरों में बेड़ी पहनाकर कान्यकुब्ज के कारावास में डाल दिया। सुना ऐसा भी जाता है कि वह दुष्ट सेना को नायक से रहित समझकर थानेश्वर पर भी हमला करना चाहता है (१८२)।

डाक्टर बूहलर ने मालवराज की पहचान देवगुप्त से की थी, जो सर्वसम्मत है; किन्तु मालवा को पंजाब में माना था, जो असम्भव है; क्योंकि बाण के समय में मालव लोग अवन्ति में आ चुके थे और अवन्तिप्रदेश मालव कहलाने लगा था।[3] पंजाब से उखड़ने के बाद मालवों को हम जयपुर रियासत के कर्कोट नगर में पाते हैं। वहाँ से आगे बढ़ते हुए वे गुप्तकाल में चौथी शती के लगभग मालवा में आकर बसे होंगे। राजनीतिक घटनाएँ इंगित करती हैं कि जैसे ही चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अवन्ति से शकराजाओं का उन्मूलन किया, वैसे ही मालव लोग अवन्ति में आकर अधिकृत हो गये। सम्भव है कि इस कार्य में वे चन्द्रगुप्त के सहायक भी रहे हों। मंदसोर के लेखों (ई० ४०४ और ई० ४३६) में मालव-संवत् का उल्लेख होने से भी यही विदित होता है कि मालव लोग पाँचवीं शती के पहले मालवा में आ बसे थे। अतएव, मालवराज का सम्बन्ध मध्यभारत में स्थित मालवा से ही माना जा सकता है।

इस घोर समाचार को सुनकर राज्यवर्द्धन का सब विषाद जाता रहा और उसमें वीररस का संचार हुआ। उसके हृदय में शोक के आवेग की जगह कोप का आवेग भर गया। बायाँ हाथ म्यान पर एवं दाहिना भीषण कृपाण पर पड़ा और उसने हर्ष से कहा—'राजकुल, बान्धव-परिजन, पृथ्वी और प्रजाओं को तुम सँभालो, मैं तो आज ही मालवराज के कुल का नाश करने के लिए चला। मेरे लिए यही चीवर और यही

चाहता है, अन्धकार सूर्य को दबोचना चाहता है—यह जो मालवों ने पुष्पभूति-वंश का अपमान किया है। क्रोध ने अब मेरे मन की जलन को मिटा डाला है। सब राजा और हाथी यहीं तुम्हारे साथ ठहरेंगे। अकेला यह भंडि दस हजार घोड़ों की सेना लेकर मेरे पीछे चलेगा।' यह कहकर फौरन ही कूच का डंका (प्रयाणपटह) बजाने का हुक्म दिया (१८४)। उसके इस प्रकार आदेश देने पर हर्ष ने कई प्रकार से पुनः आग्रह करते हुए कहा—'आर्य के प्रसाद से मैं पहले कभी वंचित नहीं रहा। कृपा कर मुझे भी साथ ले चलें।' यह कहकर उसने उसके पैरों में सिर धर दिया।

उसे उठाकर राज्यवर्द्धन ने कहा—'तात, इस प्रकार छोटे शत्रु के लिए भारी तैयारी करना उसे बड़ाई देना होगा। हिरन मारने के लिए शेरों का झुंड ले जाना लज्जास्पद है। तिनकों के जलाने के लिए क्या कई अग्नियाँ मिलकर कवच धारण करती हैं ? और फिर, तुम्हारे पराक्रम के लिए तो अट्ठारह द्वीपों की अष्टमंगलक माला पहननेवाली पृथ्वी उपयुक्त विषय है। थोड़ी-सी रुई के लिए पर्वतों को उड़ा ले जानेवाले मरुतों की तैयारी नहीं होती। सुमेरु से टक्कर लेनेवाले दिग्गज कहीं बाँबी से भिड़ते हैं ? मान्धाता की तरह तुम सुन्दर सोने की पत्रलताओं से सजे हुए धनुष को सकल पृथिवी की विजय के लिए उठाओगे। तो, तुम ठहरो। मुझे अकेले ही शत्रुनाश करने दो। इस क्षुधा में क्रोध का ग्रास अकेले ही खाने दो।' यह कहकर उसी दिन शत्रु पर चढ़ाई कर दी।

इस प्रकरण में कई सांस्कृतिक महत्त्व के उल्लेख आये हैं। गुप्तकाल के भारतीय भूगोल में पूर्वी द्वीपसमूह के भिन्न-भिन्न द्वीपों की गणना भी होने लगी थी। पुराणों और इस काल के अन्य साहित्य में कुमारीद्वीप, अर्थात् भारतवर्ष; सिंहलद्वीप (लंका), नग्नद्वीप या नारिकेलद्वीप (निक्कवरम् या निकोबार), इन्द्रद्युम्नद्वीप (अंडमन), कटाहद्वीप (केड़ा), मलयद्वीप, सुवर्णद्वीप (सुमात्रा), यवद्वीप (जावा), बारुषकद्वीप (बरोस), वारुणद्वीप (बोर्नियो), पण्युपायनद्वीप (सम्भवतः फिलिपाइन), चर्मद्वीप[1] (=कर्मरंग या कर्दरंग, मलयद्वीप में), कर्पूरद्वीप (संभवतः, बोर्नियो का दूसरा नाम, जहाँ से सर्वोत्तम कपूर आता था), कमलद्वीप (अरबी कमर ; ख्मेर, कम्बोडिया), बलिद्वीप (बाली) इत्यादि[2] द्वीपों के नाम आते हैं। इस संख्या में अट्ठारह द्वीपों की गिनती होने लगी थी। बाण ने दो बार अट्ठारह द्वीपोंवाली पृथ्वी का उल्लेख किया है (१७६, १८५)। जैसे, बाण ने दिलीप को अष्टादश द्वीपों में अपना सिक्का बैठानेवाला कहा है (भ्रूलतादिष्टाष्टादशद्वीपे दिलीपे, १७६), वैसे ही कालिदास ने माहिष्मती के पूर्वकालीन राजा कार्त्तवीर्य

---

१. बृहत्संहिता, १२, ६।

२. मंजुश्रीमूलकल्प, भाग २, पृ० ३२२।

को अष्टादश द्वीपों में अपने यज्ञस्तम्भ खड़े करनेवाला कहा है।[1] वस्तुतः, द्वीपों की संख्या चार से क्रमशः बढ़ती हुई अट्ठारह तक जा पहुँची थी। पुराणों में पहले चतुर्द्वीप, फिर सप्तद्वीप का वर्णन आता है। महाभारत आदिपर्व में राजा पुरूरवा को समुद्र के बीच में स्थित तेरह द्वीपों का शासक कहा गया है।[2] वस्तुतः, पूर्वी द्वीपसमूह एक साथ प्रायः द्वीपान्तर नाम से अभिहित किये जाते थे। कालिदास ने कलिंग और द्वीपान्तर के बीच में लवङ्गपुष्पों के व्यापार का उल्लेख किया है।[3] बाण ने इन द्वीपों से रत्नराशियों के ढेर कमाकर लानेवाले जहाजों का वर्णन किया है।[4]

अट्ठारह द्वीपों की अष्टमंगलक माला पहननेवाली पृथ्वी (१८५) के इस उल्लेख में अष्टमङ्गलक माला शब्द भारतीय कला की सुन्दर परिभाषा से लिया गया है। साँची के महास्तूप से सम्बद्ध तोरण-स्तम्भ पर उत्कीर्ण शिल्प में माङ्गलिक चिह्नों से बनी हुई मालाएँ या कठुले अङ्कित हैं। एक कठुले में ग्यारह और दूसरे में तेरह माङ्गलिक चिह्न हैं।[5] पीछे चलकर कुषाण-काल में यह संख्या अष्टमाङ्गलिक चिह्नों तक ही सीमित हो गई और इस तरह की माला का नाम अष्टमङ्गलक माला पड़ गया [चित्र ५६]। मथुरा के कुषाणकालीन आयागपट्टों पर ये चिह्न इस प्रकार हैं, यथा मीनमिथुन, देवविमानगृह, श्रीवत्स, वर्धमान, त्रिरत्न, पुष्पदाम, इन्द्रयष्टि या वैजयन्ती और पूर्णघट।[6] बाण के समय में अष्टमङ्गलक माला नाम रूढ हो गया था, इसीलिए अष्टादश द्वीपों की अष्टमङ्गलक माला यह कथन संभव हुआ। इस प्रकार की मालाएँ कृत्स्नपृथिवीजयार्थं प्रयाण करनेवाले सेनानी सर्वविधमंगल के लिए धारण करते थे।

राज्यवर्द्धन के वीररस का वर्णन करते हुए बाण ने एक वाक्य लिखा है, जो पहले कहे हुए 'मग्नांशुकपटान्ततनुताम्रलेखा......' वाले वाक्य (६६) की भाँति श्लेषात्मक अर्थों के चमत्कार एवं ऐतिहासिक सामग्री के लिए विलक्षण है : दर्पान् परामृशन्

१. संग्रामनिर्विष्टसहस्रबाहुरष्टादशद्वीपनिखातयूपः ।
अनन्यसाधारणराजशब्दो बभूव योगी किल कार्त्तवीर्यः ॥ (रघुवंश, ६।३८)।

२. (क) त्रयोदशसमुद्रस्य द्वीपानश्नन् पुरूरवाः—आदिपर्व (पूना-संस्करण), ७०।१७।

(ख) अष्टादशसमुद्रस्य द्वीपान्नश्नन् पुरूरवाः। तुतोष नैव रत्नानां लोभादिति हि नः श्रुतम् ॥ (वायुपुराण, २।१४)।

(ग) इमान् अष्टादशद्वीपान् ससमुद्रान् सपर्वतान्। (लिंगपुराण, २०।२०)।

(घ) महालयविधानेन कृतवीर्यसुतो बलिः। अष्टादशानां द्वीपानामाधिपत्यमवाप्तवान् ॥ (स्कन्द, ब्रह्मखंडान्तर्गत सेतु-माहात्म्य, ३६।१८६)।

३. रघुवंश, ६।५७। कुछ विद्वान् द्वीपान्तर की पहचान मलयद्वीप से करते हैं।

४. द्वीपोपगीतगुणमपि समुपार्जितरत्नराशिसारमपि पोतम् (१८५)।

५. ग्यारह चिह्नोंवाली माला में सूर्य, शुक्र, पद्मसर, अङ्कुश, वैजयन्ती, पंकज, मीनमिथुन, श्रीवत्स, परशु, दर्पण और कमल हैं। दूसरी माला में कमल, अङ्कुश, कल्पवृक्ष, दर्पण,

वसुबन्धु-कृत अभिधर्मकोश नामक ग्रंथ। इनके अनुसार वाक्य के अर्थ इस प्रकार होंगे।

पहला अर्थ, म्यान के पक्ष में

गुप्तयुग के वीरवेष में कटिबन्ध में दाहिनी ओर छुरी-कटारी (असिपुत्रिका, छुरिका; दे० अहिच्छत्रा खिलौनों पर मेरा लेख, चित्र १८८, १९०) और बाँई ओर परतले में तलवार झूलती रहती थी। बाण का कहना है कि आवेश में राज्यवर्द्धन का बायाँ हाथ कटारी की तरफ गया और दाहिना पुनः कृपाण की ओर झपटा। बाहु एक विशेष प्रकार की तलवार थी, जिसे इस समय की भुजाली कह सकते हैं। (तुलना कीजिए, करपालिका=करौली और भुजपालिका=भुजाली)। इसकी लंबाई भुजा (बाहु कोहनी से अँगुली तक का भाग) के बराबर होने से इसका यह नाम पड़ा। वराहमिहिर ने उत्तम तलवार की लंबाई ५० अंगुल कही है। उसकी आधी २५ अंगुल की 'ऊन' कहलाती थी, जिसे हिंदी में अभी तक 'ऊना' कहते हैं। वस्तुतः, छुरी, कटारी, करौली, भुजाली, ऊना सब तीस अंगुल से कम नाप की होती थीं। तीस से ऊपर जाने पर तलवार का नाम निस्त्रिंश पड़ता था।

अजन्ता में बाहु या भुजाली का अंकन पाया जाता है। उसके शिखर या ऊपरी भाग के पास म्यान पर गजमस्तक-जैसी आकृति का अलङ्करण बना हुआ है (औंधकृत अजन्ता-फलक ३१) नीचे की पट्टी में चित्रित बीच की दो भुजाओं में दाहिनी ओर की बाहु नामक राजकीय भुजाली की म्यान गजमस्तक से अलंकृत है [चित्र ६०]।

इतना समझ लेने पर बाण का शब्दचित्र स्पष्ट हो जाता है—'राज्यवर्धन का बायाँ हाथ दाहिनी ओर कमर में खोंसी हुई भुजाली की मूठ पर गया, जो गजमस्तक के अलंकरण से सुशोभित थी। यों उस हाथ की नखकिरणों ने युद्ध का बोझा उठाने में समर्थ उस म्यान-बन्द भुजाली का मानों जलधाराओं से सम्मानपूर्ण अभिषेक किया।'

दूसरा अर्थ, दिव्यपरीक्षा के पक्ष में

शङ्कर ने कोश का अर्थ एक प्रकार की दिव्यपरीक्षा किया है। अभियुक्त व्यक्ति को सचैलस्नान कराकर मंडल में खड़ा करके किसी देवमूर्त्ति के स्नान किये हुए जल की तीन अंजुलियाँ पिलाई जाती थीं। यदि वह दोषी हुआ, तो देवता के प्रकोप से उसकी मृत्यु तक हो जाना सम्भव माना जाता था।[1] इस पक्ष में 'समरभार' का पदच्छेद स+मर+भार होगा (मर=मरण, मृत्यु; भार=बोझा या दंड जो बिरादरी या देवता द्वारा अभिशस्त

१. श्रीकर्णे ने व्यवहारमयूख से निम्नलिखित उद्धरण दिया है—

तमाहूयाभिशस्तन्तु मण्डलाभ्यन्तरे स्थितम्।
आदित्याभिमुखं कृत्वा पाययेत् प्रसृतित्रयम्॥
पूर्वोक्तेन विधानेन स्नातमार्द्राम्बरं शुचिम्।
अर्चयित्वा तु तं देवं प्रक्षाल्य सलिलेन तु॥

होने की सम्भावना हो। बाहु=कोहनी से अंगुली तक का भाग, उसका शिखर=हाथ। जो अभिशस्त व्यक्ति दिव्यपरीक्षा देता था, वह दर्पपूर्वक अन्त तक अपने को निर्दोष कहता था। अभिशस्त व्यक्ति बायें हाथ से परीक्षा का जल दाहिने हाथ की मुट्ठी में लेकर पीता था, उसी से इस अर्थ की कल्पना हुई --

गजमस्तक की तरह विकट मुट्ठी बँधा हुआ बायाँ हाथ दिव्यपरीक्षा के समय दाहिनी मुट्ठी को अपनी नखकिरणों से मानों मरणपर्यन्त दण्ड की सम्भावना का अभिषेक करा रहा था।

तीसरा अर्थ, अभिधर्मकोश-ग्रन्थ के पक्ष में

इस अर्थ में विशिष्ट महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री सामने आती है। यहाँ 'कोश' का अर्थ है बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धुकृत[1] 'अभिधर्मकोश' नामक अत्यन्त प्रसिद्ध दर्शन-ग्रन्थ। वसुबन्धु के ही अनुयायी दिङ्नाग चौथी-पाँचवीं शती में हुए।[2] तारानाथ के अनुसार दिङ्नाग वसुबन्धु के शिष्य थे, जो उनके शिष्यों में सबसे बड़े विद्वान् और स्वतन्त्र विचारक थे। वे बौद्ध तर्कशास्त्र के जन्मदाता एवं भारतीय दर्शन के क्षेत्र में चोटी के विद्वान् माने जाते हैं। दिङ्नाग ने अपने दिग्गज पांडित्य से वसुबन्धु के 'अभिधर्मकोश' को सर्वशास्त्रों में शिरोमणि प्रमाणित किया। उनका एक ग्रन्थ 'हस्तवलप्रकरण' या 'मुष्टि-प्रकरण' प्राप्त है।[3] सम्भवतः, इसी ग्रन्थ के कारण हाथ फेंककर विपक्षियों से शास्त्रार्थ करने की किंवदन्ती दिङ्नाग के विषय में प्रचलित हुई। कालिदास ने मेघदूत[4] में दिङ्नाग के

१. वसुवन्धु पुरुषपुर (पेशावर) के एक ब्राह्मण-परिवार में जन्मे थे। उन्होंने चौथी शती के अंतिम भाग में 'अभिधर्मकोश' की रचना की। मूलग्रन्थ में ६०० कारिकाएँ और वसुबंधु का स्वरचित भाष्य था, जिसमें प्रमाण, चेतना, सृष्टि, नीतिधर्म, मोक्ष, आत्मा आदि प्रमुख विषयों का प्रामाणिक और अत्यन्त पांडित्यपूर्ण विवेचन किया गया था। मूल संस्कृत-ग्रन्थ अभी हाल में प्राप्त हुआ है। परमार्थ ने (५६३ से ५६७ ई० तक) और श्युआन् च्युआङ् (६५१ से ६५४) ने चीनी भाषा में उसके दो अनुवाद किये। तिब्बती भाषा में भी उसका अनुवाद हुआ था। वसुवन्धु पहले सर्वास्तिवादी-संप्रदाय के थे, परन्तु पीछे अपने बड़े भाई की प्रेरणा से महायान के विज्ञानवाद के अनुयायी हो गये। ८० वर्ष की आयु में अयोध्या में उनका देहान्त हुआ। (विंटरनिज, भारतीय साहित्य, भाग २, पृ० ३५५ से ३६१ तक)।

२. रैंडल दिङ्नाग को निश्चित रूप से ३५० और ५०० ई० के बीच मानते हैं। इनके अनेक ग्रन्थों में से केवल न्यायप्रवेश मूल संस्कृत में बच गया है।

३. विंटरनिज, भारतीय साहित्य, भाग २, पृ० ३५२; नंजियो, चीनी त्रिपिटक, सं० १२५५ से ५६ तक; इस ग्रन्थ में केवल ६ कारिकाओं में संसार की अनित्यता सिद्ध की गई है।

दिया है कि दिङ्नाग सीधे हाथ में अभिधर्मकोश लेकर बायें हाथ से उसकी ओर इशारा करते हुए शास्त्रार्थों में अपनी प्रतिभा से उत्पन्न नये-नये विचारों (भावना) द्वारा उसका मंडन (अभिषेक) करते थे। बाण ने वसुबन्धु के कोश का दिवाकरमित्र के आश्रम में भी उल्लेख किया है, जहाँ शाक्य-शासन में कुशल रट्टू तोते उसका उपदेश कर रहे थे (२३७)। दिङ्नाग के पक्ष में वाक्य का अर्थ इस प्रकार होगा—

दिङ्नाग के मस्तक की कूट कल्पनाओं से विकट बना हुआ जो वसुबन्धु का अभिधर्मकोश था, उसे आचार्य दिङ्नाग शास्त्रार्थों में अपने दाहिने हाथ में लेकर बायें हाथ से दर्प-पूर्वक जब उसकी ओर संकेत करते थे, तब उनके बायें हाथ की नखकिरणों की सलिल-धार मानों वसुबन्धु के कोशग्रंथ का (भावनामय विचारों के द्वारा) ऐसा स्नान कराती थी, जिसमें शास्त्रार्थरूपी युद्धों के मचने से रसहीनता आ जाती थी (समर + भा + अरसम् + भावनाभिषेकम्)।[1]

इससे यह ज्ञात होगा कि बाण ने अद्भुत काव्यमय कौशल से अपने युग में प्रसिद्ध एक साहित्यिक अनुश्रुति का उल्लेख यहाँ किया है।

राज्यवर्द्धन के चले जाने पर हर्ष अकेला अनमना होकर समय बिताने लगा : कथमपि एकाकी कालमनैषीत्। एक दिन स्वप्न में एक लोहे का स्तम्भ फटकर गिरता हुआ दिखाई दिया। वह घबराकर उठ बैठा और सोचने लगा—'क्यों दुःस्वप्न मुझे नहीं छोड़ते ? मेरी बाईं आँख भी फड़कती रहती है। तरह-तरह के दारुण उत्पात भी होते रहते हैं। सूर्य में कबन्ध दिखाई पड़ता है और राहु सूर्य पर झपटता हुआ लगता है। सप्तर्षि धुँआ छोड़ते हैं। दिशाएँ जलती हैं। आकाश से तारे टूटते हैं, मानों दिग्दाह की

१. इस अर्थ में समरभारसम्भावनाभिषेकम् का पदच्छेद इस प्रकार होगा—समर (शास्त्रार्थ युद्ध)+भा (प्रतिभा)+अरसम् (नीरस)+भावना (विचार)+अभिषेकम्। नखकिरणजल से स्नान वस्तुतः (अरस) बिना जल का स्नान है। वह केवल भावनाभिषेक है। अभिषेक या स्नान की भावना कर लेना भावना-स्नान कहलाता है। वह कई प्रकार का है—

आग्नेयं भस्मना स्नानमवगाह्यं तु वारुणम्।
आपो हिष्ठेति च ब्राह्मं वायव्यं गोरजः स्मृतम्॥
(रघुवंश, १।८५, मल्लिनाथ का श्लोक)

जल से वारुण स्नान, भस्म लगा लेने से आग्नेय, आपोहिष्ठा मन्त्र से ब्राह्म और गोधूलि से वायव्य स्नान होता है। पिछले तीन भावना-अभिषेक हैं। वसुबन्धु के कोश का अभिषेक भी जलहीन होने के कारण केवल भावनाभिषेक था। उसका यह भी अर्थ है कि दिङ्नाग ने विचारों द्वारा उस ग्रन्थ को प्रक्षालित किया। अभिषेक का उद्देश्य शुद्धि है, (देखिए, रघुवंश १।८५, तीर्थाभिषेकजां शुद्धिमादधाना महीक्षितः); किन्तु

पड़ता है। धरती को कँपानेवाला अन्धड़, धूल और बजरी उड़ाता हुआ राज्यनाश की सूचना देता है।' इस प्रकार उत्पातों की बात सोचते सोचते वह राज्यवर्द्धन की कुशल मनाने लगा (१८६)।

हर्ष बाह्य आस्थानमंडप में आकर बैठा ही था कि उसने राज्यवर्द्धन के कृपापात्र कुन्तल नाम के सवार को आते देखा।[1] उसने खबर दी कि राज्यवर्द्धन ने मालव की सेना को खेल-ही-खेल में जीत लिया था, किन्तु गौडाधिपति की दिखावटी आवभगत का विश्वास करके वह अकेला शस्त्रहीन दशा में अपने ही भवन में मारा गया (१८६)।

इतना सुनना था कि हर्ष में प्रचंड कोप की ज्वाला धधक उठी। उसका स्वरूप अत्यन्त भीषण हो उठा। वह ऐसा लगता था, मानों शिव ने भैरव का अथवा विष्णु ने नरसिंह का रूप धारण कर लिया हो।[2] ये दोनों अभिप्राय बाण ने अपने युग की मूर्त्तिकला से ग्रहण किये हैं (भैरवाकार शिव के लिए देखिए अहिच्छत्रा के खिलौनों पर मेरा लेख, चित्र-सं० ३००। नरसिंहाकृति विष्णु के लिए वहीं, चित्र-सं० १०८)। उसने गौडाधिपति को बहुत बुरा-भला कहा--'झरोखे में जलनेवाले प्रदीप को जैसे सिर्फ काजल मिलता है, वैसे ही इस कृत्य के द्वारा गौडाधिप के हाथ केवल अपयश ही लगेगा। सूर्य के अस्त हो जाने पर भी सत्पथ के वैरी इसी अन्धकार से निपटने के लिए अभी चन्द्रमा तो है ही। अंकुश के टूट जाने पर भी दुष्ट गजेन्द्र (व्यालवारण) को विनय सिखाने के लिए केशरी के खरतर नख तो कहीं नहीं चले गये। तेजस्वी रत्नों को तराश में बिगाड़ देनेवाले मूर्ख बेगड़ियों के समान पृथ्वी के कलंक उसको कौन मृत्युदण्ड न देगा?[3] अब वह दुर्बुद्धि भागकर कहाँ जायगा।' (१८८)

हर्ष इस प्रकार अपने उद्गार प्रकट कर ही रहा था कि सेनापति सिंहनाद जो प्रभाकरवर्धन का भी मित्र था और पास में बैठा हुआ था, कहने लगा। यहाँ पर बाण ने वृद्ध सेनापति के व्यक्तित्व का अच्छा चित्र खींचा है। 'उसकी देहयष्टि सालवृक्ष की तरह लम्बी और हरताल की तरह गोरी थी। उसकी आयु बहुत अधिक हो चुकी थी, किन्तु वृद्धावस्था भी मानों उससे डर रही थी। उसके केश श्वेत थे। भौंहें लटककर आँखों पर आ गई थीं। भीमाकृति मुख के सफेद गलगुच्छे गालों पर छाये हुए थे। झालदार दाढ़ी सफेद चँवर की तरह लगती थी। चौड़ी छाती पर घावों के बड़े-बड़े निशान थे। वह ऐसी जान पड़ती थी, मानों पर्वत पर टाँकी से लेखों (वर्णाक्षरों) की लम्बी-चौड़ी पंक्तियाँ खोद दी गई हों।[4]

---

१. कुन्तलं नाम बृहदश्ववारं राज्यवर्द्धनस्य प्रसादभूमिम् (१८६)।

२. हर इव कृतभैरवाकारः, हरिरिव प्रकटितनरसिंहरूपः (१८७)।

३. तादृशाः कुवैकटिकाः इव तेजस्विरत्नविनाशकाः कस्य न वध्याः (१८८)। रत्नतराशी के सम्बन्ध में बाण का यह उल्लेख मूल्यवान् है। इससे मालूम होता है कि राजा लोग

समुद्र-भ्रमण द्वारा उसने सब जगह से धन खींचकर जमा किया था।[1] वह सेनापति की समस्त मर्यादाओं का पालन करनेवाला था : वाहिनीनायकमर्यादानुवर्तिना। राजा का भार उठाने से वह घुट-पिटकर मजबूत हो गया था।[2] दुष्ट राजाओं को वश में करने के लिए वह नागदमन नामक शस्त्र की तरह था, जो दुष्ट हाथियों को वश में करने के लिए प्रयुक्त होता है। वीरगोष्ठियों का वह कुलपुरोहित था। वह शूरों का तुलादण्ड, शस्त्रसमूह का ज्ञाता, प्रौढ वचन कहने में समर्थ, भागती हुई सेना को रोककर रखनेवाला, बड़े-बड़े युद्धों के मर्म को जाननेवाला और युद्धप्रेमियों को खींच लाने के लिए आघोषणा-पटह के समान था (१८६-१६०)।

सिंहनाद ने अनेक प्रकार से हर्ष में वीरता का भाव उत्पन्न करने का प्रयत्न किया और कहा—'अकेले गौडाधिपति की क्या बात है? आपको तो अब ऐसा करना चाहिए, जिससे किसी दूसरे की हिम्मत इस तरह का आचरण करने की न हो। जिस मार्ग पर तुम्हारे पिता-पितामह-प्रपितामह चले हैं, त्रिभुवन में श्लाघनीय उस मार्ग का परित्याग मत करो। जो झूठे विजिगीषु सारी पृथिवी को जीतने की लालसा से उठ खड़े हुए हैं, उन्हें ऐसा कर दो कि उनके अंतःपुर की स्त्रियाँ गहरी साँस छोड़ने लगें। सम्राट् के स्वर्गवासी हो जाने पर एवं राज्यवर्द्धन के दुष्ट गौडाधिप द्वारा डस लिये जाने से जो महाप्रलय का समय आया है, उसमें तुम्हीं शेषनाग की भाँति पृथ्वी को धारण करने में समर्थ हो। शरणहीन प्रजाओं को धैर्य बँधाओ और उद्धत राजाओं के मस्तक दाग कर पैरों के निशान अंकित कर दो।[3] पिता के मारे जाने पर अकेले परशुराम ने दृढ निश्चय से इक्कीस बार समस्त राज्यवंशों का उन्मूलन किया था। देव भी अपने शरीर की कठोरता और वज्रतुल्य मन से मानियों में मूर्द्धन्य हैं, तो आज ही प्रतिज्ञा करके नीच गौडाधिप के नाश के लिए अचानक सैनिक कूच की सूचक झंडी के साथ धनुष उठा लीजिए' (१६१-१६३)।

हर्ष ने उत्तर दिया—'आपने जो कहा है, वह अवश्य ही करणीय है। जबतक अधम चंडाल दुष्ट गौडाधिप जीवित रहकर मेरे हृदय में काँटे की तरह चुभ रहा है, तबतक मेरे लिए नपुंसक की तरह रोना-धोना लज्जास्पद है। जबतक गौडाधम की चिता से उठता हुआ धुआँ मैं न देखूँ, तबतक मेरे नेत्रों में आँसू कहाँ? तो मेरी प्रतिज्ञा सुनिए—'आर्य

---

१. अभ्रभ्रमणेनानादरश्रोसमाकर्षणविभ्रमेण मन्दरमपि मन्दयन् (१८६)।

२. ईश्वरभारोद्वहन्घृष्टपृष्ठतया हरवृषभमपि हसन्निव (१८६)।

३. क्ष्मापतीनां शिरःसु ललाटन्तपान् प्रयच्छ पादन्यासान् (१६३)। मस्तक पर पैरों के निशान का दिखाई पड़ना अत्यन्त दुर्भाग्य का लक्षण समझा जाता था। मथुरा-कला में प्राप्त एक मस्तक पर इस प्रकार पादन्यास अंकित पाये गये हैं। वह मूर्ति किसी दुर्भाग्य-देवता की रही होगी। बाण ने स्वयं आगे लिखा है—चूडामणिषु चक्रशङ्खकमललाञ्छनाः।

त्रिकूट, पश्चिम में अस्तगिरि और उत्तर में गन्धमादन तक के सब राजा कर-दान के लिए, सेवा-चामर अर्पित करने के लिए, प्रणाम के लिए, आज्ञाकरण के लिए, पादपीठ पर मस्तक टेकने के लिए, अंजलिबद्ध प्रणाम के लिए, भूमि त्यागने के लिए, वेत्रयष्टि लेकर प्रतिहार का कार्य करने के लिए और चरणों में प्रणाम करने के लिए तैयार हो जायें अथवा युद्ध के लिए कटिबद्ध रहें। लो, मैं अब आया।'

महासन्धिविग्रहाधिकृत का पद शासन में अत्यन्त उच्च था और गुप्तकाल से ही उसका उल्लेख मिलने लगता है। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में महादंडनायक हरिषेण को सांधिविग्रहिक कहा गया। गुप्तकाल के बाद भी शासन में यह पद जारी रहा। एक प्रकार से इसका कार्य विदेशमन्त्री जैसा था। शुक्रनीति में भी इसका उल्लेख है।

हर्ष की जो प्रतिज्ञा बाण ने यहाँ दी है, वह उस युग में पृथ्वी के जयार्थ दंडयात्रा करनेवाले विजिगीषु राजाओं की घोषणा जान पड़ती है। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में उसकी विजय-यात्रा को 'सर्वपृथ्वीविजय' का नाम दिया गया है एवं उसमें राजाओं के साथ करदान, आज्ञाकरण, प्रणामागमन, प्रसभोद्धरण, परिचारिकीकरण आदि जिन नीतियों का वर्णन किया गया है, उन्हीं का उल्लेख हर्ष की प्रतिज्ञा में बाण ने किया है। बाण ने प्रणाम करने के चार दर्जे कहे हैं--१. केवल सिर झुकाकर प्रणाम करना (नमन्तु शिरांसि) २ अंजलिबद्ध प्रणाम करना (घटन्तामञ्जलयः), ३. सम्राट् के चरणों तक सिर झुकाकर प्रणाम करना (सुदृष्टः क्रियतामात्मा मच्चरणनखेषु), ४. चरण की धूल अपने मस्तक पर चढ़ाना (शेखरीभवन्तु पादरजांसि), जिसमें सम्भवतः सिर को पादपीठ या पृथ्वी पर छुलाकर प्रणाम करना पड़ता था। परिचारक बनने या सेवा के भी दो प्रकार थे—१. चँवर डुलाना, जिसको बाण ने सेवाचामर अर्पित करना भी कहा है,[1] और २. हाथ में वेत्रयष्टि लेकर दरबार में प्रतिहार का काम करना।

इसी प्रसंग में बाण ने सर्वद्वीपान्तरसंचारी पादलेप का उल्लेख किया है, अर्थात् पैरों में लगाने का ऐसा मरहम, जिसकी शक्ति से सब द्वीपान्तरों में विचरण करने की शक्ति प्राप्त हो (१८४)। जिस युग में द्वीपान्तरों की यात्रा करने की चारों ओर धूम थी, उसी युग में इस प्रकार के पादलेप की कल्पना की गई होगी।

इस प्रकार, अपने निश्चय की घोषणा करके वह बाह्य आस्थान-मंडप से उठा (मुक्तास्थान, १९४), सब राजाओं को विदा किया एवं स्नान करने की इच्छा से सभा को छोड़कर

---

१. कैश्चित्सेवाचामराणीवार्पयद्भिः, दूसरा उच्छ्वास, हर्ष के राजद्वार में उपस्थित भुजनिर्जित शत्रुमहासामन्त (६०)।

के समीप में बने हुए स्नानगृह में जाते थे। बाह्य आस्थान-मंडप या दरबार को केवल आस्थान (१८६), आस्थान-मंडप अथवा आस्थान-भवन (का० वै० १५), महास्थान-मंडप (१७२) या सभा (१६४) भी कहा जाता था।

वहाँ से उठकर हर्ष ने समस्त आह्निक कृत्य किया। प्रतिज्ञा के फलस्वरूप उसका मन स्वस्थ के समान हो गया था। स्नान-भोजनादिक से निवृत्त हो वह प्रदोषास्थान में थोड़ी देर बैठा और फिर शयनगृह में गया। प्रदोषास्थान, अर्थात् रात्रि के समय भोजनादि से निवृत्त होने के बाद बैठने का एक मंडप था। धवलगृह में इसके निश्चित स्थान का संकेत नहीं किया गया; किन्तु दो सम्भावनाएँ हो सकती हैं या तो भुक्तास्थान-मंडप (दरबार-ए-खास) ही, जो धवलगृह से मिला हुआ उसके पीछे होता था, प्रदोषास्थान का काम देता था; अथवा इससे अधिक सम्भव यह है कि धवलगृह के ऊपरी तल्ले में जो चन्द्रशालिका थी, वही प्रदोषास्थान के काम आती हो। यहीं से उठकर राजा उसी तल्ले में सामने की ओर बने हुए अपने शयनगृह में सरलता से जा सकते थे, जैसा कि हर्ष के लिए यहाँ कहा गया है—'प्रदोषास्थान में वह अधिक न ठहरा। उठकर निजी शयनगृह में गया, जहाँ परिजनों के जाने की भी पाबन्दी थी। वहाँ बिछे हुए शयनतल पर अंगों को ढीले छोड़कर पड़ रहा': प्रदोषास्थाने नातिचिरं तस्थौ....प्रतिषिद्धपरिजनप्रवेशश्च शयनगृहं प्राविशत् (१६५)। रानी का वासभवन (१२७), जिसकी भित्तियों पर चित्र बने थे और राजा का शयनगृह दोनों धवलगृह के ऊपरी तल्ले में एक साथ ही होने चाहिए। प्रदोषास्थान में अनेक दीपिकाओं के जलने का उल्लेख है, किन्तु शयनगृह में एक ही दीपक का वर्णन किया गया है।

अगले दिन प्रातःकाल होने पर उसने प्रतीहार को आज्ञा दी—'मैं गजसाधनाधिकृत स्कन्दगुप्त से मिलना चाहता हूँ।' स्कन्दगुप्त का उल्लेख हर्ष के बाँसखेड़ा-ताम्रपत्र में भी आया है, जहाँ उन्हें 'महाप्रमातार महासामन्त श्रीस्कन्दगुप्त' कहा गया है। बाण के उल्लेख से विदित होता है कि हर्ष की बड़ी हाथियों की सेना का अधिकार भी स्कन्दगुप्त को ही सौंपा गया था।

स्कन्दगुप्त उस समय अपने मन्दिर में था। ताबड़तोड़ कई आदमी उसे बुलाने पहुँचे। अतएव, अपनी हथिनी की प्रतीक्षा किये विना ही वह पैदल राजकुल के लिए चल पड़ा। उसके चारों ओर गजकटक का शोर हो रहा था। उसकी आकृति से महाधिकार टपकता था और स्वाभाविक कठोरता के कारण वह निरपेक्ष होते हुए भी हुक्म देता-सा

---

१. भुक्तास्थानः विसर्जितराजलोकः स्नानारम्भकाङ्क्षा सभामत्याक्षीत्, (१६४)। कादम्बरी में भी शूद्रक के विषय में ठीक यही वर्णन किया गया है—मध्याह्नशङ्खध्वनिरुदतिष्ठत् तमाकर्ण्य च समासन्नस्नानसमयः विसर्जितराजलोकः क्षितिपतिरास्थानमण्डपादुत्तस्थौ (वैद्य०, पृ० १३)।

लम्बा था। लम्बे केश स्वभाव से घुँघराले थे और उनकी लटें बाललता के प्रतानों की तरह छल्लेदार थीं। इसी प्रकार की बबरियाँ भी उसकी गरदन पर पीछे फैली हुई थीं : स्वभावभङ्गुरकुन्तलबालवल्लरीवेल्लितबर्बरक (१९७)। स्वामी के प्रसाद से ऊँचा उठा हुआ स्कन्दगुप्त राजकुल में प्रविष्ट हुआ। उसने दूर से ही पृथ्वी पर दोनों हाथ और मौलि रखकर हर्ष को प्रणाम किया।

इस प्रसंग में बाण ने हाथियों की सेना और उसमें नियुक्त अधिकारियों का विस्तृत वर्णन किया है। हर्ष के स्कन्धावार में जब बाण ने प्रवेश किया था, तभी उसने राजद्वार के बाहर हाथियों का बाड़ा देखा था। उस वर्णन में (५८) सेना के लिए हाथियों को प्राप्त करने के भिन्न-भिन्न स्रोतों का उल्लेख किया गया है। श्युआन् च्युआङ् के अनुसार हर्ष की सेना में ६० सहस्र हाथी थे। बाण ने उसे अनेक अयुत या दस सहस्र हाथियों से युक्त सेना (अनेक नागायुतबल, ७६) कहा है। प्रस्तुत प्रकरण में उस सेना के विभिन्न अंगों के संगठन पर प्रकाश डाला गया है।

हाथियों के पकड़ने के लिए (वारणबन्ध) बहुत-से लोग पहाड़ी जंगल में चारों तरफ किनारे से घेरा बना लेते और मण्डल को क्रमशः सिकोड़ते हुए हाँका करते थे। यों हाँके के द्वारा खेदकर हाथियों को पकड़ने की प्रथा बहुत पुरानी थी। इस प्रकार का खेदा हर्ष की गजसेना के लिए विन्ध्याचल के जंगलों में होता था। वही एक बड़ा जंगल हर्ष के लिए सुलभ था। हाँका करनेवाले लोग हाथ में ऊँचा बाँस लिये रहते, जिसके सिरे पर मोर के पंख बाँध लेते थे। पंखों में बने चंदों पर पड़नेवाली चमक हाथियों को भयभीत करती थी। इस प्रकार, वारणबन्ध के लिए काम करनेवाले लोगों के समूह को अनायतमण्डल (जिसका घेरा सिमटकर छोटा होता जाता था) कहा गया है। इस समय उनके मुखिया लोग गजसाधनाधिकृत स्कन्दगुप्त के सामने भागते हुए चल रहे थे।[3]

इसके अतिरिक्त हाथियों को फँसाने का दूसरा उपाय फुसलावा देनेवाली हथिनियों द्वारा था, जिन्हें 'गणिका' कहते थे। उनमें जो हथिनी फँसाने में बहुत होशियार और अपने काम में सिद्ध हो जाती थीं, वे 'कर्मण्यकरेणुका' कहलाती थीं। गणिका-हथिनियों के अधि-

---

१. यह उपमा गजशाला में आमने-सामने गड़े हुए पत्थर के आलान-खम्भों की दो पंक्तियों से ली गई है।

२. ईषदुत्तुङ्गलम्बेन अधरबिम्बेन नवपल्लवकोमलेन कवलेनेव श्रीकरेणुकां विलोभयन्निव (१९६)। निचले होठ की यह विशेषता उस युग का शौक था। अजन्ता के चित्रों में इसका स्पष्ट अंकन किया गया है, दे० औंधकृत अजन्ता-फलक ६१, ७८; वज्रपाणि बुद्ध, गुफा १। पत्थर की मूर्त्तियों में भी यह बात पाई जाती है।

३. उच्छ्रितशिखिपिच्छलाञ्छितवंशलतावनगहनगृहीतदिशायामैः विन्ध्यवनैरिव वारणा-

कारी बहुत दिनों से कटक में आकर प्रतीक्षा कर रहे थे। जब उन्हें अवसर मिला, तब वे हाथी फुसलाने में चतुर अपनी हथिनियों के करतब हाथ उठाकर सुनाने लगे।[1]

हाथी प्राप्त करने के लिए तीसरा उपाय यह था कि अटवीपाल या आटविक राजा स्वयं नये-नये हाथियों को पकड़कर सम्राट् की सेना के लिए भेजते रहते थे। संभवतः, सम्राट् के साथ उनका यही समझौता था। अटवीपाल को ही यहाँ अरण्यपाल कहा गया है और राजद्वार के वर्णन में उन्हें ही पल्लीपरिवृढ, अर्थात् शबर-बस्तियों के स्वामी कहा है। आटविक लोग भी नये पकड़े हुए गजयूथों के साथ हाथ में ऊँचे अंकुश लिये कटक में उपस्थित थे (१६६)।

हाथी प्राप्त करने का चौथा स्रोत हाथियों के लिए विशेष रूप से सुरक्षित जंगल था, जो नागवन कहलाता था। कौटिल्य ने हस्त्यध्यक्ष के लिए विशेष रूप से हस्तिवन की रक्षा का भार सौंपा है (अर्थशास्त्र २।३१)।[2] नागवन में जंगली हाथी राजा के शिकार के लिए विशेषतः रखाये जाते थे। अशोक ने पंचम स्तम्भ-लेख में यह स्पष्ट आदेश दिया है कि अमुक-अमुक दिनों में (तीन चातुर्मासी, तिष्य नक्षत्र की पूर्णिमा और प्रत्येक मास की चतुर्दशी, पूर्णिमा और प्रतिपद् को) नागवन में जीव-वध नहीं किया जायगा।[3] नागवन को शिकार की सुविधा के लिए प्रायः अलग-अलग वीथियों में बाँट लिया जाता था और प्रत्येक वीथी पर एक अधिकारी नियुक्त होता था, जिसे नागवनवीथीपाल (१६६) या केवल नागवीथीपाल कहते थे। नागवन में किसी नये झुंड के देखे जाने की सूचना तुरन्त दरबार में भेजने का आदेश था। अतएव, नागवीथीपालों के भेजे हुए दूत अभिनव गजसमूह के संचरण की खबर देने के लिए कटक में आये हुए थे।[4]

इतने हाथियों को खिलाना राज्य के लिए बड़ा भारी सिरदर्द रहा होगा। उनके लिए चारा जुटाने में प्रजाओं का दिवाला पिट जाता था। बाण ने स्पष्ट लिखा है कि कटक में एक-एक क्षण हाथियों के लिए चारे की बाट देखी जाती थी (प्रतिक्षणप्रत्यवेक्षितकरिकवलकूटैः, १६६)। निश्चय ही जो आता होगा, वह तुरन्त सफाचट्ट हो जाता होगा। इसके लिए राज्य ने झुंड-के-झुंड डंडा रखनेवाले प्यादे (कटक-कदम्बक)[5] छोड़ रखे थे,

---

१. गणिकाधिकारिगणैः चिरलब्धान्तरैः उच्छ्रितकरैः कर्मण्यकरेणुकासङ्कथनाकुलैः (१६६)।

२. अर्थशास्त्र के अनुसार जंगल दो प्रकार के थे, द्रव्यवन (लकड़ी आदि के लिए) और नागवन (केवल हाथियों के लिए)। द्रव्यवनपाल और हस्तिवनपाल, दोनों का वार्षिक वेतन ४०० कार्षापण था।

३. एतानि येव दिवसानि नागवनसि केवटभोगसि यानि अंनानि पि जीवनिकायानि नो हन्तवियानि—पंचमस्तम्भ-लेख, रामपुरवा।

४. अभिनवगजसाधनसञ्चरणवार्तानिवेदनविसर्जितैश्च नागवनवीथीपालदूतवृन्दैः (१६६)।

जो हर गाँव, नगर और मंडी में चारा, भूसा और करब का संग्रह करके उनको खिलाते रहते थे।[1] [चित्र ६१]

इतने हाथियों को जमा कर लेने पर सेना के लिए उन्हें शिक्षित बनाने का काम था। इसके लिए महामात्रसंज्ञक अधिकारी नियुक्त थे। उन्हें ही अर्थशास्त्र में अनीकस्थ कहा गया है। उनका महामात्र नाम सकारण था। हाथियों की परिचर्या के लिए जितने अधिकारी और सेवक नियुक्त थे, महामात्रों का पद उन सबमें बड़ा था।[2] अर्थशास्त्र ने भी हाथियों की परिचर्या के लिए चिकित्सक के अतिरिक्त जो दस सेवक कहे हैं, उनमें अनीकस्थ सबसे मुख्य है।

महामात्रों के कार्य के विषय में बाण ने लिखा है कि वे चमड़े का भरा हुआ हाथी का पुतला (चर्मपुट) तैयार करके उसके द्वारा हाथियों को युद्ध की शिक्षा देते थे।[3]

सैनिक कार्य के अतिरिक्त हाथी सवारी के काम में भी आते थे। उन्हें कौटिल्य ने औपवाह्य कहा है। औपवाह्य हाथियों को तरह-तरह की चालों में निकाला जाता था। इनमें सबसे मुख्य धोरणगति या दुलकी चाल थी। धोरण चाल की शिक्षा देनेवाले अधिकारी आधोरण कहलाते थे। अर्थशास्त्र में भी आधोरण परिचारकों का उल्लेख है। आधोरण लोग स्वभावतः हरी घास की मूठ देकर हाथियों को परचाते थे : हरितघासमुष्टीश्च दर्शयद्भिः (१९६)। वस्तुतः, आधोरण अच्छे-अच्छे हाथी प्राप्त करके उन्हें बढ़िया चाल पर निकालने के लिए बड़े उत्सुक रहते थे; इसलिए बाण का यह कथन उपयुक्त है कि वे लोग नये पकड़े हुए हाथियों के झुंड में जो गजपति या मुख्य हाथी होते, उन्हें विशेष रूप से माँगते थे और जब उस तरह के मनचाहे मत्त गयन्द उन्हें मिलते, तब वे बहुत खुश होते थे। आधोरण लोग स्कन्दगुप्त को दूर हटकर प्रणाम कर रहे थे। वे यह भी बताने के लिए उत्सुक थे कि उन्हें मिले हुए हाथियों में से किस-किसके मद फूट निकला था, अर्थात् कौन मदागम के योग्य यौवनदशा प्राप्त कर चुके थे।[4] जो हाथी बड़ी अवस्था प्राप्त होने पर जलूस के लिए चुन लिये जाते थे, उनपर डिंडिम या धौंसा रखने का विशेष संस्कार किया जाता था। विशेष अवसरों पर उनसे जलूस का काम लिया जाता था, अन्यथा काम से उनकी छुट्टी थी। आधोरण लोग ऐसे हाथियों के लिए डिंडिमाधिरोहण की विनती कर रहे थे।

---

१. प्रतिक्षणप्रत्यवेक्षितकरिकवलकूटैः कटभङ्गसङ्ग्रहं ग्रामनगरनिगमेषु निवेशमानैः कटकक‌दम्बकैः (१९६)।

२. मात्रा=पद, शक्ति; महा=बड़ा। महामात्र से ही हिन्दी महावत बना है। इस समय इस शब्द के मूल अर्थ का उसी प्रकार ह्रास हो गया है, जैसे स्थपति से थवई (राज) और वैकटिक से वेगड़ी शब्दों के सम्बन्ध में हुआ है।

३. महामात्रपेटकैश्च प्रकटितकरिकर्मचर्मपुटैः। करिकर्म = करिणां युद्धशिक्षा; चर्मपुटः= चर्मकृतः हस्त्याकारः (शंकर)।

इस प्रकार के अन्य परिचारकों का उल्लेख करते हुए बाण ने उन्हें कर्पटी कहा है। कर्पट का अर्थ चीरिका या कपड़े का फीता है। इसे ही बाण ने अन्यत्र पटच्चर कर्पट भी कहा है (५२)।[1] शिर से पटच्चर कर्पट या चीरा बाँधे हुए हाथियों के परिचारक अजन्ता के चित्रों में मिलते हैं।[2] कर्पट का अलंकरण (अं० रिबन डेकोरेशन) सिर पर बाँधने का अधिकार सेवा से सन्तुष्ट प्रभु के प्रसाद से व्यक्तिविशेष को प्राप्त होता था। गज-जातक के चित्र में (अजन्ता, गुफा १७) प्रासयष्टि लिये हुए आगे चलनेवाले तीन पैदल एवं हाथ में रस्सी लिये हुए अन्य पैदल के सिर पर चीरा बँधा है, किन्तु उसी के बराबर में रस्सी का दूसरा सिरा थामे हुए व्यक्ति के बालों में इस प्रकार का चीरा नहीं है। अवश्य ही इसका कारण वही है, जिसका बाण ने उल्लेख किया है अर्थात्, नौकरी के दौरान में प्रभु-प्रसाद से व्यक्तिविशेष को इस प्रकार का सम्मानित चीरा पहनने का अधिकार मिलता था : प्रभुप्रसादीकृतपाटितपटच्चर (२१३)। यह वर्णन इस प्रकार के सेवकों के लिए ही आया है [चित्र ६२]।

हाथियों के इस वर्णन में ये कर्पटी कौन-से विशेष परिचारक थे, इसका भी निश्चय स्वयं बाण की सहायता से किया जा सकता है। दर्पशात के वर्णन में लेशिक-संज्ञक परिचारकों का उल्लेख आया है (६५)। लेशिक का अर्थ शंकर ने घासिक किया है। पृष्ठ २१२ पर बाण ने घासिकों के लिए ही प्रभु-प्रसाद से चीरा (पाटितपटच्चर) प्राप्त करने की बात कही है। अतएव, यह स्पष्ट है कि कर्पटी से बाण का तात्पर्य हाथियों को घास, दाना, रातिब देनेवाले नौकरों से है। कौटिल्य के विधापाचक ये ही हो सकते हैं।

कर्पटी या घास-चारा देनेवाले परिचारकों के बारे में कहा गया है कि अपने काम में भूल हो जाने के कारण दंडस्वरूप उनके हाथी ले लिये गये थे। इस दुःख से वे दाढ़ी-बाल बढ़ाये आगे-आगे चल रहे थे।[3] हाथियों को कम या खराब चारा देने की भूल के दंडस्वरूप वे काम से छुड़ा दिये जाते थे।

कुछ लोग इस काम की नौकरी के लिये नये भी आये हुए थे और वे काम पर लगाये जाने की खुशी में दौड़ रहे थे।[4]

कौटिल्य ने अनीकस्थ और आधोरण के बीच में आरोहक नाम के कर्मचारियों का उल्लेख किया है। हर्ष के समय तक ये विशेष परिचारक बराबर नियुक्त किये जाते थे। बाण ने उन्हें आरोह कहा है।[5] नियमित रूप से अलंकृत हाथियों की सवारी के समय जो लोग चलाते थे, उनकी संज्ञा आरोहक थी। उनका पद महामात्र से नीचा और आधोरण से ऊपर था। अर्थशास्त्र में आधोरण के बाद हस्तिप-संज्ञक एक और कर्मचारी का उल्लेख है, जिसका काम सवारी के अतिरिक्त समय में हाथियों को टहलाना, चलाना आदि था।

---

१. लेखहारक मेखलक के वर्णन में पृष्ठप्रेङ्खत्पटच्चरकर्पटघटितगलितग्रन्थिः (५२)।

हाथियों के चिकित्सक का उल्लेख है। बाण ने भी प्रस्तुत प्रसंग में इभभिषग्वर का सर्वप्रथम उल्लेख किया है। गजसाधनाधिकृत स्कन्दगुप्त उनसे खास-खास रुग्ण हाथियों के विषय में पूछ रहे थे कि पिछली रात उनका क्या हाल रहा।[1]

सब प्रकार के सिंगार-पटार से सजाई हुई हथिनी, जिसे जलूस में बिना सवारी के निकालते थे, श्रीकरेणुका कहलाती थी (१६६)।

स्कन्दगुप्त सम्राट् से कुछ दूर हटकर बैठ गया। हर्ष ने उससे कहा—'हमने जो निश्चय किया है, वह आपने विस्तार से सुन लिया होगा। अतः, शीघ्र ही प्रचार के लिए बाहर गई हुई गजसेना को स्कन्धावार में लौटने की आज्ञा दी जाय।[2] अब कूच में थोड़ा भी विलम्ब न होगा।'

यह सुनकर स्कन्दगुप्त ने प्रणाम किया और प्रमाद-दोष से राजाओं पर आनेवाली विपत्तियों का विस्तृत वर्णन किया।[3] इसमें निम्नलिखित सत्ताईस राजाओं के दृष्टांत लिये गये हैं—पद्मावती (पवाया) के नागवंशी राजा नागसेन, श्रावस्ती के श्रुतवर्मा, मृत्तिकावती के सुवर्णचूड, कोई यवनेश्वर, मथुरा के बृहद्रथ, वत्सराज उदयन, अग्निमित्र के पुत्र सुमित्र,

---

१. हाथियों के परिचारकों की, कौटिल्य और बाण के अनुसार, तुलनात्मक सूची इस प्रकार है :

कौटिल्य	बाण
१. चिकित्सक	१. इभभिषग्वर
२. अनीकस्थ	२. महामात्र
३. आरोहक	३. आरोह
४. आधोरण	४. आधोरण
५. हस्तिपक	५. निषादी
६. औपचारिक	६. —
७. विधापाचक	७. कर्पटी, लेशिक
८. यावसिक	८. —
९. पादपाशिक	९. —
१०. कुटीरक्षक	१०. —
११. औपशायिक	११. —

२. शीघ्रं प्रवेश्यन्तां प्रचारनिर्गतानि गजसाधनानि (१६७)। शंकर ने प्रचार का अर्थ भक्षण, अर्थात् चरना किया है। कौटिल्य के समय से ही हस्तिप्रचार पारिभाषिक शब्द था, हाथियों की सब प्रकार की शिक्षा हस्तिप्रचार का अर्थ था।

३. बाण में राजाओं की दो प्रकार की सूचियाँ हैं, एक तो प्रमाददोष से व्यसनप्राप्त २८ राजाओं की (प्रमाददोषाभिषङ्गवार्त्ता, १६८), और दूसरी २० राजाओं की सूची, जिनके चरित्र में कुछ-न-कुछ कलंक था (८७—६०)। पहली सूची बाण की मौलिक है। दूसरी पुराने समय से चली आती थी। कौटिल्य ने इस प्रकार के अवश्येन्द्रिय राजाओं के १२ उदाहरण दिये हैं (अर्थशास्त्र १।६)। सुबन्धुकृत वासवदत्ता, कामन्दकीयनीतिसार,

... मौखरि क्षत्रवर्मा, शकपति
काशिराज महासेन, अयोध्या के राजा जारूथ, सुह्म के राजा देवसेन, वैरन्त के राजा रन्तिदेव, वृष्णि विदूरथ, सौवीर के राजा वीरसेन एवं पौरव राजा सौमक। बाण ने यह लम्बी

---

१. डॉ० डी० आर० भंडारकर ने इस वाक्य की व्याख्या करते हुए ठीक पाठ इस प्रकार माना है—आश्चर्यकुतूहली च दण्डोपनतयवननिर्मितेन नभस्तलयायिना यन्त्रयानेनानीयत क्वापि काकवर्णः शैशुनागिः नगरोपकण्ठे कण्ठश्चास्य निचकृते निस्त्रिंशेन। काश्मीर-पाठ में भी दो वाक्यों को मिलाकर एक ही वाक्य माना है और वही ठीक है। अर्थ इस प्रकार होगा—'अचरज की बातों में कुतूहल दिखानेवाला शिशुनाग-पुत्र काकवर्ण युद्ध में जीतकर लाये हुए यवन से निर्मित अकाशगामी यंत्रयान में उड़ाकर कहीं दूर पर किसी नगर नामक राजधानी के बाहर ले जाया गया और वहाँ तलवार से उसका कंठ काट दिया गया।' श्रीभंडारकर का विचार है कि यवन से तात्पर्य हखामनि-वंश के ईरानी लोगों से है, जिनका गन्धार पर राज्य था। शिशुनाग-पुत्र काकवर्ण ने उस शासन का अन्त किया और कुछ यवनों को जीतकर अपने यहाँ लाया। उनमें से एक ने आश्चर्यकारी उड़नेवाला वायुयान बनाया और उसपर राजा को बैठाकर वह 'नगर' या जलालाबाद के पास जहाँ गंधार की राजधानी थी, ले गया और उसे मार डाला। यह अर्थ समीचीन ज्ञात होता है। सम्भवतः, इसमें दारा प्रथम के गंधार पर ईरानी साम्राज्य के अन्त कर देने की ऐतिहासिक घटना की कोई अनुश्रुति छिपी है। (भंडारकार, नोट्स ऑन एंश्येंट हिस्ट्री ऑव इंडिया, भाग १, पृ० ६६—६०)।

२. हर्षचरित के इस अंश पर डॉ० डी० आर० भंडारकर ने नया प्रकाश डालते हुए लिखा है कि जब बृहद्रथवंश का विस्तृत साम्राज्य उत्तरभारत से अस्त हो गया, तब अवन्ति में वीतिहोत्रों का शासन था। वीतिहोत्र तालजंघों में से थे। तालजंघ कार्त्तवीर्य सहस्राजुन का पौत्र था। वीतिहोत्रों के सेनापति पुणक ने राजा को मारकर अपने पुत्र प्रद्योत (चण्डप्रद्योत) को अवन्ति का राजा बनाया। पर, वह अग्नि धधकती रही और वीतिहोत्रों के सहयोगी तालजंघ-वंश के किसी व्यक्ति ने महाकाल के मंदिर में अवसर पाकर पुणिक के पुत्र और प्रद्योत के छोटे भाई कुमारसेन को मार डाला। दन्तकथा ने इस तालजंघ को वेताल बना दिया है। अतिप्राचीन काल में महाकाल के मन्दिर में महामांस-विक्रय या नरबलि होती थी। उसी से लाभ उठाकर तालजंघ अपने षडयन्त्र में सफल हुआ। (इंडियन कल्चर, भाग १, (१६३४, पृ० १३-१५; और भी श्रीसीतानाथ प्रधान, आशुतोष मुकर्जी सिलवर जुबली वाल्यूम, ओरिटेलिया, भाग ३, पृ० ४२५-२७); 'पुणिक के पुत्र प्रद्योत के छोटे भाई कुमारसेन को, जब वह महाकाल के उत्सव में महामांस-विक्रय के सम्बन्ध में वाद-विवाद कर रहा था, किसी तालजंघ-वंश के पुरुष ने वेताल का रूप धरकर मार डाला।'

३. चकोर—श्रीसिलवाँ लेवी ने लिखा है कि लाट देश (Larike) में जहाँ चष्टन (Tiastancs) का राज्य था, उज्जयिनी राजधानी से दक्षिण-पश्चिम में 'चकोर' था (यूनानी Tiagaura), जो गौतमीपुत्र के राज्य में था। गौतमीपुत्र शातकर्णी से दो पीढ़ी पहले वहाँ चकोर शातकर्णी की राजधानी थी। उसका नाम चन्द्रकेतु ज्ञात होता है।

सूची अपने पूर्वकालीन ऐतिहासिक प्रवादों के आधार पर, जो सातवीं शती में प्रचलित थे, प्रस्तुत की है। इस सूची के विषय में यह बात ध्यान रखने की है कि इसमें कल्पना का स्थान नहीं जान पड़ता। हमारे प्राचीन इतिहास की परिमित जानकारी के कारण इनमें से कुछ ही नामों की पहचान अबतक हो सकी है। शिशुनागवंश, वत्सवंश, प्रद्योतवंश, मौर्य-वंश, शुंगवंश, नागवंश, गुप्तवंश आदि, जिनके राजाओं का वर्णन बाण ने किया है, भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध राजकुल हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से जिसपर सबसे अधिक विवाद हुआ है, वह स्त्रीवेश में चन्द्रगुप्त के द्वारा शकपति के मारे जाने का उल्लेख है।[1]

स्कन्दगुप्त स्वामी के आदेश का विधिवत् सम्पादन करने के लिए उठकर बाहर चले गये। इधर हर्ष ने पहले राज्य की सारी स्थिति (प्रबन्ध) ठीक की, और फिर दिग्विजय के लिए सैनिक प्रयाण की आज्ञा दी।[2]

यहाँ बाण ने पुनः काव्यशैली का आश्रय लेकर हर्ष के प्रयाण के फलस्वरूप शत्रुओं में होनेवाले दुर्निमित्तों की एक लम्बी सूची दी है, जिसमें कई नवीनताएँ हैं।

१. यमराज के दूतों की दृष्टि की तरह काले हिरण इधर-उधर मड़राने लगे।

२. आँगन में मधुमक्खियों के छत्तों से उड़कर मधुमक्खियाँ भर गईं। (दे० मत्स्य-पुराण, १६३।५१)।

३. दिन में भी शृगाली मुँह उठाकर रोने लगी।

४. जंगली कबूतर (कानन-कपोत) घरों में आने लगे।

५. उपवन-वृक्षों में अकालपुष्प दिखाई पड़े।

६. सभास्थान (आस्थान-मण्डप) के खम्भों पर बनी हुई शालभंजिकाओं के आँसू बहने लगे।

७. योद्धाओं को दर्पण में अपना ही सिर धड़ से अलग होता हुआ दिखाई पड़ा।

८. राजमहिषियों की चूडामणि में पैरों के निशान प्रकट हो गये।[3]

९. चेटियों के हाथ से चँवर छूटकर गिर गये।

१०. हाथियों के गंडस्थल भौंरों से शून्य हो गये।

११. घोड़ों ने मानों यमराज के महिष की गन्ध से हरे धान का खाना छोड़ दिया।

१२. झनझन कंकण पहने हुए बालिकाओं के ताल देकर नचाने पर भी मन्दिर मयूरों ने नाचना छोड़ दिया।

१३. रात में कुत्ते मुँह उठाकर रोने लगे।

---

१. चन्द्रगुप्त द्वितीय के बड़े भाई रामगुप्त की पत्नी ध्रुवस्वामिनी की याचना शकपति ने की थी, जिसे रामगुप्त ने मान लिया था। किन्तु, चन्द्रगुप्त ने स्त्रीवेष में जाकर शकपति को मार

१४. रास्ते में कोटवी या नंगी स्त्री घूमती हुई दिखाई पड़ी।[1] केशव के अनुसार कोटवी अम्बिका का एक रूप था।[2] वस्तुतः, कोटवी दक्षिणभारत की मूल देवी कोट्टवै थी, जिसका रूप राक्षसी का था। पीछे वह दुर्गा या उमा के रूप में पूजी जाने लगी। सम्भव है, उत्तरी भारत में उसका परिचय गुप्तकाल में आया होगा। बाण के समय में वह दुर्भाग्य की सूचक मानी जाने लगी थी और उत्तरभारत के लोग भी उससे खूब परिचित हो गये थे। अहिच्छत्रा के कई खिलौनों में तर्जनी दिखाती हुई एक नंगी स्त्री अंकित की गई है, जिसकी मुद्रा से वह कोटवी की आकृति ज्ञात होती है [चित्र ६२]।[3]

१५. महल के फर्शों में घास निकल आई।

१६. योद्धाओं की स्त्रियों के मुख का जो प्रतिबिम्ब मधुपात्र में पड़ता था, उसमें विधवाओं-जैसी एक वेणी दिखाई पड़ने लगी।

१७. भूमि काँपने लगी।

१८. शूरों के शरीर पर रक्त की बूँदें दिखाई पड़ीं, जैसे वधदंड-प्राप्त व्यक्ति का शरीर लाल चन्दन से सजाया जाता है।

१९. दिशाओं में चारों ओर उल्कापात होने लगा।

२०. भयंकर झंझावात ने प्रत्येक घर को झकझोर डाला।

बाण ने १६ महोत्पात (अशुभसूचक प्राकृतिक चिह्न, १६२-१६३), ३ दुर्निमित्त (१५२) और २० उपलिंग कहे हैं, जो अपशकुनों के ही भेद हैं। इन सूचियों में कई अपशकुन समान भी हैं। शंकर ने कानन-कपोत का अर्थ गृध्र किया है। किन्तु, ऋग्वेद में कपोत को यम और निर्ऋति को दूत और उड़ता हुआ बाण (पक्षिणी हेति, १०।१६५।१-४) कहा है। आश्वलायन गृह्यसूत्र (३-७-८) में विधान है कि अगर जंगली कबूतर घर पर

१. हेमचन्द्र ने बाल खोले हुए नंगी स्त्री को कोटवी कहा है (नग्ना तु कोटवी, अभिधान-चिन्तामणि, ३, ९८; टीका—नग्ना विवस्त्रा योषित् मुक्तकेशीत्यागमः, कोटेन लज्जावशाद् याति कोटवी)।

२. कल्पद्रुकोश (१६६० ई०), पृ० ३९८, श्लोक १२७।

३. अहिच्छत्रा के खिलौनों पर मेरा लेख, पृष्ठ १५२, चित्र २०२–२०३। कोटवी देवी की पूजा के जो प्रमाण मुझे बाद में मिले, उनसे तो ज्ञात होता है कि कोटवी की पूजा समस्त उत्तर-भारत में लोकव्यापी है। काशी-विश्वविद्यालय के आस-पास प्राचीन यक्ष और देवी की पूजा के चिह्नों की खोज करते समय कोटमाई का मन्दिर मिला, जो इसी देवी का है। अभी ज्ञात हुआ कि अलमोड़ा जिले में लोहाघाट से बारह मील पर कोटलगढ़ स्थान है।

किंवदन्ती है कि यह कोट्टवी का गढ़ था। कोट्टवी बाणासुर की माता थी। उसका आधा शरीर कवच से ढका हुआ और नीचे का आधा नंगा माना जाता है। कथा है कि एक बार महाबलि के पुत्र बाणासुर दैत्य का विष्णु से युद्ध हुआ। जितने असुर

की मक्खियों का घर में छत्ता लगाना असगुन है। उसी सूत्र के अनुसार (५-५-४) कौए का आधी रात के समय घर में काँव काँव करना अशुभ है। [और भी देखिए, ओमंस ऐंड पोर्टेंएट्स इन वैदिक लिटरेचर, ऑलइंडिया ओरियंटल कान्फ्रेंस, नागपुर, १९४६, पृ० ६५-७१]। महाभारत, भीष्मपर्व में दुर्निमित्तों की लंबी सूची है (२।१७-३३, ३।१—४३)। मत्स्यपुराण, अध्याय १६३ में भी दुर्निमित्त और उत्पातों का विस्तृत वर्णन है।

◉

कुछ दिन बीतने पर हर्ष का सैनिक प्रयाण शुरू हुआ। उसके लिए ज्योतिषियों ने बहुत मेहनत से दण्डयात्रा के योग्य शुभ मुहूर्त्त निकाला। हर्ष की इस यात्रा को बाण ने चार दिशाओं की विजय का नाम दिया है। इसके स्वरूप की कुछ झाँकी पहले हर्ष की प्रतिज्ञा में आ चुकी है। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में जिसे 'सर्वपृथिवीविजय' एवं चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के उदयगिरि लेख में 'कृत्स्नपृथिवीविजय' कहा गया है, वही आदर्श हर्ष की चार दिशाओं की विजय करने की प्रतिज्ञा में है। हर्ष ने विधिपूर्वक चाँदी और सोने के कलशों से स्नान करके भक्तिपूर्वक शिव की पूजा की और अग्निहोत्र किया। ब्राह्मणों को चाँदी-सोने के तिलपात्र बाँटे गये और सोने को पत्रलताओं से अंकित खुर और सींगोंवाली असंख्य गायें दान में दी गई। व्याघ्रचर्म पर भद्रासन बिछाकर उसपर सम्राट् विराजमान हुए।

वराहमिहिर ने वेदी पर व्याघ्रचर्म बिछाकर भद्रासन के ऊपर पुष्यनक्षत्र में सम्राट् के विशेष विधि से बैठने का उल्लेख किया है। भद्रासन सोने, चाँदी और ताँबे में से किसी एक का बनाया जाता था। ऊँचाई के हिसाब से वह तीन प्रकार का होता था। मांडलिक के लिए एक हाथ (१८ इंच), विजिगीषु के लिए सवा हाथ (२२½ इंच) और समस्त राज्यार्थी, अर्थात् महाराजाधिराज के लिए डेढ़ हाथ (२७ इंच) ऊँचा होता था [चित्र ६४]।[1]

हर्ष की स्थिति इस समय विजिगीषु राजा की थी। तत्कालीन राजनीतिक शिष्टाचार के अनुसार चतुरन्त दिग्विजय के उपरान्त विजिगीषु को महाराजाधिराज की पदवी प्राप्त होती थी और तभी वह अपने योग्य सोने के डेढ़ हाथ ऊँचे भद्रासन पर बैठता था।

दिग्विजय के लिए प्रयाण करने के पूर्व जो विधि विधान किया जाता था, उसी का यहाँ उल्लेख है। उसमें सब शस्त्रों की चन्दनादिक से पूजा की गई। और फिर, सम्राट् ने अपने शरीर पर सिर से पैर तक धवल चन्दन का लेप किया। पुनः दुकूल वस्त्रों का जोड़ा पहना, जिसके कोनों पर हंसमिथुन छपे थे: परिधाय राजहंसमिथुनलक्ष्मणीसदृशे दुकूले (२०२)। सिर पर श्वेत फूलों की मुंडमालिका और कानों में मरकत के कर्णाभरण-सदृश सुन्दर दूब का पल्लव धारण किया। हाथ के प्रकोष्ठ में मंगलप्रद कंकण पहना और शासनवलय भी धारण किया।[2] शासनवलय का अर्थ शंकर ने मुद्राकटक किया है। यह वह कड़ा था, जिसमें राजकीय मुद्रा पिरोई रहती थी। इस प्रकार के कटक और मुद्राएँ ताम्रपत्रों में पिरोये हुए कितने ही पाये गये हैं। बाण ने इसे ही अन्यत्र धर्मशासन-कटक कहा है।[3] पुरोहित ने उनके द्वारा पूजित होकर प्रसन्नता से हर्ष के सिर पर शान्ति-जल

---

१. बृहत्संहिता, ४७। ४६-४७। अजन्ता के गुफाचित्रों में अंकित भद्रासन के नमूने के लिए देखिए औंध कृत अजन्ता, फलक ४१।

२. विलग्नस्य सह शासनवलयेन गमनमङ्गलप्रतिसरं प्रकोष्ठे (२०२)।

दंडित या कृपा से वंचित कर चुके थे, उन्हें पुनः प्रसाद दान किया गया, अर्थात् वे फिर से सम्राट् के प्रसाद के पात्र बनाये गये। बाण ने ऐसे व्यक्तियों में तीन तरह के लोगों की गिनती की है—एक कार्पटिक, दूसरे कुलपुत्र और तीसरे लोक। कार्पटिक उस प्रकार के राजकीय कर्मचारी थे, जिन्हें कर्पट या सिर पर चीरा बाँधने का अधिकार था। इस सम्बन्ध में प्रयुक्त कर्पट, पट्टचरकर्पट और चीरिका का अर्थ पहले लिखा जा चुका है। ये तीनों पर्यायवाची शब्द थे। दूसरी श्रेणी में कुलपुत्र थे। यह शब्द उन राजघरानों के लिए प्रयुक्त होता था, जिनका राजकुल के साथ पिता-पितामह के समय से सम्बन्ध चला आता था। उन घरानों के युवक कुलपुत्र कहलाते थे। राजा के प्रति इनकी विशेष भक्ति होती थी और ये सम्राट् के प्रसाद के भागी थे। बाण ने कई जगह कुलपुत्रों का उल्लेख किया है।[२] तीसरी कोटि में लोक, अर्थात् जनता के व्यक्ति थे। किसी कारणवश सम्राट् का कोपभाजन होने पर इन्हें अपने पदगौरव या मान की हानि सहनी पड़ती थी, जिसके लिए क्लिष्ट शब्द का प्रयोग किया गया है: क्लिष्टकार्पटिककुलपुत्रलोकमोचितैः प्रसाददानैः (२०३)। वह प्रसाद के विपरीत अर्थ का द्योतक है।

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है (१७९, १८५), इस समय सर्वपृथ्वी की कल्पना में समग्र भारतवर्ष और द्वीपान्तर के १८ द्वीपों की गणना की जाती थी। उन्हीं अष्टादश द्वीपोंवाली पृथ्वी की विजय के लिए समुद्यत हर्ष की दाहिनी भुजा फड़की। इस प्रकार सब सुनिमित्तों के सामने होने पर प्रजाओं के जय शब्द के साथ वह राजभवन से बाहर निकला। नगर से थोड़ी दूर बाहर सरस्वती के किनारे घास-फूस के बँगले छाकर उस अवसर के लिए एक दूसरा तृणमय राजमंदिर तैयार किया गया था। उसमें ऊँचा तोरण बनाया गया था (समुत्तम्भिततुङ्गतोरण, २०३), वेदी पर सपल्लव हेमकलश रखा हुआ था, वनमालाएँ लटकाई गई थीं, श्वेत ध्वजाएँ फहराई गई थीं, श्वेत वस्त्रों से चेलोत्क्षेप (भ्रमच्छुक्लवाससि) हो रहा था और ब्राह्मण मंगलपाठ कर रहे थे। ऐसे मंदिर के प्रति उसने प्रस्थान किया।[३]

वहाँ ग्रामाक्षपटलिक ने अपने समस्त लेखकों के साथ निवेदन किया—'देव, आपका शासन अव्यर्थ है, अतएव आज ही शासन-दान का आरम्भ करें।'[४] ग्रामाक्षपटलिक गाँव का मुख्य अर्थ-अधिकारी था, जिसे वर्तमान पटवारी समझा जा सकता है। उसके सहायक

---

१. महार्हवाहन।

२. हर्षचरित, पृ० १३०, १५५, १६१, १६५, १९६।

३. घर से बाहर आ जाने पर और वास्तविक यात्रा पर चलने के पूर्व जो कहीं ठहरा जाता है, उसके लिए प्रस्थान शब्द अब भी लोक में चलता है।

४. करोतु देवो दिवसग्रहणमद्यैवावन्ध्यशासनः शासनानाम् (२०३)। दिवसग्रहण=

ग्रामाक्षपटलाधिकृत का उल्लेख है। यह ताम्रपत्र जाली समझा गया है। इसमें जाल बनानेवाले ने अपनी बचत के लिए जिस ग्रामाक्षपटलाधिकृत का नाम दिया है, उसे किसी दूसरे गाँव का बताया है।[1] इससे इतना निश्चित हो जाता है कि ताम्रपत्र में दिये जानेवाले गाँव का पूरा हवाला और तत्सम्बन्धी पूरी जानकारी देने का काम ग्रामाक्षपटलिक का था। अमरकोश में अक्षदर्शक और प्राड्विवाक को पर्यायवाची मानते हुए उसे व्यवहार (अदालत) का निर्णेता कहा गया है।[2] अक्षदर्शक और अक्षपटलिक इन दोनों नामों में अक्ष शब्द का अर्थ रुपये-पैसे का व्यवहार या आय-व्यय है। दिवानी अदालत का न्यायाधीश व्यवहार के मामलों का निर्णय करने के कारण अक्षदर्शक कहा गया है। इसी प्रकार अक्षपटलिक भी वह अधिकारी हुआ, जो गाँव के सरकारी आय व्यय का सब हिसाब रखता था। पटल का अर्थ छत या कमरा है। (अमर, २।२।१४)। अक्षपटल गाँव की राजकीय आय का दफ्तर था, और उसके अधिकारी की संज्ञा अक्षपटलिक थी।

अक्षपटलिक ने नई बनी हुई एक सोने की मुद्रा, जिसपर बैल का चिह्न बना हुआ था, हर्ष के हाथ में दी।[3] सौभाग्य से हर्ष की वृषांक-मुद्रा का एक नमूना सोनीपत से प्राप्त ताम्रमुद्रा के रूप में उपलब्ध है [चित्र ६५]।[4] इस मुद्रा पर सबसे ऊपर दाहिनी ओर को मुँह करके बैठे हुए बैल की मूर्त्ति है, जैसा कि बाण ने उल्लेख किया है। हर्ष परममाहेश्वर थे। अतएव, यह बैल नन्दी वृष का चिह्न है। राज्याधिकार महामुद्रा पर उत्कीर्ण लेख में हर्ष के पूर्वजों का वैसा ही ब्योरा है, जैसा बाँसखेड़ा-ताम्रपत्र में मिला है। इसे 'पूर्वी' कहते थे।

हर्ष ने जैसे ही यह मुद्रा हाथ में ली और पहले से सामने रखे हुए गीली मिट्टी के पिण्डे पर उसे लगाना चाहा कि वह हाथ से छूटकर गिर गई और सरस्वती नदी के किनारे की गीली मुलायम मिट्टी पर उसके अक्षर स्पष्ट छप गये। परिजन लोग अमंगल के भय से सोच करने लगे; किन्तु हर्ष ने मन में कहा -- "सीधे-सादे लोगों की बुद्धि बाहरी वास्तविकता को ही ग्रहण कर पाती है। 'पृथ्वी आपके एकच्छत्र शासन की मुद्रा से अंकित होगी', इस प्रकार का निमित्त सूचित होने पर भी ये नासमझ इनका कुछ और ही अर्थ लगा रहे हैं।"

इस महानिमित्त का हर्ष ने मन में अभिनंदन किया और सौ गाँव ब्राह्मणों के लिए दान किये। प्रत्येक का क्षेत्रफल एक सहस्र सीर या हलभूमि था। सीरसहस्रसम्मितसीमाग्राम, यह उल्लेख महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि शिलालेखों में देशों के नामों के साथ जो लंबी-लंबी संख्याएँ दी गई हैं और जिनका कुछ अर्थ अभी तक निश्चित नहीं हुआ, उसका कुछ संकेत

---

१. अन्यग्रामाक्षपटलाधिकृतद्यूतगोपस्वाम्यादेशलिखित (फ्लीट, गुप्त-शिलालेख, सं ६०)।
२. द्रष्टरि व्यवहाराणां प्राड्विवाकाक्षदर्शकौ (अमर, २।८।५)।
३. वृषाङ्कामभिनवघटितां हाटकमयीं मुद्राम् (२०३)।

इसमें मिलने की सम्भावना है। गुप्तकाल में भूमि का जो बन्दोबस्त हुआ था, उसमें प्रत्येक गाँव का ब्योरेवार क्षेत्रफल और उसपर दिये जानेवाले सरकारी लगान (भाग) की रकम निश्चित कर दी गई थी। क्षेत्रफल और राजकीय भाग का एक निश्चित सम्बन्ध स्थिर किया गया। शुक्रनीति में कहा है कि एक कोस क्षेत्रफलवाले गाँव का लगान एक सहस्र चाँदी का कार्षापण था।[1] एक कोस क्षेत्रफल में कितने हल भूमि होती थी, इसका हिसाब जान लेने पर यह संख्या सार्थक हो जाती है। ज्ञात होता है कि प्रत्येक गाँव के नाम के साथ जितने हल भूमि उस गाँव में थी, उसकी संख्या और देश के नाम के साथ जितने कार्षापण लगान की आय उससे होती थी, उसकी संख्या शासन के कागज-पत्रों में दर्ज रहती थी।

वह रात हर्ष ने सरस्वती के किनारे छाये हुए बँगले (तृणमय मन्दिर) में बिताई। जब रात का तीसरा याम समाप्त हो रहा था, तब कूच का नगाड़ा (प्रयाण-पटह, २०३) गम्भीर ध्वनि से बजाया गया। कुछ ठहरकर जोर जोर से डंके की आठ चोट मारी गई, इस तरह यह सूचित किया जाता था कि उस दिन का पड़ाव कितने कोस की दूरी पर किया जायगा।[2] यात्रा की दूरी के लिए शुक्र ने मनु के हिसाब से २००० गज का कोस माना है।[3] इस हिसाब से आठ कोस की यात्रा लगभग नौ मील की दूरी हुई। डंके की चोट पड़ते ही सैनिक-प्रयाण की तैयारी शुरू हो गई। सांस्कृतिक सामग्री के भाण्डार इस महत्त्वपूर्ण प्रकरण में बाण ने निम्नलिखित वर्णन दिये हैं :

१. प्रयाण की कलकल और तैयारी (२०४—२०६)।
२. राजाओं के समूह का वर्णन (२०६—२०७)।
३. हर्ष का वर्णन (२०७—२०८)।
४. राजाओं का प्रस्थान और प्रस्थान करते हुए स्कन्धावार का आवास-स्थान के समीप से हर्ष द्वारा देखा जाना (२०६)।
५. चलती हुई सेना में सैनिकों की बातचीत (संलाप, २१०)।
६. सेना के चलने (सैन्य-सम्मर्द) से जनता को कष्ट (२११—२१२)।
७. कटक देखकर हर्ष का अपने आवास में लौटना, मार्ग में राजाओं के आलाप (२१३-२१४)।

---

१. भवेत्क्रोशात्मको ग्रामो रूप्यकर्षसहस्रकः (शुक्र० १ । १६३)। शुक्र के अनुसार राजकीय लगान के लिए प्राजापत्यकोश का ग्रहण होता था, जिसकी लम्बाई ५००० हाथ (=२५०० गज) थी। एक वर्गकोश, अर्थात् एक गाँव का क्षेत्रफल २५०००००० वर्ग-हाथ शुक्र ने कहा है (शु० १ । १६१)। यदि एक कोशात्मक क्षेत्रफल के गाँव में १००० सीर भूमि मानी जाय, तो १ सीर भूमि=२५००० वर्गहाथ=२५० × १०० वर्ग-

जैसे ही कूच का डंका बज चुका, सैनिक बाजे बजने लगे। पटह, नांदिक, गुंजा काहल और शंख—इन पाँच बाजों का शोर शुरू हो गया। नांदिक को शंकर ने मंगलपटह कहा है। इसका निश्चित अर्थ अज्ञात है। सम्भवतः, बीन-जैसा बाजा हो, जो कुषाणकाल की मूर्त्तियों में मिलने लगता है और आज भी सेना में प्रातर्जागरण के समय बजाया जाता है। गुंजा को पहले प्रयाणगुंजा भी कहा गया है (४८)। शंकर ने उसका अर्थ एक प्रकार का ढक्का दिया है। बाण ने उसकी ध्वनि को पुराने करंज-वृक्ष की बजनेवाली फली के समान कहा है: शिञ्जानजरत्करञ्जमञ्जरीबीजजालकैः सप्रयाणगुञ्जा इव (४९)। ज्ञात होता है कि यह लेजिम-जैसा बाजा था, जिसमें से छरछराहट की ध्वनि निकलती थी। काहल के विषय में भी मतभेद है, किन्तु काहली नाम से अभी तक एक बाजा प्रचलित है, जो लगभग दो फुट लम्बा सुनार की फुँकनी की तरह का होता है, जिसके निचले हिस्से में कुप्पीनुमा फूल होता है। कभी-कभी दो काहलियाँ एक साथ भी फूँकी जाती हैं। काहली से कूकने की-सी आवाज निकलती है: कूजत्काहले (२०४)।

क्रमशः कटक में कलकल-ध्वनि बढ़ने लगी। सर्वप्रथम झाड़ू देनेवाले जमादार आदि आये और उन्होंने नौकर-चाकरों को जगाया।[1] उसी समय सेना को जगाने के लिए मुँगरी की तड़ातड़ चोटों से (घड़ियाल पर उत्पन्न शब्द से) वृद्धि को प्राप्त होता हुआ (घट्यमान) नुकीले पतले डंडों से बजाये जाते हुए नक्कारों का शब्द दिशाओं में भर गया।[2] चारों ओर जाग हो गई। बलाधिकृतों ने सब पाटीपतियों को इकट्ठा किया। बलाधिकृत गुप्तकालीन सैनिक संगठन में महत्त्वपूर्ण पद था। सम्भवतः, एक वाहिनी[3] का अध्यक्ष बलाध्यक्ष कहलाता था। पाटीपति का अर्थ कावेल ने बारिकों के सुपरिण्टेण्डेण्ट किया है, जो ठीक जान पड़ता है; क्योंकि बलाधिकृतों के लिए सेना की तैयारी का आदेश पाटीपतियों के द्वारा देना

---

१. परिजनोत्थापनव्यापृतव्यवहारिणी (२०४)। कणे और कावेल ने व्यवहारिणि का अर्थ व्यापारी या सरकारी अधिकारी किया है, जिसकी यहाँ कुछ संगति नहीं बैठती। वस्तुतः, व्यवहारिका बुहारी की संज्ञा थी और व्यवहारिन् का अर्थ है बुहारनेवाला।

२. कोणिका=पैंदी में कोणाकृति नक्कारा, जो कीलनुमा पतले डंडे से बजाया जाता है। जगाने के लिए मुँगरी से जल्दी-जल्दी घड़ियाल बजाई गई और फिर नगाड़ा बजना शुरू हुआ।

३. एक हाथी, एक रथ, तीन घोड़े, पाँच पैदल=पत्ति। ३ पत्ति=एक सेनामुख; ३ सेनामुख=१ गुल्म; ३ गुल्म=१ गण; ३ गण=१ वाहिनी; ३ वाहिनी=१ पृतना; ३ पृतना=१ चमू; ३ चमू=१ अनीकिनी; १० अनीकिनी=१ अक्षौहिणी। एक वाहिनी में ८१ हाथी, ८१ रथ, २४३ घोड़े और ४०५ पैदल होते थे। यह लगभग आजकल के बटालियन के तुल्य होगी।

सहस्रों उल्काएँ (मशालें) जल उठीं।

इसके बाद रात के चौथे पहर में आनेवाली दासियाँ (याम-चेटी) अपने काम पर आ गईं और उनकी आहट से ऊँचे अधिकारी, जो स्त्रियों के पास सोये थे, उठ बैठे।

प्यादों की कड़ी डाँट से निषादियों (हाथीवानों) की नींद हवा हो गई और वे आँख मलने लगे (कटककटुनिर्देशनस्थअद्राग्निमपत्निषादिनि, २०४)[1], हाथियों के झुण्ड (हास्तिक) और घोड़ों के ठट्ट (अश्वीय) भी जाग पड़े।

लहजे से शब्दों का उच्चारण करते हुए प्यादे धम-धम करते हुए कुदालों से तम्बुओं के धरती में गड़े फाँसेदार आँकुड़ों को खोदने लगे।[2] इसके बाद हाथियों के गड़े खूँटे उखाड़े जाने से जंजीरें खनखनाने लगीं (शिञ्जानहिञ्जीर)। घोड़ों के पास भी जब उनके खोलनेवाले पहुँचे, तब उन्होंने अपने पिछले पैरों के खुर मोड़कर उठा दिये और उनके पैरों में पड़े हुए खटकेदार कड़े (निगडतालक) खोल दिये गये।[3] जो मैमत हाथी थे; उनके पैरों में विशेष रूप से बाँधनेवाली जंजीरें पड़ी हुई थीं (सन्दानशृङ्खला, जो अंदू के साथ पैरों में पहनाई गई थीं)। उन्हें लेशिक या घसियारे खोलने लगे, तो खनखन का शोर चारों ओर भर गया।[4]

इसके बाद डंडे-डेरों के बटोरने और लदाई का काम शुरू हुआ। हाथियों की पीठ को घास के लंबे मुट्ठों से झाड़कर गर्द साफ की गई और उनपर कमाये हुए चमड़े की खालें डाल दी गईं।[5] गृहचिन्तक (मीर-खेमा) के नौकर-चाकर (चेटक=खेमाबदार) तंबू (पटकुटी), बड़े डेरे (काण्डपटमण्डप), कनात (परिवस्त्रा) और शामियाने (वितानक) लपेटने और खूँटों के मुट्ठे चपटे चमड़े के थैलों में भरने लगे।

---

१. निषादी=एक प्रकार के हस्तिपरिचारक (१७२, १६६) जिनकी, व्याख्या पहले हो चुकी है। निर्णयसागर प्रेस का 'कटुककटुक' पाठ अशुद्ध है। कश्मीर-संस्करण का कटुकटु' भी अपपाठ है। मूल पाठ 'कटुककटु' होना चाहिए। हाथियों के सम्बन्ध में 'कटक' नामक परिचारकों का उल्लेख ऊपर हो चुका है, (कटककदम्बक=प्यादों के समूह, १६६)।

२. रटत्कटक। कटक=प्यादा।

३. निर्णयसागर-संस्करण में 'उपनीयमाननिगडतालक' पाठ अशुद्ध है। कश्मीरी पाठ 'शिञ्जानहञ्जीरोपनीयमान' है, यही शुद्ध है। पदच्छेद करके उपनीयमान 'निगड-तालक' पद बनेगा। तालक=ताला। शंकर ने तालपत्र अर्थ किया है, जो अशुद्ध है। कावेल इस वाक्य को नहीं समझे।

४. इस कार्य के लिए नियुक्त कर्मचारियों को कौटिल्य में पादपाशिक कहा गया है (३।३२)।

जिनपर काठ-कबाड़, खाट-पीढ़े आदि उपकरण-सम्भार नौकर दूर से फेंककर लाद रहे थे।

अब चलने की हड़बड़ी होने लगी। मुटल्ली दूतियाँ सेना के साथ चल नहीं पा रहीं थीं, इसलिए दूसरे उन्हें घसीटते ले चल रहे थे। उनका हाथ और बीच का भाग[3] एक ओर को टेढ़ा हो गया था, जिन्हें देखकर कुछ लोग हँस रहे थे। रंग-बिरंगी झूलों (शारशारी) की मोटी रस्सियों (वरत्रागुण) के कसे जाने से जिनके झूमने में बाधा पड़ रही थी (आहितगात्रविहार), ऐसे कद्दावर और मिजाजदार हाथी चिंघाड़ रहे थे। पीठ पर लादी जाती कंडालों[4] के डर से ऊँट बलबला रहे थे।

इसके बाद जलूस में बढ़िया सवारियाँ आईं। अभिजात राजपुत्रों के द्वारा भेजे गये पीतल-जड़े (कुप्ययुक्त) वाहनों में कुलीन कुलपुत्रों की आकुल स्त्रियाँ जा रही थीं।[5] सवारी के हाथियों के आधोरण गमन-समय में अनुपस्थित अपने नये सेवकों को ढुँढ़वा रहे थे।

---

१. भाण्डागारवहनवाह्यमानबहुनालीवाहिके (२०४), नाली=नुकीली तीर जैसी-छड़, इसे कान में चुभाकर हाथी को चलाते हैं। लद्दू हाथियों के फीलवान नाली और सवारी के महावत अंकुश रखते थे।

२. निषादिनिश्चलानेकपारोप्यमाणकोशकलशपीडसङ्कटायमानसामन्तौकसि (२०४), कोश=कोसा या प्याला; पीडा=पेटी या पिटारी; आपीड=खचाखच।

३. जाघनिकर। जाघनि=जघनप्रदेश, नितम्बभाग।

४. कंठालक=ऊँटों पर सवारियों के बैठने के लिए पीठ के इधर-उधर लटकनेवाला किचावा। इसमें सारा शरीर भीतर आ जाता है और सिर बाहर निकला रहता है, जिससे इसका नाम कंठालक पड़ा होगा।

५. अभिजातराजपुत्रप्रेष्यमाणकुप्रयुक्ताकुलकुलीनकुलपुत्रकलत्रवाहने (२०५), इसका अर्थ कावेल और कणे के अनुसार यह है—उच्च राजपुत्रों से भेजे गये गुण्डे दूत कुलीन कुलपुत्रों की स्त्रियों के वाहनों को घेरे हुए थे। इस प्रसंग में यह अर्थ जमता नहीं। अभिजात राजपुत्र और कुलीन कुलपुत्रों का यह व्यवहार बुद्धिगम्य नहीं होता। हमारी समझ में 'कुप्रयुक्त' अपपाठ है। शुद्ध पाठ कुप्ययुक्त था। कुप्य का अर्थ था पीतल और कुप्ययुक्त=पीतल के साज से अलंकृत। आज भी बढ़िया राजकीय सवारियाँ तरह-तरह के पीतल के सामान से सजाई जाती हैं, जिन्हें माँजकर चमाचम रखते हैं। बाण का तात्पर्य यह है कि बड़े राजपुत्रों की ऐसी जड़ाऊ रथ-बहलियाँ कुलीन कुल-पुत्रों की घबराई हुई स्त्रियों को घर भेजने के लिए माँग ली गई थीं। कुलपुत्र परिवार-सहित प्रायः राजकुल में रहते थे। हर्षचरित-भर में यही एक ऐसा स्थल है, जहाँ सभी पोथियों के पाठों को न स्वीकार करके मैंने अपनी ओर से कु-प्रयुक्त की जगह 'कुप्य-युक्त' पाठ-संशोधन किया है। अर्थ की दृष्टि से 'कुप्य-युक्त' पाठ ही ठीक बैठता है, जो अन्य आदर्श पोथियों में जाँचने योग्य है।

प्रसाद पाये हुए पैदल (प्रसादवित्तपदाति) लोग राजा के घोड़ों को पकड़कर ले चल रहे थे (२०५)।[1]

सजी-बजी चाटभट सेना के हरावल दस्ते चौड़े छापे हुए निशानोंवाले वेष से सजे थे।[2] स्थानपालों के घोड़े का ठाट और भी बढ़ा-चढ़ा था। उनकी पलानें लटकती हुई लवणकलायी, किंकिणी और नाली से सुशोभित थीं एवं ज़ेरबन्द (तलसारक) से बँधी हुई थीं।[3]

इस वाक्य में पाँच पारिभाषिक शब्द हैं। कावेल और कणे द्वारा या अन्यत्र उनका अर्थ स्पष्ट नहीं हुआ। स्थानपाल कोटले या गढ़ियों के रूप में बनी हुई चौकियों के गढ़पति ज्ञात होते हैं। वे जिन घोड़ों पर सवार थे, उनके सामने की ओर लाल ज़ेरबन्द या तलसारक बँधा हुआ था। तलसारक का मूल अर्थ है घोड़े को तल, अर्थात् नीचे की ओर रखनेवाला, जिससे वह पिछले पैरों पर खड़ा न हो सके। पीछे वह शोभा के लिए भी बाँधा जाने लगा। तलसारक का एक सिरा घोड़े के मुँह के नीचे की पट्टी और दूसरा तंग में बाँधा जाता है।

लवणकलायी बिलकुल अप्रसिद्ध शब्द है। शंकर के अनुसार हिरन की आकृति की लकड़ी की पुतलियाँ बनाकर घोड़ों की जीन से लटकाई जाती थीं, जिन्हें लवणकलायी कहते थे। किसी अंश में शंकर का अर्थ ठीक है। कुमारगुप्त की अश्वारोही भाँति की स्वर्णमुद्रा पर (भाँति ३, उपभाँति 'डी') घोड़ों की टाँगों के पास इस प्रकार के अलंकार लटके हुए मिलते हैं। खड़े हुए हिरन के संमुख दर्शन का रेखाचित्र बनाया जाय, तो उसकी आकृति से यह अलंकरण मिलता हुआ है, अतएव शंकर का दारुमयी मृगाकृति विवरण वास्तविक परंपरा पर आश्रित जान पड़ता है। वस्तुतः, अमरावती के शिल्प में उत्कीर्ण घोड़ों की मूर्त्तियों पर भी इस प्रकार की सजावट मिलती है। यूनानी और रोमदेशीय घोड़ों की

---

१ प्रसाद=नौकरी में अच्छे काम करनेवालों के लिए तरक्की का सूचक चिह्न, जो एक चीरे के रूप में सिर पर बाँध लिया जाता था। बाण ने प्रसादलब्ध मुंडमालिका पहने हुए दौवारिक पारियात्र (६१) और प्रभुप्रसाद से प्राप्त पाटितपटच्चर या कपड़े का फीता बाँधे हुए घासिक सेवक (२१३) का वर्णन किया है। वल्लभ शब्द सम्राट् के निजी या खासा घोड़ों के लिए प्रयुक्त हुआ है (भूपालवल्लभतुरङ्ग, ६४)। ये घोड़े राजद्वार के भीतर की मंदुरा में रखे जाते थे। वारवाजि का अर्थ वे कोतल घोड़े हैं, जो राजा या खास सवारी के घोड़े के पीछे सजाकर इसलिए ले जाते थे कि पहले घोड़े के थक जाने पर वारी से उस पर सवारी की जा सके।

२. चारभट का दूसरा रूप चाटभट ज्ञात होता है, जो कितनी ही बार शिलालेखों में प्रयुक्त हुआ है (फ्लीट, गुप्त-अभिलेख, महाराज हस्तिन् का खोह-ताम्रपट्ट, पृ० ९८, टिप्पणी २)। चारु=रंगीन वर्दी-युक्त। नासीर-मंडल=अग्रभाग में रहनेवाला हरावल दस्ता। आडंबर=सजावट। स्थूलस्थासक=पोशाक पर छापे हुए मोटे थापे। इसका स्पष्ट नमूना

को तरल पदार्थ पिलाने के लिए बाँस की नली किया है, किन्तु यह कल्पित है। दिव्यावदान के अनुसार नाली सोने की नलकी थी, जो पूँछ में पहनाई जाती थी।[२]

चलने के समय घुड़साल की अवस्था का कुछ और विशेष परिचय भी दिया गया है। (खासा घोड़ों पर नियुक्त) वल्लभपाल-संज्ञक परिचारक घोड़ों के बाँधने की अवरत्तणी रस्सी की बींडी बनाकर लिये हुए थे और घोड़ों को रोग और छूत से बचाने के लिए साथ में बन्दर ले चल रहे थे।[३]

प्रातःकाल घोड़ों को व्यायाम (प्राभातिकयोग्य) कराने के बाद जो रातिब दिया गया था, उसके तोबड़ों (प्रारोहक) को परिवर्द्धकों ने आधा खाने की दशा में ही उतार लिया।[४] घसियारे एक दूसरे की आवाज पर चिल्ला-चिल्लाकर शोर कर रहे थे। चलते समय की हड़बड़ी में नौसिखुए जानदार घोड़े मुँह उठाकर चक्कर खाने लगे (भ्रमद्धुत एडतरुण-तुरङ्गम), जिससे घुड़साल में खलबली मच गई। हथिनियाँ सवारी के लिए तैयार हो चुकीं, तो आरोहकों के पुकारने पर स्त्रियाँ जल्दी से मुखालेपन (हथिनियों के मुँह पर माँडने बनाने की सामग्री) लेकर आईं। हाथी-घोड़े चल पड़े, तब पीछे छोड़े हुए हरे चारे के ढेरों को

---

१. '*Phalara* (*pl. phalerae*) used once in Homer to signify an appendageto a helmet. The word is elsewhere used of the metal discs or crescents with which a horse's harness was ornamented.' [Cornish, *Concise Dictionary of Greek and Roman Antiquities*, p. 477, fig. 806].

२. तस्य तु पुच्छं सौवर्णायां नालिकायां प्रक्षिप्तम् (दिव्यावदान, पृ० ५१४)। ईरान में सासानी-युग में भी घोड़ों की पूँछ में पहनाई जानेवाली नलकी उनके जिरह-बख्तर का अंग थी। [सी० हुआर्ट, एंश्यंट पर्शिअन एंड ईरानिअन सिविलिज़ेशन, पृ० १५०, 'The head, tail and breast of the horse are likewise covered with coat of mail.']

३. घुड़साल में बन्दर रखने का उल्लेख साहित्य में कितनी ही बार आता है। जायसी ने लिखा है—'तुरय रोग हरि माथे आए'। यह विश्वास था कि घोड़े की बीमारी साथ में रहनेवाले बन्दर के सिर आती है।

४. परिवर्द्धकाकृष्यमाणार्धजग्धप्राभातिकयोग्याशनप्रारोहके (२०५)। प्रारोहक चमड़े का चौड़े मुँह का तोबड़ा, पंजाब में अभी तक कुँओं से पानी उठाने के मोठ, चरस या पुर को परोहा (प्रारोहक, उठानेवाला) कहते हैं। उसी की तरह का होने से तोबड़ा भी प्रारोहक कहा गया। परिवर्धक कर्मचारियों का काम घोड़ों पर साज कसकर उन्हें सवारी के लिए हाजिर करना था (परिवर्धकोपनीततुरङ्गमारुह्य, १५२)। प्रारोहक का पाठान्तर शंकर ने प्रौढिक दिया है (योग्याशनार्थं प्रसेवक)। प्रौढिक से पोढिय बना है, जो कन्हेरी के गुफालेखों में प्रयुक्त हुआ है (पानीयपोढिय=पानी रखने की छोटी हौदी)। सम्भव है,

[illegible]
में चले और छोकरों के टट्टू (चेलचक्र)[1] उनपर उचककर बैठ गये। चूँ-चूँ करते हुए पहियोंवाली सामान से लदी लढ़िया गाड़ियों की लीक में (ग्रहतवर्त्म) डाल दिया गया।[2] सामान माँगने पर जो फौरन देने योग्य था, उसे बैलों पर लादा गया।[3] रसद का सामान देनेवाले बनियों के बैल पहले ही रवाना कर दिये गये थे, किन्तु वे (या उन्हें हँकानेवाले नौकर) घास के लोभ में देर लगा रहे थे।[4] महासामन्तों के रसोड़े (महानस) आगे ही (प्रमुख) भेज दिये गये थे। झंडी-बरदार (ध्वजवाही) सेना के सामने दौड़कर चल रहे थे।[5] भरे हुए डेरों (कुटीरकों) से निकलते हुए सैनिक अपने प्रिय जनों से गले मिल रहे थे (२०५)।

इस प्रकार, सेना के प्रस्थान करने पर भीड़-भव्भड़ में जनता को हानि भी उठानी पड़ती थी। शहर और देहात दोनों जगह इतने भारी मजमों के चलने से जो तबाही आती थी, बाण ने उसका सच्चा चित्र खींचा है। हाथियों ने रास्ते में पड़े घरों (मठिका) को पैरों से रौंद डाला; लोग बेबसी से जान लेकर मेठों[6] (हस्तिपक) पर ढेले फेंकते हुए भागे। पकड़ न पा सकने के कारण मेठों ने पास खड़े लोगों को साक्षी बनाकर संतोष किया। उस धक्कमधक्के में छोटी बस्तियाँ तितर-बितर हो गईं, और उनमें

---

१. चक्रीवत् गर्दभ। शंकर के अनुसार 'चक्रीवत् गर्दभ उष्ट्रो वा'; किन्तु गर्दभ अर्थ ही ठीक जान पड़ता है; क्योंकि ऊँटों का वर्णन ऊपर आ चुका है। चेल का अर्थ शंकर ने वस्त्र या बालक किया है, चेलचक्र का अर्थ छोकड़े ही अधिक उपयुक्त है।

२. सामान-लदी गाड़ियाँ एक बार लीक में डाल दी जाती हैं और ऊँघते बैलवानों के साथ रेंगती रहती हैं, रथादि वाहनों की भाँति वे शीघ्रता से बचाकर नहीं निकाली जातीं।

३. अकाण्डदीयमानभाण्डभारितानडुहि (२०५)। कावेल ने अर्थ किया है—'oxen were laden with utensils momentarily put upon them.' वास्तविक बात यह है कि पड़ाव पर पहुँचकर ही खोला जानेवाला सामान गाड़ियों में और तुरन्त आवश्यकता का सामान बैलों पर लादा गया।

४. निकटघासलाभलुभ्यल्लम्बमानप्रथमप्रसार्यमाणसारसौरभेय (२०५)। सारसौरभेय का अर्थ कठिन है। कावेल और कणे के अनुसार, तगड़े बैल। सार का अर्थ जल, दूध-दही, या मित्र सामन्त भी है। किन्तु, इस प्रसंग में इनमें से कोई अर्थ मेल नहीं खाता, प्रथम प्रसार्यमाण की संगति नहीं बैठती। हमारी सम्मति में सार और सारण एकार्थक हैं और सारणिक का अर्थ था बंजारे या चलनेवाले बनिये (a travelling merchant, मानियर विलियम्स)। संगतिपरक अर्थ यह है कि कटक के साथ चलनेवाले बनिये रसद का प्रबन्ध करने के लिए अपने बैलों के साथ आगे ही भेज दिये गये थे। इसी तरह सामन्तों के घोड़े भी आगे ही चलतू कर दिये गये थे। इसीलिए दोनों का एक साथ वर्णन सार्थक है।

शोर-शार से बिदककर भाग निकले ।[2]

ज्ञात होता है, उस युग के सैनिक प्रयाण में रनिवास भी साथ रहने लगा था। गुप्त-कालीन युद्धों में, जो वाह्लीक-सिन्धु तक लड़े जाते थे, यह प्रथा न रही होगी। उस समय का सैनिक अनुशासन अधिक कड़ा था। पीछे सम्भवतः कुमारगुप्त के समय अंतःपुर के लोग भी प्रयाण के समय साथ रहने लगे। बाण का कथन है कि अन्तःपुर की स्त्रियाँ हथिनियों पर बैठकर निकलती थीं, उनके सामने मशाल लिये हुए लोग चलते थे, जिसके संकेत से जनता मार्ग छोड़कर हट जाती थी।[3] दीपिकालोक का प्रतीक सम्भवतः जान-बूझकर रखा गया था, जिससे 'असूर्यम्पश्या राजदाराः' की भ्रांति बनी रहे।

'ऊँचे तंगण[4] घोड़ों पर, जिनकी बढ़िया तेज दुलकी से बदन का पानी भी न हिलता था, मजे में बैठे हुए खक्खट उनकी चाल की तारीफ कर रहे थे। लेकिन खच्चरों पर तकलीफ से बैठे हुए दक्खिनी सवार फिसले पड़ते थे।'

तंगण देश का उल्लेख पाण्डुकेश्वर में प्राप्त उत्तर-गुप्तकालीन ताम्रपट्टों में आता है। यह गढ़वाल के उत्तर का प्रदेश था। यहाँ के टाँगन घोड़े प्रसिद्ध थे। खक्खट का अर्थ शंकर ने 'वृद्धाः' किया है। पर हमारी सम्मति में बाण ने यहाँ हर्ष की सेना की एक विशेष वीर टुकड़ी का उल्लेख किया है। कश्मीर-प्रति का शुद्ध पाठ 'खक्खट क्षत्रिय' है। खक्खट क्षत्रिय प्राचीन खोक्खड़ ज्ञात होते हैं, जो अपने को राजपूत मानते हैं और अपने प्रमुख व्यक्तियों को राजा कहते हैं। यह अत्यन्त प्राचीन जाति समझी जाती है, जो व्यास के पूर्व में और झेलम-चनाब नदियों के बीच मध्य पंजाब में बसी है। ये वीर और लड़ाके होते हैं। इनकी बस्तियों (तलघंडियों) में घोड़े अच्छे होते हैं।[5] हर्ष की सेना में पंजाब की इस वीर लड़ाकू जाति की एक टुकड़ी थी, यह बहुत सम्भव है और प्राचीन खक्खट नाम से उसीका उल्लेख समझा जा सकता है।

प्रयाण-समय में देश-देशान्तरों के राजा भी हर्ष की सहायता के लिए एकत्र हुए। बाण ने उनके पृथक् नामों या देशों का परिगणन न करके केवल वेषभूषा या टीमटाम का वर्णन

---

१. व्याघ्रपल्ली = जंगल में अस्थायी रूप से बनाई हुई झोंपड़ियों की छोटी बस्तियाँ। शुक्रनीति के अनुसार (जो गुप्तकाल की संस्कृति की परिचायक है) एक कोश क्षेत्रफल की बस्ती ग्राम और उससे आधी पल्ली कहलाती थी (भवेत् कोशात्मको ग्राम......... ग्रामार्द्धं च पल्लिसंज्ञं, १।१९३)। व्याघ्रपल्ली = ऐसे स्थान में बनी हुई पल्ली, जहाँ बाघ लगता हो; अथवा बाघ लगने लायक घना जंगल हो।

२. कलकलोपद्रवद्रवद्द्रविणवलीवर्दविद्राणवणिजि (२०६)।

३. पुरःसरदीपिकालोकविरलायमानलोकोत्पीडप्रस्थितान्तःपुरकरिणीकदम्बके (२०६)।

धवलगृह (राजा का आवास), राजकुल और स्कन्धावार का पारस्परिक सम्बन्ध और भेद स्पष्ट किया जा चुका है (दूसरा और चौथा उच्छ्वास)। यहाँ भी बाण ने बारीकी के साथ फिर उसका निर्वाह किया है। आगे कहा गया है कि हर्ष ने आवासस्थान के पास से प्रस्थान करते हुए स्कन्धावार को देखा (२०६-१०)। उसे देखता हुआ वह कटक, अर्थात् उस स्थान में आया, जहाँ राजाओं के शिविर लगे थे। यह भी स्कन्धावार का ही एक भाग था। वहाँ राजाओं (पार्थिवकुमारों) की उत्साहप्रद बातचीत सुनता हुआ उनके साथ मंदिरद्वार, अर्थात् राजमंदिर (राजकुल) के द्वार तक आया और उन्हें वहीं से विदा कर दिया। राजमंदिर के भीतर वह घोड़े पर सवार ही प्रविष्ट हुआ। बाह्यास्थानमंडप (दीवाने आम) के पास घोड़े से उतरकर वहाँ स्थापित आसन पर जाकर बैठा और वहाँ भी जो लोग एकत्र थे, उन्हें विसर्जित करके तब भास्करवर्मा के दूत से भेंट की।[1] वास्तुसन्निवेश की दृष्टि से बाण के ये वर्णन पूरे उतरते हैं।

राजाओं के वर्णन में बाण ने निम्नलिखित क्रम रखा है—हाथी और घोड़े पर उनकी सवारियाँ, वेषभूषा, शरीर के निचले भाग और ऊपरी भाग में पहने हुए विविध वस्त्र, कान के आभूषण, शिरोभूषा, जुलूस का रफ्तार पकड़ना, हाथियों का वेग से चलना, घोड़ों का सरपट जाना, चारभट सेना का प्रयाण और बाजों की ध्वनि।

हाथियों पर चढ़े हुए आधोरण स्वर्णपत्रलता से अलंकृत शाङ्ग (सींग का बाजा) हाथ में लिये थे। शाङ्ग का उल्लेख कालिदास ने पारसीकों के साथ रघु के युद्ध-वर्णन में किया है। घोड़ों पर चढ़े हुए पारसीक सींग की बनी हुई तुरही बजाकर युद्ध करते थे।[2] यहाँ भी शाङ्ग का यही अर्थ उपयुक्त है, जैसा कि ऊर्ध्वध्रियमाण पद से सूचित होता है। राजाओं के अन्तरंग सहायक पास के आसन पर तलवार लिये बैठे थे एवं ताम्बूलिक चँवर डुला रहे थे। हाथियों के पीछे की ओर बैठे हुए (पश्चिमासनिक) परिचारक चमड़े के बने हुए विशेष प्रकार के तरकशों में भरे हुए छोटे हल्के भालों के (भिन्दिपाल) मुट्ठे लिये हुए थे [चित्र ६७]।[3]

---

१. मन्दिरद्वारि चोभयतः सबहुमानं भ्रूलताभ्यां विसर्जितराजलोकः, प्रविश्य चावततार बाह्यास्थानमण्डपस्थापितमासनमाचक्राम प्राप्तसमायोगश्च क्षणमासिष्ट (२१४)।

२. शाङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत् (रघु० ४-६२)। मल्लिनाथ ने शाङ्ग का एक अर्थ धनुष और दूसरा अर्थ सींगी किया है। कूजित पद से दूसरा अर्थ ही ठीक जान पड़ता है। अम्मिआनुस मारसेलीनस ने सासानी योद्धाओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि वे तुरही बजाकर युद्ध का संकेत देते थे। 'दि सिग्नल फॉर बैटिल वाज गिवेन बाइ ट्रम्पेटस' (सी० हुआर्ट, एंश्यंट पर्सिया, पृ० १५१)।

३. भस्त्राभरण। शंकर के अनुसार एक प्रकार का तरकश, बाण रखने के तरकशों से भिन्न प्रकार का चमड़े का भाथी के जैसा होता था। भिन्दिपाल के दो अर्थ मिलते हैं, पत्थर

घुड़सवारों की पलानों में आगे-पीछे उठे हुए सोने के नलकों में पत्रलता के कटाव बने थे[1] [चित्र ६८]। पलानों के पार्श्व में गोल तंग कसे होने से (परिक्षेप पट्टिकाबंध) वे अपनी जगह निश्चल थीं। उनके ऊपर पट्टोपधान (पट्ट या रेशम का बना गुदगुदा बिछावन) बिछा था, जिसपर शरीर को स्थिर साधकर राजा बैठे हुए थे। पालन के इधर-उधर रकाबें झूल रही थीं (प्रचलपाद-डोलिका, २०६)। राजाओं के पैरों के कड़ों के साथ टकराने से उनका खनखन शब्द हो रहा था। ऊपर कहा जा चुका है कि रकाब का अंकन शुंगकालीन मथुरा की मूर्तियों में मिलने लगता है।[2] बाण के समय में वह आम बात हो गई थी और पुरुष भी उसका इस्तेमाल करने लगे थे।

राजाओं की वेशभूषा में तीन प्रकार के पाजामों—स्वस्थान, पिंगा, सतुला और चार प्रकार के कोटों—कंचुक, चीनचोलक, वारबाण, कूर्पासक—का वर्णन है। पाजामों का आम रिवाज शकों के समय में प्रथमशती ई० पू० से इस देश में आरम्भ हुआ। प्रथम शती की मथुरा-कला में तो इसके अनेक प्रमाण मिलने लगते हैं। शक-कुषाण-युग के बाद सलवार-पाजामों का वेश गुप्तराजाओं ने सैनिक वर्दी के लिए जारी रखा। समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त के कुछ सिक्कों पर सम्राट् स्वयं इसी वेष में, जो उदीच्यवेष कहलाता था, अंकित किये गये हैं। बाण में उल्लिखित पाजामों के भेद इस प्रकार हैं :

१. स्वस्थान[3] या सूथना, जिसकी तंग मोहरियों में पिंडलियाँ कसी हुई थीं (स्थगितजङ्घाकाण्ड)। स्वस्थान शब्द में ही यह संकेत है कि इस प्रकार का पाजामा अपनी जगह या पिंडलियों पर कसा रहता था। यह नेत्रसंज्ञक रेशमी वस्त्र का बना था, जिसपर फूल-पत्ती का काम था (उच्चित्रनेत्र)। इस प्रकार के फूलदार कपड़े और तंग मोहरी का पाजामा पहने हुए एक नर्त्तकी स्त्री देवगढ़ के मन्दिर में चित्रित की गई है। ऊपर वस्त्रों के प्रकरण में नेत्रसंज्ञक रेशमी वस्त्र का वर्णन किया जा चुका है [चित्र ६९]।

२. पिंगा, यह ढीली सलवार नीचे पिंडलियों तक लम्बी होती थी, इसलिए शंकर ने इसे जंघिका या जंघाला (जंघा=पिंडलियों का भाग) भी कहा है।[4] पिंगा नाम की

---

१. पुराने ढंग की काठियों में लकड़ी की उठी हुई खूँटियों पर पीतल का खोल चढ़ाकर आगे-पीछे नले बनाये जाते थे, जिनके ऊपरी सिरों पर फूल-पत्ती के कटाव का काम बना दिया जाता था। जीन के आगे की ओर तो ये अवश्य बनते थे और विशेष उठे हुए होते थे। अजन्ता (गुफा १७) में विश्वन्तरजातक के चित्र में इस प्रकार की काठी और नलक अत्यंत स्पष्ट हैं (दे० औंधकृत अजन्ता, फलक ६५ में अंकित घोड़े की काठी)।

२. डॉ० श्रीकुमारस्वामी द्वारा प्रकाशित मथुरा के प्रथम शती ई० पू० के एक सूचीपत्थर पर रकाब में पैर डाले स्त्री-मूर्ति बनी है। उनके अनुसार रकाब का प्रयोग इस देश में संसार में सर्वप्रथम हुआ (बुलेटिन बोस्टन म्यूज़ियम, अगस्त १९२६, सं० १४४, सिक्स रिलीफस

उल्लेख आया है। बौद्धों के महाव्युत्पत्ति ग्रन्थ में भी पूंगा वस्त्र का उल्लेख है। ... से बहुधा तैयार की जानेवाली सलवारों के लिए भी पूंगा नाम प्रचलित हो गया होगा। पूंगा का ही प्राकृत रूप पिंगा है। राज्यश्री के विवाह-प्रकरण में उल्लिखित वस्त्रों की व्याख्या करते हुए शंकर ने पूंगा को नेत्र का पर्याय कहा है। नेत्र और पूंगा दोनों रेशमी वस्त्र थे, जिसमें फूल-पत्तियों की बुनावट रहती थी। पर, नेत्र प्रायः सफेद रंग का और पूंगा रंगीन होती थी। नेत्र शब्द का प्राकृत रूप नेत अब भी एक प्रकार का महीन रेशमी वस्त्र है, जो बंगाल में बनता है। वस्त्र के लिए इस शब्द का प्रयोग कैसे हुआ? दीघनिकाय में घोड़े के गले की गोल बटी हुई रस्सी को नेत्त कहा है (सारथिरिव नेत्तानि गहेत्वा)। महाभारत में नेत्र शब्द मथानी की डोरी के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसे हिंदी में नेती या नेत कहते हैं। बटी हुई नेती की तरह शरीर में लपेटकर गठियाये जानेवाले रेशमी पटकों के लिए नेत्र शब्द का प्रयुक्त होना स्वाभाविक है। कुषाणकालीन पटके चपटे और गुप्तकालीन बटे हुए गोल होते थे। जिस महीन रेशमी वस्त्र के पटके बनते थे, वह भी कालान्तर में नेत्र कहा जाने लगा। संभव है, पूंग नामक वस्त्र भी पटकों के काम आते थे और इसी आधार पर नेत्र और पूंग एक दूसरे के पर्याय बन गये। बाण ने पिंगा का वर्णन करते हुए इसे पिशंग या उन्नाबी (कलछौंह लिये लाल) रँग की कहा है। पिशंग पिंगा के पहले जुड़ा हुआ 'कार्दमिक पटकल्माषित' विशेषण ध्यान देने योग्य है। कार्दमिक रंग का अर्थ कर्दम के रंग से रँगा हुआ वस्त्र है। कात्यायन के एक वार्त्तिक (४।२।२) में शकल (मिट्टी के ठीकरे) और कर्दम (कीचड़) से कपड़े रँगे जाने का उल्लेख है। कार्दमिक पट या राखी रंग की पट्टी सलवार के निचले अंश में पिंडलियों के ऊपर पहनी जाती थी, उसी का संभवतः यहाँ बाण ने उल्लेख किया है। अहिच्छत्रा से प्राप्त[1] एक पुरुषमूर्त्ति कोट और सलवार पहने हुए है। सलवार के निचले हिस्से में पिंडलियों के ऊपर तक पट्टी बँधी हुई है। बाण का तात्पर्य इसी प्रकार के पहनावे से ज्ञात होता है [चित्र ७०]।

३. सतुला—शंकर के अनुसार सतुला अर्धजंघिका या अर्धजंघाला अर्थात्, घुटनों के ऊपर तक का पहनावा था, जिसे आजकल का घुटन्ना या जाँघिया कह सकते हैं। बाण ने सतुला का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है—आलिनीलमसृणसतुलासमुत्पादितसित-समायोगपरभागैः, अर्थात् राजा लोग गहरे नीले रंग के जो जाँघिये पहने हुए थे, उनमें सफेद पट्टियों का जोड़ डालने के कारण उनकी शोभा और बढ़ गई थी। शंकर के अनुसार समायोग सिलाई करनेवाले कारीगरों का पारिभाषिक शब्द था (व्यापृतकेषु प्रसिद्धः, २०७)। सामान्यतः इसका अर्थ वर्दी था। परभाग का अर्थ एक रंग की जमीन पर दूसरे रंग की सजावट है।[2] सतुला या घुटन्ने के कई उदाहरण अजन्ता के गुफा-चित्रों एवं गुप्तकालीन कला में मिलते हैं। सौभाग्य से अजन्ता की गुफा-सं० १७ में चित्रित एक पुरुषमूर्त्ति सफेद

१. कंचुक—कुछ राजा गोरे शरीर पर लाजवर्दी नीले रंग के कंचुक पहने हुए थे : अवदातदेहविराजमानराजावर्त्तमेचकैः कञ्चुकैः। कादम्बरी में चंडालकन्या नीला कंचुक पहने हुए कही गई है; जो पैरों की पिंडलियों तक नीचा लटकता था : आगुल्फावलम्बिना नीलकञ्चुकेनावच्छन्नशरीराम् (का० १०)। अजन्ता की गुफा १ में पद्मपाणि अवलोकितेश्वरमूर्त्ति के बाईं ओर खड़ी हुई चामरग्राहिणी पैरों तक लम्बा लाजवर्दी रंग का कंचुक पहने है (औंधकृत अजन्ता, फलक २६)। सरस्वती की सखी मालती सफेद बारीक रेशम का आप्रपदीन (पैरों तक लम्बा) कंचुक पहने हुए थी। अजन्ता-गुफा १७ में विश्वन्तरजातक के एक दृश्य में सफेद रंग का कंचुक या पैरों तक लम्बा आस्तीनदार कोट पहने हुए एक पुरुष दिखाया गया है। इससे ज्ञात होता है कि कंचुक पैरों तक लम्बा बाँहदार कोट था, जिसका गला सामने से बंद रहता था [चित्र ७२]।

२. वारबाण—वारबाण भी कंचुक की तरह का ही पहनावा था, किन्तु यह कंचुक की अपेक्षा कुछ कम लम्बा, घुटनों तक नीचा होता था। जैसा नाम से प्रकट है, यह युद्ध का पहनावा था। सासानी ईरान की वेषभूषा से यह भारतवर्ष में लिया गया। काबुल से लगभग २० मील उत्तर खैरखाना से चौथी शती की एक संगमरमर की सूर्यमूर्त्ति मिली है। वह घुटने तक लम्बा कोट पहने हुए है, जो वारबाण का रूप है। ठीक वैसा ही कोट पहने अहिच्छत्रा के खिलौने में एक पुरुषमूर्त्ति मिली है।[3] यह भी पूरी आस्तीन का घुटनों के बराबर लम्बा कोट था। मथुरा-कला में प्राप्त सूर्य और उनके पार्श्वचर दंड और पिंगल की वेषभूषा में जो ऊपरी कोट है, वह वारबाण ही ज्ञात होता है।[4] इसमें सन्देह है कि वारबाण मूल में संस्कृत भाषा का शब्द है। यह किसी पहलवी शब्द का संस्कृत रूप ज्ञात होता है। इसका फारसी रूप 'बरवान', अरमाइक भाषा में' 'वरपानक', सीरिया की भाषा में इन्हीं से

---

१. औंधकृत अजन्ता, फलक ६८; और भी देखिए, गुफा १७ में चामरग्राहिणी, फलक ७३। फलक ६५ में विश्वन्तर और उसकी पत्नी दोनों सतुला पहने हैं और उनमें भी खड़ी पट्टियों का जोड़ है। और भी देखिए, अहिच्छत्रा के खिलौने, चित्र १०७ अग्नि की मूर्त्ति में खड़ी पट्टियोंवाला घुटन्ना।

२. धौतधवलनेत्रनिर्मितेन निर्मोकलघुतरेण आप्रपदीनेन कञ्चुकेन तिरोहिततनुलता (३१)। महीन कंचुक के भीतर से उसकी गोरी देह झलक रही थी (छातकञ्चुकान्तरदृश्यमानैराश्यानचन्दनधवलैरवयवैः)।

३. अहिच्छत्रा के खिलौने, चित्र ३०५, पृ० १७३, ऐंश्यंट इंडिया।

४. मथुरा-संग्रहालय, मूर्त्ति-सं० १२५६, सूर्य की सासानी वेषभूषा में मूर्त्ति, जो ठीक उस सूर्य-प्रतिमा-जैसा कोट पहने है, जो काबुल से २० मील उत्तर खैरखाना गाँव से मिली थी। मथुरा सं०, मूर्त्ति-सं० २६६, सूर्य-प्रतिमा, कुषाण-काल की मूर्त्ति। सं० ५१३, पिंगल की

दो बार स्तवरक का उल्लेख किया है : एक यहाँ स्तवरक के घने वारबाणों का वर्णन है और दूसरे राज्यश्री के विवाहमहोत्सव के प्रसंग में, जहाँ मंडपों की छतें स्तवरक वस्त्रों की बनी हुई कही गई हैं (१४३)। शंकर ने इसे एक प्रकार का वस्त्र कहा है। संस्कृत-साहित्य के अन्य किसी प्रमाण से स्तवरक वस्त्र पर प्रकाश नहीं पड़ता। बाण ने ही पहली बार इस शब्द का प्रयोग किया है। पीछे बाण की अनुकृति पर लिखनेवाले धनपाल ने भी इस शब्द को अपने वर्णनों में विना समझे हुए ढाल लिया। हम ऊपर कह चुके हैं कि संस्कृत स्तवरक का मूल रूप पह्लवी 'स्तब्रक्' था, जिससे अरबी 'इस्तब्रक'² और फारसी 'इस्तब्रक्' की उत्पत्ति हुई। यह वस्त्र सासान-युग के ईरान में तैयार होकर पूर्व में भारत और पश्चिम में अरब तक ले जाया जाता था। हर्ष के राजमहल में बाण ने उसका परिचय प्राप्त किया। सूर्य की उदीच्य वेशधारी मूर्त्तियों के कोट का कपड़ा कामदानी और सजा हुआ दिखाया जाता है, जो स्तवरक का नमूना ज्ञात होता है। प्रायः इन मूर्त्तियों का पहनावा सासानी राजकीय वेशभूषा से मिलता है। इन कोटों में प्रायः मोतियों का टँकाव देखा जाता है। बाण ने भी लिखा है कि स्तवरक पर मोतियों के झुग्गे टँके हुए थे : तारमुक्तास्तवकित (७०६)। अहिच्छत्रा की खुदाई में दो मिट्टी के खिलौने ऐसे मिले हैं, जिनके वस्त्रों पर मोतियों के झुग्गे टँके हुए हैं। इनमें एक सासानी ढंग की सूर्यमूर्त्ति है और दूसरी नीचा लंहगा पहने हुए नर्त्तकी की। इनमें मोतियों के प्रत्येक झुग्गे के नीचे एक सितारा भी टँका हुआ है, जिसकी पहचान बाण के 'तारमुक्ता' से की जा सकती है [चित्र ४८]।[3]

३. चीनचोलक—बाण ने राजाओं के तीसरे वेष को चीनचोलक कहा है। निश्चय ही यह पहनावा जैसा कि नाम से प्रकट है, चीन देश से लिया गया था। यह भी ज्ञात होता है कि चीनचोलक कंचुक या अन्य सब प्रकार के नीचे के वस्त्रों के ऊपर पहना जाता था। सम्राट् कनिष्क की मूर्त्ति में⁶ नीचे लंबा कंचुक और ऊपर एक सामने से धुराधुर खुला हुआ चोगा-जैसा कोट दिखाया गया है, वह चीनचोलक हो सकता है। मथुरा से मिली हुई सूर्य की कई मूर्त्तियों में भी इस प्रकार के खुले गले का ऊपरी पहनावा पाया

---

१. फारसी *barvan* ; Aramaic *varapasak;* Syriac *gurmanaka;* Arabic *ou menayah*, a sleevless woollen coat (Transactions of the Philological Society of London, 1945, p 154, footnote, Henning).

२. कुरान में स्वर्ग की हूरों की वेशभूषा के वर्णन में इस्तब्रक का उल्लेख हुआ है। कुरान के सभी टीकाकार सहमत हैं कि यह शब्द मूल अरबी भाषा का न होकर बाहर से लिया गया है (ए० जेफरी, दि फॉरेन वाकेबुलरी ऑफ दि कुरान गायकवाड़ प्राच्य-पुस्तक-माला, संख्या ७६, पृ० ५८, ५६)।

३. देखिए मेरा लेख—अहिच्छत्रा टेराकोटाज, चित्र १०२ और २८६।

द्वारा प्रसारित होकर भारतीय वेषभूषा में गुप्तकाल में और हर्ष के समय तक भी इसका रिवाज चालू रहा। सत्य तो यह है कि यह वेष बहुत ही सम्भ्रान्त और आदरसूचक समझा गया। अतएव, उत्तर-पश्चिम भारत में सर्वत्र नौशे के लिए इस वेष का रिवाज लोक में अभी तक जारी रहा, जिसे 'चोला' कहते हैं। चोला ढीला-ढाला गुल्फों तक लंबा, खुले गले का पहनावा है, जो सबसे ऊपर धारण किया जाता है। विवाह-शादी में अभी तक इसका चलन है। मथुरा से प्राप्त चष्टन की मूर्त्ति में भी सबसे ऊपरी लंबा वेष चीन-चोलक ही ज्ञात होता है, जिसका गला सामने से तिकोना खुला हुआ है। कनिष्क और चष्टन के चीनचोलक दो प्रकार के हैं। कनिष्क का धुराधुर बीच में खुलनेवाला है और चष्टन का दुपरती, जिसमें ऊपर का परत बाँई तरफ से खुलता है और बीच में गले के पास तिकोना भाग खुला दिखाई देता है। कनिष्क-शैली का चीन-चोलक मथुरा संग्रहालय की डी० ४६ संज्ञक मूर्त्ति में और भी स्पष्ट है, केवल वस्त्र के कटाव में कुछ भेद है। मध्यएशिया से लगभग सातवीं शती का एक ऐसा ही चोलक प्राप्त हुआ है।[1] इस स्थल में मूल पाठ 'अपचितचीनचोलक' था, जिसे सरल बनाने के लिए 'उपचित ......' कर दिया गया। शंकर की टीका में और प्राचीन काश्मीरी प्रतियों में 'अपचित' पाठ ही है, जिसका अर्थ कोशों के अनुसार 'पूजित, सम्भ्रान्त या प्रतिष्ठित' है। बाण का तात्पर्य यही है कि कुछ राजा लोग सम्मानित चीनचोलक की वेषभूषा पहने हुए थे [चित्र ७४]।

४. कूर्पासक—राजाओं का एक वर्ग नाना रंगों से रँगे जाने के कारण चितकबरे कूर्पासक पहने हुए था : नानाकषायकर्बुरैः कूर्पासकैः (२०६)। कूर्पासक का पहनावा गुप्तकाल में खूब प्रचलित रहा होगा। अमरकोश ने कूर्पासक का अर्थ चोल किया है। कूर्पासक स्त्री और पुरुष दोनों का ही पहनावा थोड़े भेद से था। स्त्रियों के लिए यह चोली के ढंग का था और पुरुषों के लिए फतुई या मिर्जई के ढंग का। इसकी दो विशेषताएँ थीं, एक तो यह कटि से ऊँचा रहता था, और दूसरे प्रायः आस्तीन-रहित होता था। वस्तुतः, कूर्पासक नाम इसीलिए पड़ा; क्योंकि इसमें आस्तीन कोहनियों से ऊपर ही रहती थी। मूल में कूर्पासक भी चीनचोलक की ही तरह मध्यएशिया की वेषभूषा में प्रचलित था और वहीं से इस देश में आया। कूर्पासक के जोड़ की आधुनिक पोशाक वास्कट है, लेकिन एशिया के शिष्टाचार के अनुसार वास्कट सबसे ऊपर पहनने का वस्त्र माना जाता है, जबकि पश्चिमी

---

१. वाइवो सिलवान, इन्वेस्टिगेशन ऑफ् सिल्क फ्रॉम एड्सन गोल एंड लॉपनार (स्टाकहोम, १९४९) प्लेट० ८ ए, लाप मरुभूमि से प्राप्त पुरुष का चोलक, जिसका गला तिकोना खुला है। इसी पुस्तक में पृ० ६३ पर चित्र-सं० ३२ में एक मृण्मय मूर्त्ति में चीनचोलक का अति सुन्दर उदाहरण, उत्तरी वाइ वंश (३८६-५३५) के समय का है,

पहनावे के नाम और भेद हैं। वही पहनावा गुप्तकाल में कूर्पासक नाम से प्रसिद्ध था।

बाण के अनुसार कूर्पासक कई रंगों से रँगे रहते थे : नानाकषायकर्बुरैः (२०६)। उसकी युक्ति यह ज्ञात पड़ती है कि सर्वप्रथम वस्त्र पर किसी हल्के रंग का डोब दिया जाता था, फिर क्रमशः हरड़, बहेड़ा, आँवला, आम की पत्ती आदि कसैले पदार्थों से अलग-अलग रंग तैयार करके उसमें वस्त्र को डोब देते थे। प्रत्येक बार बाँधनू की बँधाई बाँधने से वस्त्र के अलग-अलग हिस्सों में अलग-अलग रंग आ जाता था। आज भी इस पद्धति से वस्त्र रँगे जाते हैं, और कषायों को बदल-बदलकर रँगने से वस्त्र में चितकबरापन (कर्बुरता) उत्पन्न किया जाता है। जैसा कहा जा चुका है, कूर्पासक स्त्री और पुरुष दोनों का पहनावा था। अजन्ता के लगभग आधे दर्जन चित्रों में स्त्रियाँ बिना आस्तीन की या आधी बाँह की चोलियाँ पहने हैं, जिनमें कई रंगों का मेल दिखाया गया है। एक ही चोली में पीठ का रंग और है और सामने का कुछ और। महाराज औंधकृत अजन्ता पुस्तक के फलक ७२ में यशोधरा बिना आस्तीन का कूर्पासक पहने है, जिसपर बाँधनू की बुँदकियाँ पड़ी हैं। फलक ७७ में रानी और कई अन्य स्त्रियाँ कूर्पासक पहने हैं। एक चित्र में पीठ की ओर कत्थई और सामने लाल रंग से कूर्पासक रँगा गया है और उसपर भी बड़ी बुँदकियाँ डाली गई हैं। फलक ७५ (गुफा १) के चित्र में नर्त्तकी दो रंग का पूरी बाँह का कूर्पासक पहने है। फलक ५७ पर (गुफा १७) दम्पती के मधुपान-दृश्य में झारी लिए हुए यवनी स्त्री आधी बाँह का कर्बुर कूर्पासक पहने है [चित्र ७५]।

५. आच्छादनक—'कुछ राजाओं के शरीर पर सुआपंखी रंग की झलक देनेवाले आच्छादनक नामक वस्त्र थे।' आच्छादनक की पहचान अपेक्षाकृत सरल है। मथुरा-संग्रहालय की कुछ मूर्त्तियों से जो सूर्य और उनके पार्श्वचरों की हैं, सासानी वेषभूषा का आवश्यक अंग एक प्रकार की छोटी हल्की चादर है, जो दोनों कंधों पर पड़ी हुई और सामने छाती पर गठियाई हुई दिखाई गई है। यही आच्छादनक है, जिसे अँगरेजी में 'एप्रन' कहा जाता है। मूर्त्ति-संख्या डी० १ और ५१३ में आच्छादनक का अंकन बिलकुल स्पष्ट और निश्चित ज्ञात होता है। अजन्ता के चित्रों में भी आच्छादनक दिखाया गया है। गुफा-संख्या एक में नागराज और द्रविडराज के चित्र में बीच में खड़े हुए खड्गधारी सासानी सैनिक के कंधों और पीठ पर लाजवर्दी रंग का आच्छादनक पड़ा हुआ है [चित्र ७६]।

---

१. 'इन यूरोपियन ड्रेस दि वेस्टकोट इज यूज्ड ऐज ए सार्ट ऑफ् अण्डर गार्मेण्ट कवर्ड बाई ए जैकेट। इन एशिया, हाउएवर, दिस शार्ट स्लीवलेस गार्मेण्ट इज वोर्न ओवर ए लाँग फुल स्लीव्ड कैफ्टन ऐज ऐन ओवर गार्मेण्ट......' ट्वेन्टी-टू वेस्टकोट्स ऑफ् दि ऑर्डिनरी काइण्ड हैव बीन ब्राट होम फ्रॉम मंगोलिया। दे फाल इन टू थ्री ग्रूप्स—१. वेस्टकोट्स विथ क्लोसिंग टू दि राइट ड्यू टु ओवरलैपिंग, २. वेस्टकोट्स विथ सेण्ट्रल ओपेनिंग एण्ड ३. वेस्टकोट्स विथ लूज फ्रन्ट-पार्ट।—हेनी हेराल्ड हेन्सन, मंगोल

ऐसा ज्ञात पड़ता है कि नीजियदी कंचुक, स्तवरक के वारबाण, चीनचोलक और कूर्पासक इन चार विभिन्न शब्दों के द्वारा बाण ने चार भिन्नभिन्न देशों के पहनावों का वर्णन किया है। गोरे शरीर पर लाजवर्दी रंग का कंचुक पहननेवाले ईरानी (ईरान के दक्षिण-पश्चिमी भाग के) लोग थे। स्तवरक का वारबाण पहननेवाले सासानी या पहलव उत्तरपूर्वी ईरान और वाह्लीक-कपिशा (अफगानिस्तान) के लोग थे। चीनचोलक का पहनावा स्पष्ट ही चीनियों का था, जिसका परिचय भारतवासियों को मध्यएशिया के स्थल-मार्ग के यातायात पर चीनी तुर्किस्तान और चीन की पश्चिमी सीमा के संधिप्रदेश में हुआ होगा। कूर्पासक पहनावा मध्यएशिया या चीनी तुर्किस्तान में बसे हुए उइगर तुर्कों और हूणों से इस देश में आया होगा। जैसा आगे ज्ञात होगा, शिरोभूषा के वर्णन में भी बाण ने देशभेद से विभिन्न पहनावों का उल्लेख किया है।

इसी प्रसंग में बाण ने राजाओं के शस्त्र, आभूषण और शिरोभूषा के संबंध में भी कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ दी हैं। उनके शरीर कसरती थे। नियमित व्यायाम के कारण चरबी छँट जाने से पतले बने हुए कटिप्रदेश में सुन्दर पटके बँधे हुए थे: व्यायामाल्लुप्तपार्श्वप्रदेशप्रविष्टचारुशस्तैः (२०७)। शस्त का अर्थ शंकर ने पट्टिकाडोर, अर्थात् पटका किया है। कमर में पटका बाँधने की प्रथा मध्यकाल के बहुत पूर्व गुप्तकाल में ही चल चुकी थी। किसी-न-किसी रूप में पटका बाँधना उदीच्यवेश का, जो शकों के साथ यहाँ आया, आवश्यक अंग था। राजा लोग कानों में कई प्रकार के आभूषण पहने हुए थे, जैसे लोल या हिलते हुए कुंडल, पत्रांकुर कर्णपूर और कर्णोत्पल। चलते समय राजाओं के हार इधर-उधर हिलते हुए कभी कान में लटकते हुए कुंडलों में उलझ जाते थे; तब साथ के परिजन शीघ्रता से उन्हें सुलझा देते थे। कुछ राजा कानों में फूल-पत्तियों के कटावों से युक्त पत्रांकुर कर्णपूर पहने हुए थे और उनके सिर पर सामने की ओर अलकों को यथास्थान रखने के लिए बालपाश नामक आभूषण सुशोभित था। बालपाश सोने की लम्बी पत्ती थी, जिसमें सामने की ओर मोतियों के झुग्गे और मुक्ताजाल (मोतियों के जाले या संतानक) लटकते थे [चित्र ७७]। अजन्ता के चित्रों में इस प्रकार के बालपाश प्रायः पाये जाते हैं। नागराज और द्रविड़राज (गुफा १)[1] दोनों के सिर पर बालपाश बँधे हुए हैं, जिनमें मोतियों के जाले और झुग्गे स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। इसी चित्र में अन्य पात्रों के सिर पर भी बालों को बाँधने के लिए सुनहली पट्टी दिखाई गई है, किन्तु उसके मोतियों के जाले और झुग्गे नहीं हैं, केवल बीच में सीमन्त से लटकता हुआ एक झुग्गा दिखाया गया है। अमरकोश में बाल-पाश या बालपाश्या (बालों को यथास्थान रखनेवाला आभूषण) का पर्याय पारितथ्या भी है। माथे के चारों ओर घूमी हुई होने के कारण बालपाश का नाम पारितथ्या पड़ा। यह गुप्तकालीन नया शब्द था, जिस प्रकार चतुःशाल के लिए नया शब्द संजवन प्रचलित हुआ था। सोने की पतली पत्ती से बालों को बाँधने का रिवाज सिंधु-सभ्यता में भी था।

पत्रावली का अलंकरण बना रहता था [चित्र ७८]।

कुछ राजा कानों में कर्णोत्पल पहते थे। उनके कमलनाल सिर पर बँधे उष्णीष-पट्ट के नीचे खोंसे होने के कारण अपनी जगह स्थिर थे। उष्णीषपट्ट बाण की समकालीन वेषभूषा का पारिभाषिक शब्द था। यह कपड़े का नहीं, बल्कि सोने का बना हुआ होता था, जो उष्णीष या शिरोभूषा के ऊपर बाँधा जाता था। केवल राजा, युवराज, राजमहिषी और सेनापति को सिर पर पट्ट बाँधने का अधिकार था। पाँचवें प्रकार का पट्ट प्रसादपट्ट कहलाता था, जो सम्राट् की कृपा से किसी को भी प्राप्त हो सकता था। बाण ने अन्यत्र यशोवती के लिए महादेवी-पट्ट का उल्लेख किया है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, बृहत्संहिता (४८-२-४) में इन पाँचों प्रकार के पट्टों की लंबाई, चौड़ाई और शिखा या कलँगियों का विवरण दिया हुआ है।

कुछ राजाओं के सिर केसरिया रंग के कोमल उत्तरीयों से ढके थे, और कुछ दूसरे नृपति क्षौम के बने खोल पहने थे जिनमें चूडामणि का खंड खचित या टँका हुआ था। खोल का पर्याय शिरस्त्र दिया गया है (शंकर)। वस्तुतः, संस्कृत खोल ईरानी कुलाह का रूपान्तर है। केसरिया रंग का उत्तरीय या बड़ा रूमाल सिर पर लपेटे हुए राजाओं के वर्णन में भी बाण दो विभिन्न देशों की वेषभूषा का वर्णन कर रहे हैं, जैसा कि विभिन्न प्रकार के कोटों के वर्णन में कहा जा चुका है। ये दो वेष चीन और ईरान के पहनावे को सूचित करते हैं। सौभाग्य से अजन्ता[1] के नागराज और द्रविडराज-संवाद नामक चित्र में दोनों प्रकार की वेषभूषा पहने हुए दो परिजन अंकित किये गये हैं। एक ईरानी है, जो सिर पर खोल, अर्थात् कुलहटोपी या बुदबुदाकार शिरस्त्र पहने है [चित्र ७६]। इसकी मुखाकृति, वेषभूषा और तलवार की मूठ, अंखिया और गट्टे ईरानी हैं। दूसरा पुरुष जो दाहिना ओर पीछे खड़ा हुआ है, चीन देश का है और उसके सिर पर जैसा कि बाण ने लिखा है, कुंकुम या केसर से रंगा हुआ रूमाल बँधा है [चित्र ८०]।

इसी प्रसंग में तीसरी प्रकार की शिरोभूषा को मोरपंख से बने हुए छत्र की आकृति का शेखर कहा गया है, जिसके फूलों पर भौंरे मँडरा रहे थे।[2] मायूरातपत्र या मोरपंखी छत्र के ढंग की शिरोभूषा की निश्चित पहचान तो ज्ञात नहीं, किंतु हमें यह भी पूर्वकथित दो वेषों की तरह विदेशी ही जान पड़ती है। इसका ठीक रूप अहिच्छत्रा से प्राप्त मिट्टी के खिलौनों की कुछ विदेशी आकृतियों में देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, 'अहिच्छत्रा के खिलौने' विषयक लेख के चित्र, संख्या २२३, २२७, २४२, २४३ के मस्तकों की

---

१. राजा साहब औंधकृत अजन्ता, फलक ३३, गुफा १।

२. मायूरातपत्रायमाणशेखरषट्पदलैः (२०७)। 'मायूरातपत्रायमाण' काश्मीरी प्रति का पाठ है, वही शुद्ध है, न कि मायूरपत्रायमाण। बाण ने स्वयं मायूरातपत्रों का वर्णन

शिरोभूषा देखने से बिलकुल मायूरातपत्र या मोरपंखों के बने हुए छाते का भान होता है। चित्र संख्या २२३ में तो मोरपंख के जैसे गोलचंद्रक भी अलग-अलग खड़े पंखों के निचले भाग में बने हैं।

इसके बाद हाथी और घोड़ों पर सवार राजाओं का एवं रंग-बिरंगी ढालें लिये हुए धरती छोड़कर आसमान की ओर उछलनेवाले पैदल सैनिकों का वर्णन किया गया है। रंग-बिरंगी झूलों (शारिकशारि) से ढके हुए जवान पट्ठे हाथियों (वेगदंड) पर सवार राजा लंबी दूरी तय करके आये थे।[1] हाथियों की इस टुकड़ी के पीछे चारभट सिपाहियों की पैदल सेना थी। वे लोग चडुल (चंचल) एवं डामर, अर्थात् जान हथेली पर लेकर लड़नेवाले और मरने-मारने पर उतारू थे। चारभट पैदल सेना की टुकड़ी का उल्लेख प्रायः दानपत्रों में आता है, जिनमें राजा की ओर से यह ताकीद की जाती थी कि दान में दिये हुए अग्रहार गाँव में ऐसे सिपाही प्रवेश न करें। आगे चलकर ये केवल डामर ही कहलाने लगे। डामरों के उत्पातों का उल्लेख कल्हण की राजतरंगिणी में प्रायः मिलता है। काशी की तरफ बरात के जुलूस में तलवार लिये हुए कुछ लड़बैये अभी तक चलते हैं, जिन्हें इस समय बाँका कहते हैं। हमारी सम्मति में ये लोग प्राचीन डामरों की ही नकल हैं। बरात का जुलूस फौजी जुलूस के ढंग पर बनता है, जिसमें गाजा-बाजा, कोतलघोड़े, झंडियाँ, निशान, हाथी, घोड़े, ऊँट, धौंसे आदि रहते हैं। अतएव, बाँकों को डामर चारभटों के प्रतिनिधि मानना संभव है।

बाण ने लिखा है कि डामर सिपाही हाथों में गोल ढाल (चर्ममंडल) लिये हुए थे। ये ढालें चितकबरे कार्दरंग चमड़े की बनी हुई थीं।[2] भास्करवर्मा के भेजे हुए भेंट के सामान की सूची में भी सुन्दर गोल आकार की कार्दरंग ढालों का उल्लेख हुआ है, जो सुनहले पत्तों के कटाव से सजी हुई थीं।[3] कार्दरंग पर टिप्पणी करते हुए टीकाकार शंकर ने लिखा है कि कार्दरंग एक देश का नाम था (२१७)। श्रीसिलवां लेवी और प्रबोधचन्द्र बागची ने दिखाया है कि कार्दरंग भारतीय द्वीपसमूह (हिंदेशिया) के अन्तर्गत एक प्रसिद्ध द्वीप था, जो कार्दरंग या चर्मरंग भी कहलाता था।[4] मंजुश्रीमूलकल्प में हिन्देशिया के द्वीपों के नामों की गिनती में सबसे पहले कर्मरंग का उल्लेख है।[5]

---

१. मार्गागतशारिवाहवेगदण्डैः। वेगदंड=तरुणहस्ती (शंकर, २०७)।

२. चञ्चच्चामरकिर्मीरकार्दरङ्गचर्ममण्डलमण्डनोड्डीयमानचडुलडामरचारभटभरितभुवनान्तरैः (२०७)।

३. रुचिरकाञ्चनपत्रभङ्गुराणामतिवन्धुरपरिवेशानां कार्दरङ्गचर्मणां सम्भारान् (२०७)।

४. प्रि आर्यन ऐंड प्रि-ड्रैवीडियन इन इंडिया (भारत में आर्य और द्रविडों से पूर्वकाल की परम्पराएँ), पृ० १०६।

वराहमिहिर ने बृहत्संहिता (१४।९) में आग्नेय दिशा के द्वीपों का वर्णन करते हुए चर्मद्वीप का नाम भी लिखा है। कर्मरंग का ही एक नाम नागरंग द्वीप भी था।

कार्दरंग द्वीप की ढालें गोल होती थीं। बाण ने उसके लिए बन्धुरपरिवेश (सुन्दर घेरेवाली) शब्द का विशेष प्रयोग किया है (२१७)। इतना और कहा गया है कि इन ढालों के चारों ओर चमचमाती हुई छोटी-छोटी चौरियाँ (चञ्चचामर) लगी हुई थीं। यही उनकी सुन्दरता का कारण था। काले चमड़े पर रंगबिरंगी चौरियों के कारण ढालें चित-कबरी (किर्मीर) लग रही थीं। ढालों की सजावट के लिए उनके गोल घेरे के किनारे पर फुदनों की तरह छोटी छोटी चौरियाँ लगाई जाती थीं। बाण की लगभग समकालीन महिषासुरमर्दिनी की एक अहिच्छत्रा से प्राप्त मूर्ति में इस प्रकार की चौरियाँ स्पष्ट दिखाई गई हैं, जिससे बाण का अर्थ समझने में सहायता मिलती है [चित्र ८२]।[1]

कुछ राजा लोग सरपट चलते हुए कंबोज देश के तेज घोड़ों पर सवार थे। वे सैकड़ों की संख्या में सफ बाँधकर चल रहे थे। उनके सुनहले साज (आयान—अश्वभूषण) झमाझम बजते हुए अपने शब्द से दशों दिशाओं को भर रहे थे।[2]

सैकड़ों की संख्या में तड़ातड़ बजते हुए नगाड़ों का घोर शब्द कानों को फोड़े डालता था : निर्दयाहतलम्बापटहशतपटुरवबधिरीकृतश्रवणविवरैः (२०७)। लम्बापटह को शंकर ने तमिला, अर्थात् तबला कहा है। ये गले में लटकाकर चलते हुए बजाये जाते थे, इस कारण बाण ने इन्हें लम्बापटह और तन्त्रीपटहिका (१३१) कहा है। दरा (कोटा) के गुप्तकालीन मन्दिर के मुखपट्ट पर इस प्रकार के लम्बापटह या तासे का चित्रण हुआ है [चित्र ३७]।[3]

ऐसे अनेक राजाओं से, जिनके नाम पुकार-पुकारकर बताये जा रहे थे, राजद्वार भरा हुआ था।

अगले दिन सूर्योदय हो चुकने पर बार-बार शंखध्वनि होने लगी, जो इस बात की सूचक थी कि अब सम्राट् सेना का मुआयना करके कमान ग्रहण करेंगे। सेना के व्यूहबद्ध प्रदर्शन या परेड के लिए समायोग[4] शब्द प्रयुक्त हुआ। संज्ञा-शंख की ध्वनि होने के कुछ ही देर बाद सम्राट् सुन्दर सजी हुई खासा हथिनी पर, जो पहली ही बार सैनिक प्रयाण पर निकली थी, राजभवन से बाहर आये। उनके सिर पर मंगलातपत्र लगा था, जिसका डंडा बिल्लौर का था तथा जिसके ऊपर माणिक्यखंड जड़े हुए ऐसे लगते थे, मानों सूर्य के उदय को देखकर वह कोप से तमतमा उठा हो। सम्राट् नवीन नेत्र या रेशम का बना हुआ केले

---

१. अहिच्छत्रा के खिलौने, एंश्येंट इंडिया, अंक ४, पृ० १३४, चित्र १२३। और भी, देवगढ़ के मंदिर की मूर्तियों में इस प्रकार चौरियों से सजी हुई ढाल का सुन्दर अंकन मिलता है। (देवगढ़-एलबम, चित्र १०३)।

शती का प्रारम्भ, पृ० २१) और जायसी के पद्मावत में आया है।[1] कम आयु में ही वे इन्द्र की पदवी पर आसीन हो गये थे। उनके दोनों ओर चँवर डुलाये जा रहे थे और मस्तक पर चूडामणि सुशोभित थी। होठों पर ताम्बूल की लाली थी, गले में बड़ा लम्बा हार (महाहार) सुशोभित था। तिरछी भौंह से मानों तीनों लोकों के राजाओं को करदान का आदेश दे रहे थे। अपने भुजदंडों से मानों उन्होंने सप्तसमुद्रों की रक्षा के लिए ऊँचा परकोटा खींच दिया था। सारी सेना की आँखें उनपर लगी थीं। सब राजा उनके चारों ओर समुत्सारण (भीड़ को हटाकर सम्राट् के चारों ओर अवकाश-मंडल बनाने का काम) कर रहे थे। सम्राट् के आगे-आगे आलोक शब्द का उच्चारण करनेवाले दंडधर जनसमूह को हटाते हुए चल रहे थे। दंडधर लोग व्यवस्था-स्थापन में बड़ी कड़ाई का व्यवहार करते थे।[2] वे अपने अधिकार के रोबीलेपन से शीघ्रतापूर्वक इधर-उधर आ-जा रहे थे। उनके भय से लोग चारों ओर छिटक रहे थे। उनका अनुशासन इतना कड़ा था, मानों वायु को भी विनय की शिक्षा दे रहे थे, सूर्य की किरणों को भी वहाँ से हटा रहे थे, और सोने की वेत्र-लताओं के प्रकाश से मानों दिन का आना भी उन्होंने रोक दिया था।

इस प्रकरण में बाण ने कई पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है, जिनका सांस्कृतिक महत्त्व है, जैसे सकलभुवनवशीकरणचूर्ण, जिसके विषय में उस समय जनता में विश्वास जम गया था, जैसा कि अष्टांगसंग्रह के 'निःशेषलोकवशीकरण सिद्धयोग' के उल्लेख से ज्ञात होता है। सिन्दूरच्छुरितमुद्रा, अर्थात् सिंदूर में भरकर लगाई जानेवाली मुद्रा या राजमोहर वही थी, जिसका प्रयोग शुरू में कपड़े पर लिखे हुए दानपट्टों पर किया जाता था। महाहार वह बड़ा हार था, जो प्रायः मूर्त्तियों में दोनों कन्धों के छोर तक फैला हुआ मिलता है [चित्र ८३]। आलोक वह शब्द था, जिसे उच्चारण करते हुए प्रतिहार लोग राजा के आगे चलते थे।[3]

सर्वप्रथम राजा लोग आ-आकर हर्ष के सामने प्रणाम करने लगे। कुछ सोने के मुकुट, जिनके बीच में मणि जड़ी थी, कुछ फूलों के शेखर और कुछ चूडामणि पहने थे। प्रणाम करते हुए राजाओं को भिन्न-भिन्न प्रकार से सम्राट् सम्मानित कर रहे थे। 'किसी को केवल तिहाई खुले हुए नेत्रों की दृष्टि से, किसी को कटाक्ष या अपांगदृष्टि से, किसी को समग्र दृष्टि या भरपूर आँखों से देखकर, किसी को और भी अधिक ध्यान से देखते हुए,

---

१. चंदनौटा खीरोदक फारी। बाँस पोर झिलमिल कै सारी।
जायसी के शुक्लजी-संस्करण में (पृ० १५८, ३२।४४।७) में खरदुक पाठ है, जो अशुद्ध है। श्रीलक्ष्मीधर-कृत संस्करण (पृ० ६२) में खिरोदक पाठ टिप्पणी में दिया है, जो शुद्ध और मूल पाठ था। श्रीमाताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित संस्करण में खीरोदक शुद्ध पाठ दिया गया है।

जिसने मोह कुछ और [illegible]), किसी को और अधिक सुख की प्रसन्नता (परिहास) में, किसी को चतुराई-भरे दो-एक शब्दों से (छेकालाप), किसी को कुशल-प्रश्न पूछकर, किसी को प्रणाम के उत्तर में स्वयं प्रणाम करके, किसी को अत्यन्त बढ़े हुए भ्रू विलास और वीक्षण-रुचि से, और किसी को आज्ञा देकर। इन-इन रूपों में राजाओं के मान, पद और योग्यता के अनुसार उनके मानधन प्राणों को मानों वह मोल ले रहा था। राजाओं ने जो कुछ उसे दिया था, भिन्न-भिन्न रूपों में वह मानों उनका मूल्य चुका रहा था। बाण पहले कह चुके हैं कि सम्राट् के साथ संबंद्ध राजाओं की कार्यानुसार अनेक कोटियाँ थीं; जैसे करदान, चामरग्रहण, शिर से नमस्कार, आज्ञाकरण, पदधूलि लेना, अंजलिबद्ध प्रणाम, वेत्रयष्टि-ग्रहण, चरणनखों में प्रणाम इत्यादि (१६४)। भिन्न-भिन्न कोटियों के अनुसार हर्ष भी राजाओं के साथ यथोचित सलूक कर रहे थे।

जिस समय राजाओं का प्रस्थान शुरू हुआ, बाजों की प्रतिध्वनि दिशाओं में व्याप्त हो गई। मैमन्त हाथियों की मदधाराएँ बहने लगीं, सिन्दूर-धूलि उड़ने लगी, दुन्दुभियों की ध्वनि व्याप्त हो गई, चँवर-समूह चारों ओर डुलाये जाने लगे, घोड़ों के मुख का फेन चारों ओर उड़ने लगा, सुनहले दंडवाले छत्रों से सफेद तगर के फूलों की भाँति दिशाएँ भर गईं, मुकुटमणियों से दिन और खिल उठा, घोड़ों के सुनहले और रुपहले साजों की खनखनाहट से कान फूटने लगे।[1] चारों ओर दृष्टि फेंककर सम्राट् ने जब अपनी सेना को देखा, तब राजद्वार के समीप से प्रस्थान करते हुए स्कन्धावार को देखकर वह स्वयं भी आश्चर्य में डूब गया।[2]

चलते हुए कटक में अनेक संलाप सुनाई पड़ रहे थे—'चलो जी।' 'भाई देर क्यों लगा रहे हो।' 'अरे, घोड़ा तंग कर रहा है।'[3] 'भले आदमी, पाँव टूटे की तरह रेंग रहे हो, और ये आगेवाले लोग हमारे ऊपर गिरे पड़ते हैं।' 'रामिल, देखो, कहीं धूल में गायब न हो जाओ।' 'वाह, फटे हुए थैले से सत्तू कैसे गिर रहे हैं।'[4] 'अरे भाई, ऐसी हड़बड़ी क्या कर रहे हो?' 'अबे, बैल लीक छोड़कर कहाँ घोड़ों के बीच भागा जाता है।' 'अरी धीवरी, कहाँ घुसी पड़ती है।' 'ओ हथिनी की बच्ची, हाथियों में जाना चाहती है।' 'वाह! चने की बोरी कैसी टेढ़ी होकर भर रही है।'[5] 'मैं चिल्ला रहा हूँ, फिर भी तू नहीं सुनता।' 'अरे' गड्ढे में गिरोगे क्या?' 'ओ वकवादीन्, चुपचाप बैठ।' 'ए काँजीवाले, तेरा घड़ा तो फूट गया।'[6] 'अरे, मट्ठर पड़ाव पर पहुँचकर ही गन्ना चूस लेना।' 'बिगड़े,

---

१. राजतैर्हिरण्मयैश्च मण्डनकभाण्डमण्डलैः ह्रादमानैः (२०६)।
मण्डनकभाण्ड=घोड़ों को माँड़ने, अर्थात् सजाने का साज-सामान, जो सोने-चाँदी का बनता था और चलने से खन-खन शब्द करता था।

२. स्वयमपि विसिष्मिये बलानां भूपालः सर्वतो विक्षिप्तचक्षुश्चाराजद्वारादावासस्थानसकाशात् प्रतिष्ठमानं स्कन्धावारम् (२१०)।

३. [illegible]

बैल को सँभालो।' 'लौंडे (चेट), कबतक वेर बीनता रहेगा, चल, दूर जाना है।' 'द्रोणक आज ही तित्तिर-बित्तिर करने लगा, अभी तो सेना की यात्रा लंबी पड़ी है।' 'अकेले इस दुष्ट को छोड़कर हमारी पंगत मिली हुई चल रही है।'[1] 'आगे रास्ता ऊबड़खाबड़ है।' 'ओ बुड्ढे, कहीं राब की गगरी न फोड़ डालना।' 'गंडी, चावलों का बोरा भारी है, बैल के मान का नहीं।' 'अबे टहलुवे, सामने उड़द के खेत से बैलों के लिए एक पूली तो दराँत से जल्दी काट ले।'[2] 'कौन जाने यात्रा में चारे का क्या प्रबन्ध रहेगा।'[3] 'धार (धाव), बैलों को हटाये रहो, इस खेत में रखवाले हैं।' 'सग्गड़ गाड़ी लटक गई, तगड़ा (धुरंधर) धौला बैल उसमें जोतो।' 'ए पगले, स्त्रियों को रौंद डालेगा? क्या तेरी आँखें फूट गई हैं?'[4] 'धत तेरे हस्तिपक की! मेरे हाथी की सूँड़ पर चढ़ा हुआ खिलवाड़ कर रहा है।' 'ओ पियक्कड़, धक्कामुक्की के फेर में पड़कर लगे कीचड़ में लोटने।'[5] 'ऐ भाई, दुःखियों के साथी, कीचड़ में फँसे बैल को निकाल लो।' 'छोकरे, इधर भाग आ, हाथियों के भीड़-भड़क्के में पड़ गया, तो काम तमाम हो जायगा।' इस प्रकार कटक में तरह-तरह के बोल सुनने में आ रहे थे।

और भी, बाण ने प्रयाण करती हुई सेना के दूसरे पक्ष का वर्णन किया है। सेना के प्रयाण से नौकर-चाकर, जनता, किसान, देहात के लोगों आदि पर जो बीतती थी, उनके दुःख सुख की मिली-जुली झाँकी बाण ने प्रस्तुत की है। एक जगह छुटभैये नौकर दाँत फाड़ रहे थे और मुफ्त में मिलनेवाले अन्न से मुटाकर खिलखिलाते हुए कटक की प्रशंसा के पुल बाँध रहे थे। घोड़े-हाथियों के लिए जो हरी फसल (सस्यग्रास) कटवाकर मँगाई गई थी, उसमें से जो बच गया था, उसे मींड़कर मनचाहा आहार प्राप्त करके बढ़िया

---

१. विनैकेन निष्कुरकेण निष्टेयमस्माकम् (२१०)।
इस वाक्य का अर्थ अस्पष्ट है, वजन के अनुसार ऊपरी अर्थ किया गया है। काश्मीरी प्रतियों में और निर्णयसागर मूल ग्रन्थ में 'निष्क्रेयम्' पाठ है, किंतु फ्यूरर ने 'निष्ठेयम्' पाठान्तर दिया है। टीकाकार शंकर ने भी 'निष्ठेयम्' पाठ मानकर निष्ठा का श्लेष अर्थ किया है, जिसका तात्पर्य पंक्तिबद्ध सैनिकों का एक दूसरे से मिलकर चलना ज्ञात होता है। निष्कुरक गाली की तरह से है, जिसका अर्थ 'शरीर से निर्दय' किया जा सकता है, अर्थात् स्वयं तेज चलकर दूसरों को कष्ट देनेवाला। यदि 'निष्क्रेयम्' पाठ ही प्राचीन माना जाय, तो अर्थ इस प्रकार होगा—इस एक दुष्ट को छोड़कर और हम सब ठीक (कर्त्तव्य से उऋण) हैं।

२. दासकमाषीणादमुतो द्राग् दात्रेण मुखघासपूलकं लुनीहि। माषीण=माष या उड़द का खेत। मुखघास=वह चारा, जिसके मुट्ठे-दो मुट्ठे नोंचकर जुते हुए बैलों को खिला दिये जायँ।

३. को जानाति यवसगतं गतानाम् (२१०)। इसका अर्थ कावेल और कणे दोनों ने साफ

पैदल ही हाथी से भिड़ जाते थे, चित्र ८४)[2], बठर (अहमक या उजड्ड), लम्बन (गर्दभदास या लद्दू नौकर, जिससे गधे की तरह सब काम लिया जा सके), लेशिक (घसियारे, घोड़ों के टहलुवे), लुंठक (लूटपाट करनेवाले), चेट (छोटे नौकर-चाकर), शाट (धूर्त या शठ), चंडाल (अश्वपाल या घोड़ों को तोबड़ों में दाना खिलानेवाले और सफाई करनेवाले नौकर)। इस श्रेणी के लोग तो कटक-जीवन से खुश थे; पर बेचारे बुड्ढे कुलपुत्र सेना की नौकरी से दुःखी थे। किसी तरह गाँवों से मिले हुए मरियल बैलों पर सामान लादकर बिना नौकर-चाकर के वे घिसट रहे थे और स्वयं अपने ऊपर सामान लादकर चलने के कष्ट और चिन्ता से सेना को कोस रहे थे—'बस, यह यात्रा किसी तरह पूरी हो जाय, फिर तो तृष्णा का मुँह काला; धन का सत्यनाश; नौकरी से भगवान् बचाये। सब दुःखों की जड़ अब इस कटक को हाथ जोड़ता हूँ।'

कहीं काले कठोर कंधों पर मोटा लट्ठ रखे हुए राजा के वारिक नामक विशेष अधिकारी, सम्राट् के निजी इस्तेमाल की विविध सामग्री, जैसे सोने का पादपीठ, पानदान, तांबूल-करंक, पानी का कलसा, पीकदान और नहाने की द्रोणी को ले चलने की हेंकड़ी में इठलाते हुए लोगों को धक्के देकर बाहर निकाल रहे थे।[3]

रसोई के लिए भाँति-भाँति का सामान ढोनेवाले भारिक या बोझिये भी जनता के ऊपर हेंकड़ी दिखाने में कम न थे। वे आगे आनेवाले लोगों को हटाते हुए चलते थे। उनमें से कुछ सूअर के चमड़े की बद्धियों में बकरे लटकाये चल रहे थे। कुछ हिरनों के

---

१. स्वेच्छामृदितोद्दामसस्यघासविघससुखसम्पन्नान्नपुष्टैः (२११)। सस्यघास=हरी फसल, जिसमें दाने पड़ गये हों; वह सेना में जानवरों को खिलाने के लिए लाई गई थी। उसका खाने से बचा हुआ भाग विघस था (विघस=भोजनशेष, अमरकोश)। मटर की फलियों, बूट, हरे जौ, गेहूँ की बालियों को मींडकर (स्वेच्छामृदित) दाने निकालकर मंडल में बैठे हुए मेंठ, वंठ आदि फंके मार रहे थे। उद्दाम=प्रभूत, मनचाहा, अर्थात् पीछे बचा हुआ अन्न भी काफी मात्रा में था। सुखसम्पन्नान्न=सुख या मजे के साथ मिला हुआ अन्न।

२. अहिच्छत्रा से प्राप्त मिट्टी के एक गोल डिब्बे पर इस प्रकार के शरीर-बल से युक्त हाथी का मुकाबला करते हुए एक वंठ का चित्र दिया गया है; शरीर पर चढ़े मांसकट से वह भी देखने में हाथी-जैसा ही लगता है (अहिच्छत्रा के खिलौने, एंश्येंट इंडिया, भाग ४, पृ० १६१, चित्र २६१)।

३. सम्राट् का निजी सामान (पार्थिवोपकरण), क. सौवर्णपादपीठी, ख. पर्यंक, ग. करंक, घ. कलश, ङ. पतद्ग्रह च. अवग्राह (स्नानद्रोणी)। वारिक-सम्राट् के निजी सामान और माल-असबाब की रक्षा के उत्तरदायी विशेष कर्मचारी। राजा विष्णुसेन के शिलालेख (५९२ ई०) में कई बार वारिक कर्मचारियों का उल्लेख आया है, जो सम्राट् की निजी भूमि से प्राप्त अन्नादि की सार-सँभाल रखते थे (प्रोसिडिंग्स बम्बई ओरियंटल

पर मोहर लगा दी गई थी। सामान ढोनेवाले अंगीठी (तलक), तवा (तापक), तई (तापिका), सलाखें (हस्तक), राँधने के लिए ताँबे के बने बरतन (ताम्रचरु), कड़ाही आदि बरतनों से भरे हुए टोकरे लेकर चल रहे थे। कमजोर बैलों को हाँकने के लिए गाँवों से पकड़कर जो नौकर (खेट-चेटक) बुलाये गये थे, वे सब कुलपुत्रों पर ताना कसते हुए कह रहे थे—'मेहनत हम करेंगे, लेकिन फल के समय दूसरे ही उचक्के आ धमकेंगे।' कहीं राजा को देखने की इच्छा से गाँवों के लोग दौड़कर आ रहे थे। मार्ग में जो अग्रहार गाँव पड़ते थे, उनके अनपढ़ आग्रहारिक लोग मंगल के लिए ग्राम-महत्तरों के हाथों में जलकुंभ उठवाये हुए आ रहे थे। कुछ लोग दही, गुड़, शक्कर और पुष्पों की करंडियाँ पेटियों में बन्द करके भेंट में जल्दी से ला रहे थे। कुछ लोग क्रुद्ध कठोर प्रतीहारियों के डराने-धमकाने से दूर भागते हुए भी गिरते-पड़ते राजा पर ही अपनी दृष्टि गड़ाये थे। वे पहले भोगपतियों की झूठी शिकायत कर रहे थे, या पुराने सरकारी अफसरों की सराहना कर रहे थे, या चाट-सैनिकों के पुराने अपराधों को कह-सुना रहे थे। दूसरे लोग सरकारी कर्मचारियों से मन मिलाकर 'सम्राट् साक्षात् धर्म के अवतार हैं', इस प्रकार की स्तुति कर रहे थे। किन्तु, कुछ लोग ऐसे थे, जिनकी पकी खेती सेना के लिए उजाड़ दी गई थी। वे उसके शोक में अपनी गृहस्थी के साथ बाहर निकलकर प्राणों को हथेली पर रखे निडर होकर कह रहे थे—'कहाँ है राजा? किसका राजा? कैसा राजा?' इस प्रकार राजा को बोली मार रहे थे।

सेना के चलने से जो कलकल ध्वनि हुई, उससे जंगल में छिपे हुए खरगोशों का झुंड बाहर निकल आया। बस डंडा लिये हुए तेज व्यक्तियों के समूह उनपर टूट पड़े और जैसे खेतों के ढेले तोड़े जाते हैं, वैसे उन्हें मारने लगे : गिरिगुडकैरिव हन्यमानैः। वे बेचारे जान लेकर इधर-उधर भागे, पर बहुतों को भीड़ ने सँभाल लिया और बोटी-बोटी नोच ली। लेकिन, कुछ खरहे टाँगों के बीच में घुसकर निकल जाने में ऐसे होशियार थे कि घुड़सवार के कुत्तों को भी अपनी टेढ़ी-मेढ़ी भगदड़ से झाँसा देकर निकल भागे[2], यद्यपि उनपर चारों

---

१. क्व राजा=कहाँ है राजा, अर्थात् क्या यह राजा के योग्य है। कुतो राजा=कहाँ का राजा चलके आया है, अथवा आया कहाँ का राजा। कीदृशो वा राजा=कैसा है राजा, अथवा ऐसा ही होता है राजा क्या (२१२)।

२. इसमें खरगोशों के झुंड के शिकार का सजीव वर्णन है। जैसे ही खरहों का झुंड निकला, डंडा लिये हुए व्यक्ति उनपर टूट पड़े और उन्हें पद-पद पर ऐसे कूटने लगे, जैसे खेत के ढलों को तोड़ते हैं। इतने में वे छितराकर भागे (इतस्ततः सञ्चरद्भिः); तब भीड़ ने कुछ को एक साथ दबोचकर काम तमाम कर दिया : युगपत्परापतितमहाजन-ग्रस्तैस्तिलशो विलुप्यमानैः। लेकिन, खरगोश भी पक्के थे, उनमें से कितने ही जानवरों की टाँगों के बीच में घुसकर निकल भागने में चतुर थे और घुड़सवारों के

के नालों का जाल-सा उनके शरीर पर पूरा हुआ था। घोड़ों पर कसी हुई पुरानी काठी के पीछे की ओर उनके दाँत लटक रहे थे। पलान के नीचे बची-खुची रद्दी ऊन के टुकड़ों से जमाये हुए गुदगुदे और मैले नमदे घोड़ों की पीठ पर पड़े हुए थे।[1]

धार्मिक लोग हिलता हुआ चोलक (एक प्रकार का ऊँचा कोट) पहने हुए थे। उन्हें प्रभु-प्रसाद के रूप में पटच्चर-चीरिका या कपड़े को फाड़कर बनाया फीता सिर से बाँधने को मिला था, जिसके दोनों छोर पीछे की ओर फहरा रहे थे। इसी को चीरिका भी कहा जाता था। ऊपर लेखहारक मेखलक के वर्णन में पीठ पर फहराते हुए पटच्चर कर्पट का उल्लेख हुआ है (५२)। हाथियों के वर्णन में इसी प्रकार का चीरा बाँधनेवाले कर्मचारियों को कर्पटिन् कहा गया है (१९६)। यह चिह्न सम्राट् की कृपा का सूचक समझा जाता था [चित्र ६२]।

कटक में एक तरफ कुछ सवारों की टुकड़ी आनेवाले गौडयुद्ध के विषय में चबाव कर रही थी।[2] कहीं सब लोग दलदल को पाटने के लिए घास-फूँस के पूले काटने में जुटे थे। कहीं उजड्ड ब्राह्मण डर से भागकर पेड़ के ऊपर चढ़े हुए गाली-गलौज कर रहे थे और नीचे खड़े दंडधर बेंत से उन्हें धमका रहे थे। वस्तुतः, बाण ने यहाँ इस बात की ओर संकेत किया है कि जिन ब्राह्मणों को राजाओं से अग्रहार में गाँव मिले हुए थे, उनके दानपट्टों की यह शर्त थी कि उनपर सरकारी सेनाओं के पड़ाव या उधर से गुजरने के कारण किसी तरह का लाग, दंड-कर या सामग्री देने का बोझ न पड़ेगा। प्राचीन प्रथा के अनुसार अग्रहार में दिये हुए गाँव सब लाग-भाग से विशुद्ध माने जाते थे। इस समय सैनिक-प्रयाण के कारण उन गाँवों से भी दंडधर लोग कुछ वसूल करना या ऐंठना चाहते थे। इसी पर सरकारी कर्मचारी और अग्रहारभोगी ब्राह्मणों में झगड़ा हो रहा था। वेत्री लोगों ने अपनी हेकड़ी में डराना-धमकाना चाहा, तो ब्राह्मण बिचारे डरते हुए भागकर पेड़ पर

तथापि भी आयुबल शेष रहने से कुछ बचकर भाग ही निकले। मालूम होता है कि जंगल में बसे हुए खरहों की माँद को कुदाल-फावड़ों से खोदकर उनका शिकार किया जाता था।

1. शीर्णोर्णाशकलशिथिलमलिनमलकुथैः (२१२)। मलकुथ=मलरद्दी छावरित्यर्थः (शंकर)। मलपट्टा वह नमदा हुआ, जो पलान के नीचे अब भी घोड़ों की पीठ पर बिछाया जाता है। यह गुलगुला या नरम होता है; शिथिल का अर्थ यहाँ लुजलुजा या नरम ही है। कोज में बची हुई ऊन को जमा कर नमदे बनाये जाते हैं और फिर उसमें से इच्छित लम्बाई-चौड़ाई के टुकड़े काट लिये जाते हैं। इसी को बाण ने 'शीर्णोर्णाशकल' कहा है।

2. एकान्तप्रवृत्ताश्ववारवक्रचर्च्यमाणगौडविग्रहम् (२१२)। इस वाक्य का कुछ अंश (चर्च्यमाणगौडविग्रहम्) लेखक-प्रमाद से २१२ पृष्ठ के ...

आ थके और वहाँ से अपने वाग्वाणों का प्रयोग करने लगे। इसी प्रकरण में ऊपर कहा जा चुका है कि कुछ आग्रहारिक लोग अपने गाँवों से बाहर आकर राजा का स्वागत करने के लिए दही, गुड़ और खंडशर्करा भर-भरकर बंद पेटियाँ लेकर आ रहे थे और फिर भी दंडधारी सैनिक उनको डाँट-फटकार बतलाकर और डरा-धमकाकर दूर भगा रहे थे। पुराने भोगपति और चाट-सैनिकों के जुल्मों की शिकायत करने की इच्छा रखते हुए भी गाँववालों के लिए सम्राट् तक अपना दुखड़ा पहुँचाने का कोई साधन न था। इस तरह बाण ने जनता के कष्टों की सच्ची झाँकी दी है। न केवल सैनिक-प्रयाण के समय, बल्कि हाथियों के शिकार में हाँका करने के लिए भी लोग पकड़ बुलाये जाते थे। प्रभाकरवर्द्धन की बीमारी के समय हर्षवर्द्धन को जब यकायक लौटना पड़ा, तब उसकी यात्रा के मार्ग को सूचित करने के लिए जबरदस्ती पकड़े गये आसपास के गाँवों के लोगों को रात-दिन खड़ा रहना पड़ा था।[1]

कहीं गाँव के लोग कुत्तों को घसीटकर ला रहे थे और कुलुंठक[2] उन्हें अपने फाँसों में बाँध रहे थे। गाँव के लोग सेना या शिकार के लिए बड़े कुत्तों को लुंठकों के हवाले कर रहे थे। राजपुत्र एक दूसरे से होड़ लगाकर घोड़े दौड़ाते हुए आपस में टकरा जाते थे। इस प्रकार के कटक का मुआयना (वीक्षण) करके हर्ष समीपवर्त्ती राजकुमारों के साथ अनेक आलापों का सुख लेते हुए आवास को लौटे। अभी तक वे करेणुका या हथिनी पर सवार थे। जब वह हथिनी राजमंदिर या राजकुल के द्वार पर पहुँची, तब सम्राट् ने भौंहों के इशारे से राजाओं को विदा कर दिया और राजद्वार के भीतर पहली कक्ष्या में प्रविष्ट होकर बाह्य आस्थान-मंडप या दरबारे-आम के सामने हथिनी पर से उतर गये और आस्थानमंडप में रखे हुए आसन पर जा बैठे।

इस प्रसंग में बाण ने राजाओं के साथ हर्ष के वार्त्तालाप का विवरण भी दिया है। इसमें नाना भाँति से युद्धयात्रा से पूर्व हर्ष को प्रोत्साहन दिया गया था, जैसे—'मान्धाता ने दिग्विजय का मार्ग दिखाया। उसपर चलकर अप्रतिहत रथवेग से रघु ने थोड़े ही समय में दिशाओं को शान्त कर दिया। पांडु ने अकेले धनुष से समस्त राजचक्र को अपना करद बना लिया। राजसूय-यज्ञ के समय अर्जुन ने चीन देश पार करके हेमकूट पर्वत पर गन्धर्वों को जीत लिया। विजय के मार्ग में अपने ही संकल्प का अभाव एकमात्र बाधा

---

१. पुरःप्रवृत्तप्रतीहारगृह्यमाणग्रामीणपरम्पराप्रकटितप्रगुणवर्त्मा (१५२)।

२. कुलुंठक का अर्थ शंकर ने कुत्तों को बाँधने का डंडा किया है। कोशों में यह शब्द नहीं मिलता। सम्भव है, शंकर के इस अर्थ के सामने कोई प्रामाणिक परम्परा रही हो, अथवा उसने प्रकरण के अनुसार यह अर्थ अपने मन से लगाया हो। हमारे विचार से

कर्ण, दुर्योधन, शिशुपाल, साल्व, जरासंध, जयद्रथ आदि राजा धिचपिच करके रहते रहे। युधिष्ठिर कैसे आत्मसन्तोषी थे, जिन्होंने अर्जुन की दिग्विजय होते हुए भी अपने राज्य के समीप ही किंपुरुष देश के राज्य का सहन कर लिया। चंडकोश राजा आलसी था, जिसने सारी धरती को जीत लेने पर भी स्त्रीराज्य में प्रवेश नहीं किया। तुषारगिरि और गन्धमादन पर्वतों में फासला ही कितना है ! उत्साही के लिए तुरुष्कों का देश हाथ-भर है। पारसीकों का प्रदेश बित्ता-भर है। शकस्थान खरहे के पैर का निशान-मात्र है। पारियात्र में तो सेना भेजना ही व्यर्थ है; वहाँ मुकाबले के लिए कोई दीखता ही नहीं। दक्षिणापथ उसके लिए, जो शौर्य का धनी है, सुलभ है। दक्षिणी समुद्र की हवाएँ दर्दुर पर्वत तक पहुँचकर उसकी गुफाओं को सुगन्धित करती हैं, उनमें दूरी है ही कहाँ और दर्दुर के निकट ही तो मलयाचल है, एवं मलयाचल से मिला हुआ ही महेन्द्रगिरि।

इस वर्णन में कई बातें भौगोलिक दृष्टि से महत्त्व की है। सभापर्व के अनुसार अर्जुन उत्तरी दिशा की दिग्विजय के सिलसिले में वाह्लीक, दरद और कम्बोज (बल्ख, गिलगित और पामीर) देशों को जीतकर परमकम्बोज देश (कम्बोज के उत्तर-पूर्व) में घुसा और वहाँ से ऋषिकों या यूचियों के देश में, जहाँ ऋषिकों के साथ उसका शिव और तारकासुर की भाँति अत्यन्त भयंकर संग्राम हुआ। मूल महाभारत में चीन देश का नाम न होने पर भी बाण ने अर्जुन के चीन देश जाने की बात लिखी है और वह ठीक भी है; क्योंकि यूची या ऋषिक पाँचवीं शताब्दी ई० पूर्व में, जिस समय का यह प्रकरण है, उत्तरी चीन में ही थे। इस बात का ठीक परिचय बाण के समकालीन महाभारत के विद्वानों को था कि ऋषिकों की दिग्विजय के लिए अर्जुन चीन देश तक गये थे।[१] ऋषिकों की विजय से लौटते हुए अर्जुन किंपुरुषदेश में आये और वहाँ से हाटकदेश में गये, जहाँ मानस-सरोवर था। हाटक देश तिब्बत का ही एक भाग था और वहीं हेमकूट पर्वत भी था। महाभारत में यद्यपि हेमकूट का

---

१. महाभारत, सभापर्व, २८।१। बाण ने लिखा है कि कौरवेश्वर ने द्रुम को जीत लिया था और द्रुम ने उसे कर दिया। शंकर ने कौरवेश्वर का अर्थ दुर्योधन किया है। ज्ञात होता है कि कौरवेश्वर पद अर्जुन का वाची है; क्योंकि सभापर्व २५।१ के अनुसार अर्जुन ने किंपुरुष देश में किन्नरराजद्रुम के पुत्र का राज्य जीत लिया था (दिशं किंपुरुषवासं द्रुमपुत्रेण रक्षितम्)। दिव्यावदान (पृ० ४३५ आदि) के सुधनकुमारावदान नामक कहानी में हस्तिनापुर में राजकुमार सुधन किन्नरराजद्रुम की पुत्री मनोहरा से प्रेम करके उससे विवाह कर लेता है। किसी समय यह कहानी दूर तक प्रसिद्ध थी। मध्यएशिया में खोतान से सुधन अवदान की कहानी के पत्र मिले हैं (दे० बेली, ईरानो इंडिका, भाग ४; स्कूल ऑफ् ओरियंटल स्टडीज की पत्रिका, भाग १३, १९५१, पृ० ६२१; श्रीमोतीचन्द्र : सुधन अवदान का नेपाली चित्रपट, बम्बई-संग्रहालय की पत्रिका, भाग १, १९५२, पृ० ८)।

नाम नहीं है, किन्तु बाण ने महाभारतीय भूगोल का स्पष्टीकरण करते हुए उसका उल्लेख किया है।

इस प्रकरण में अलसचण्डकोश का उल्लेख सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। श्रीसिलवाँ लेवी ने इसकी ठीक पहिचान अलसन्द या सिकन्दर से की थी।[1] सिकन्दर-सम्बन्धी आख्यानों का पूरा कथासागर ही यूनान से अलिक्सांनिया (अफ्रिका) और ईरान तक फैल गया था। उसके अनुसार सिकन्दर ने समस्त पृथ्वी जीतकर अन्त में एमेजन नामक स्त्रियों के राज्य को पत्र भेजकर विजित किया; पर स्वयं उसमें प्रवेश नहीं किया। यह स्त्री राज्य एशिया माइनर में ब्लैक सी और एजियन सी के किनारे था। यूनानी इतिहास-लेखक कर्तिअस के अनुसार जब सिकन्दर विजय करता हुआ एशिया में आया, तब एमेजन देश की रानी थलेस्त्रिस् उससे मिलने आई।[2] सिकन्दरनामा का यह एक प्रसिद्ध कथा हो गई थी कि सिकन्दर ने स्त्री-राज्य को दूर से ही अपने आधिपत्य में लाकर उसे अछूता छोड़ दिया था। उसी कहानी का उल्लेख बाण ने किया है।[3]

सातवीं शती के पूर्वार्ध में भारतवर्ष का विदेशों के साथ जो सम्बन्ध था, उसकी भौगोलिक पृष्ठभूमि बाण ने संक्षिप्त, किन्तु अपने स्पष्ट ढंग से दी है। चीनी तुर्किस्तान तुरुष्कों का देश था, जहाँ उइगुर तुर्क, जो बौद्धधर्मानुयायी थे, बसे हुए थे। वे भारतीय संस्कृति के प्रेमी तथा कला और साहित्य के संरक्षक थे। उनकी संस्कृति के अनेक प्रमाण और साहित्यिक अवशेष चीनी तुर्किस्तान की मरुभूमि के नगरों की खुदाई में मिले हैं। उधर पश्चिम में सासानी युग का ईरान देश पारसीकों का देश कहलाता था, जिनका उल्लेख रघुवंश (४।६०) में कालिदास ने भी किया है। शकस्थान ईरान की पूर्वी सीमा पर स्थित था। दूसरी शती ई० पू० में जब शक लोग हूणों के दबाव से बाह्लीक से दक्षिण की ओर हटे, तब वे पूर्वी ईरान

---

१. मैमोरियल सिलवाँ लेवी (सिलवाँ लेवी-लेखसंग्रह), पृ० ४१४। इसी फ्रेंच लेख का अँगरेजी अनुवाद (श्रीप्रबोधचन्द्र बागची-कृत) एलेक्जेंडर एंड एलेक्जेंड्रिया इन इंडियन लिटरेचर, इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, भाग १२ (१६३६),पृ० १२११—२३ पर प्रकाशित हुआ है। श्रीलेवी का कथन है कि स्यूडो-केलिस्थनीस ने सिकन्दर का कल्पना से भरा हुआ एक जीवन प्रस्तुत किया था। वही सब देशों में फैल गया। उसीके अ० २५-२६ में अमेजनों के देश को अपनी विजय के अन्त में जीतकर सिकन्दर के पश्चिम लौटने का वर्णन है। श्रीलेवी का सुझाव है कि मूल शब्द अलसन्द था, उसी का संस्कृत अलसचण्ड हुआ। जब बाण ने पूर्वपद अलस (आलसी) को अलग कर लिया, तब नाम के लिए केवल चंड बच रहा। इसी में कोश जोड़कर चंड-कोश नया नाम बाण ने बना डाला और श्लेष द्वारा उसमें नये अर्थ का चमत्कार उत्पन्न किया। चण्डकोश राजा (वह जिसमें वृषशक्ति बड़ी उग्र थी) आलसी था, जो चण्ड-कोश होते हुए भी स्त्री-राज्य में नहीं घुसा, दूर से ही लौट गया। (लेवी का लेख,

और अफगानिस्तान की सीमा पर आकर जमे। तभी से वह प्रदेश शकस्थान कहलाने लगा। प्रथम शती ई० पू० के मथुरा से मिले हुए खरोष्ठी भाषा के सिंहशीर्षक लेख में मथुरा और तक्षशिला के शक-क्षत्रपों का इतिहास बताते हुए उनके मूलदेश शकस्थान का भी उल्लेख आया है। प्रतापी गुप्तों ने शाहानुशाही शकों और उनकी मुरुंड-शाखा के राज्य को उखाड़ फेंका था और बाण के समय में शकों का कोई राज्य नहीं बचा था। फिर भी, शकस्थान यह देश का नाम बचा रह गया था, जैसा कि पश्चिम दिशा के जनपदों में वराहमिहिर ने भी (बृहत्संहिता, १४।२१) उसका उल्लेख किया है।

पारियात्र पर्वत के मालवा-प्रदेश में हर्ष का राज्य हो गया था। किन्तु, दक्षिणापथ में चालुक्यराज पुलकेशिन के कारण उसकी दाल नहीं गली।

हर्ष इस समय अपने उस महल के बाह्य आस्थान मंडप में थे, जो अस्थायी रूप से बाँस-बल्लियों से बना लिया गया था। आस्थान-मंडप में आकर उसने समायोग बर्खास्त होने (प्रास्तसमायोग) की सूचना दी और क्षणभर वहीं ठहरा। आस्थान-मंडप से ही समायोग (फौजी परेड) का आरंभ हुआ था और वहीं पर्यवसान भी हुआ। कादम्बरी में चन्द्रापीड की दिग्विजय का प्रारम्भ भी आस्थान-मंडप से ही कहा गया है।

इसी समय प्रतीहार ने आकर सूचना दी—'देव, प्राग्ज्योतिषेश्वर-कुमार ने हंसवेग-नामक अपना अन्तरंग दूत भेजा है, जो राजद्वार पर है (तोरणमध्यास्ते)।' सम्राट् ने कहा, 'शीघ्र उसे बुलाओ'। यद्यपि प्रतीहार किसी दूसरे को भेजकर भी हंसवेग को बुलवा सकता था, किन्तु बाण ने लिखा है कि हर्ष ने हंसवेग के प्रति जो आदर का भाव प्रकट किया, उससे प्रेरित होकर और कुछ अपने स्वभाव की सरलता से प्रतीहार स्वयं ही हंसवेग को लेने बाहर आया। तब हंसवेग ने भेंट की सामग्री लानेवाले अनेक पुरुषों के साथ राजमन्दिर में प्रवेश किया[1] और पाँच अंगों से पृथ्वी को छूते हुए प्रणाम किया।[2] हर्ष ने सम्मान-पूर्वक 'आओ, आओ' कहा और हंसवेग ने आगे बढ़कर पादपीठ पर अपना मस्तक रखकर पुनः प्रणाम किया। उसी मुद्रा में सम्राट् ने उसकी पीठ पर हाथ रखा। तब राजा ने तिरछे शरीर को कुछ और झुकाते हुए चामरग्राहिणी को बीच से हटाकर दूत की ओर अभिमुख हो प्रेमपूर्वक पूछा—'हंसवेग, आमान् कुमार तो कुशल से हैं।' उसने उत्तर दिया—'जब देव इतने स्नेह, सौहार्द और गौरव से पूछ रहे हैं, तब वे आज सब प्रकार कुशली हुए।' कुछ देर बाद उसने पुनः कहा—'चारों समुद्रों की लक्ष्मी के भाजन देव को देने योग्य प्राभृत दुर्लभ है, फिर भी हमारे स्वामी ने पूर्वजों द्वारा उपार्जित आभोगनामक यह वारुण आतपत्र सेवा में भेजा है। इसके अनेक कुतूहलजनक आश्चर्य देखे गये हैं।' इत्यादि कहकर खड़े होकर अपने नौकर से कहा—'उठो, और देव के सामने वह छत्र दिखाओ।' यह सुनते ही उस पुरुष ने उठकर छत्र को ऊँचा किया और सफेद दुकूल के बने हुए गिलाफ (निचोलक) में से उसे निकाला। निकालते ही शंकर के अट्टहास-सा उसका श्वेत प्रकाश

मेघ आकाश में गोष्ठी कर रहे हों, अथवा चन्द्रमा को उन्मादन दिखाई दिया हो। इस प्रकार हर्ष ने आश्चर्यपूर्वक उस अद्भुत महत् छत्र को ध्यानपूर्वक देखा। छत्र के चारों ओर मोतियों के जालक लटक रहे थे : मौक्तिकजालपरिकरवितम् (२१६)। मौक्तिकजाल के नीचे छोटी-छोटी चौरियाँ लटक रही थीं : (चामरिकावलिभिः विरचितपरिवेशम् (२१६)। उसके शिखर पर पंख फैलाये हंस का चिह्न बना था। छत्र क्या था, लक्ष्मी का श्वेतमंडप[1], श्वेतद्वीप का बालरूप[2] ब्रह्मवृक्ष का फूला हुआ गुच्छा-सा लगता था [चित्र ८५]।

जब हर्ष छत्र देख चुके, तब तो भृत्यों ने (कार्मा:) अन्य प्राभृतों को भी क्रम से उघारकर दिखाया, जो इस प्रकार थे---१. अलंकार या आभूषण, जिनपर भाँति-भाँति के लक्षण या (आहतलक्षण) चिह्न ठप्पे से बनाये गये थे और जो भगदत्त आदिक राजाओं के समय से कुल में चले आ रहे थे। प्रायः इस प्रकार के विशिष्ट आभूषण प्रत्येक राजकुल में रहते थे। उनके विषय में यह विश्वास जम जाता था कि वे वंश-संस्थापक के प्रसाद रूप में प्राप्त हुए थे, और भी उनके विषय में आश्चर्यजनक चमत्कार की बातें कही जाती थीं।

२. चूड़ामणि या शिरोभूषण के अलंकार, जो अत्यन्त भव्य प्रकार के थे।

३. अनेक प्रकार के श्वेत हार।

४. क्षौमवस्त्र, जो शरत्कालीन चन्द्रमा की तरह चिट्टे रंग के थे और जिनकी यह विशेषता थी कि वे धोबी की धुलाई सह सकते थे। ये क्षौम के बने वस्त्र उत्तरीय ज्ञात होते हैं, जिनको बाण ने अन्यत्र (१४३) भंगुर उत्तरीय कहा है। इन वस्त्रों को माँड़ी देकर इस प्रकार से चुना जाता था कि वे गोल हो जाते थे और लंबान में चुन्नट डालने के कारण उनमें गँड़ेरियाँ-सी बन जाती थीं (देखिए, अहिच्छत्रा के खिलौने, चित्र ३०२)। इस प्रकार के उत्तरीय वस्त्रों की तह अन्य वस्त्रों की भाँति असम्भव थी। इसी कारण बाण ने लिखा है कि ये वस्त्र बेंत की करंडियों में कुंडली करके या गेंडुरी बनाकर रखे जाते थे [चित्र ४७]। बेंत की बनी हुई जिन करंडियों में आसाम से वस्त्र रखकर आते थे, वे भी बेंत को कई रंगों में रँगने से रंग-बिरंगी बनाई जाती थीं : अनेकरागरुचिरवेत्रकरण्डकुण्डलीकृतानि शरच्चन्द्रमरीचिरुञ्चि शौचक्षमाणि क्षौमाणि (२१७)।

१. श्वेतमंडप—चाँदनी में विहार करने के लिए ऐसा मंडप, जिसकी समस्त सजावट या घटा श्वेत रंग की हो। यह प्रसन्नता की बात है कि सातवीं शती में इस प्रकार के मंडपों की कल्पना अस्तित्व में आ चुकी थी। बाद में भी यह परम्परा अक्षुण्ण रही। ठाकुरजी के मन्दिर में रंग-रंग की सजावट या घटाओं के मंडप या बँगले अभी तक बनाये जाते हैं।

२. श्वेतद्वीप का उल्लेख, पृ० ५६ और २५८ पर भी आया है। इसी प्रकार, कादम्बरी, पृ० २२६, वासवदत्ता, पृ० १०३ में भी श्वेतद्वीप का नाम आया है। महाभारत के

मसार संगे यशब था जिनका पूर्व में (१५६) उल्लेख किया जा चुका है : कुशलशिल्पिलोकोल्लिखितानां शुक्तिशङ्खगल्वर्कमुखानां पानभाजननिचयानाम् (२१७)।

६. कार्दरंग द्वीप से आई हुई ढालें, जिनकी आब की रक्षा के लिए उनपर खोल चढ़े थे। ये ढालें आकृति में गोल थीं और उनका घेरा सुंदर जान पड़ता था। पहले कहा जा चुका है कि इन के चारों ओर छोटी-छोटी चौरियों की एक किनारी रहती थी [चित्र ८२]। इनके काले चमड़े पर सुनहली फूल-पत्तियों के कटाव खचित थे। ऊपर कहा जा चुका है कि कार्दरंग का ही दूसरा नाम कारंग या चर्मरंग द्वीप था, यह मलयद्वीप का एक भाग था : निचोलकरक्षितरुचां रुचिरकाञ्चनपत्रभङ्गभङ्गुराणाम् अतिबन्धुरपरिवेशानां कार्दरङ्गचर्मणां सम्भारान् ।

७. भोजपत्र की तरह मुलायम जातीपट्टिकाएँ। हमारी समझ से ये आसाम के बने हुए मूँगा रेशम के थान थे, जिनपर जाती अर्थात् चमेली के फूलों का काम बना हुआ था। शंकर के अनुसार जातीपट्टिका एक प्रकार के बढ़िया पटके थे, जो कटिप्रदेश में बाँधने के काम आते थे : भूर्जत्वक्कोमलाः स्पर्शवतीः जातीपट्टिकाः (२१७)।

८. नरम चित्रपटों (जामदानी) के बने हुए तकिए, जिनके भीतर समूर या पक्षियों के बाल या रोएँ भरे थे। चित्रपट वे जामदानी वस्त्र ज्ञात होते हैं, जिनमें बुनावट में ही फूल पत्ती अथवा अन्य आकृतियों की भाँति डाल दी जाती थीं। बंगाल इन वस्त्रों के लिए सदा से प्रसिद्ध रहा है।

९. बेंत के बुने हुए आसन, जिनका रंग प्रियंगुमंजरी की तरह कुछ ललछौंही पीली झलक का था : प्रियङ्गुप्रसवपिङ्गलत्वञ्चि आसनानि वेत्रमयानि ।

१०. अनेक प्रकार के सुभाषितों से भरी हुई पुस्तकें, जिनके पन्ने अगरु की छाल पीटकर बनाये गये थे। इससे ज्ञात होता है कि बाण के समय में सुभाषित या नीतिश्लोकों का संग्रह प्रारम्भ हो गया था। उस युग से पूर्व के भर्तृहरि-कृत शतकत्रय प्रसिद्ध हैं। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि आसाम की तरफ भोजपत्र और तालपत्र दोनों के स्थान पर अगरु की छाल से पुस्तकों के पत्र बनाते थे : अगरुवल्कलकल्पितसञ्चयानि सुभाषितभाञ्जि पुस्तकानि (२१७)

११. हरी सुपारियों के झुग्गे, जिनमें पल्लवों के साथ सरस फल झूल रहे थे। इनका रंग पके लाल परवल की तरह ललछौंह और हरियल पक्षी की तरह हरियाली लिये था। सरस पूगफलों में से रस चुचिया रहा था : परिणतपाटलपटोलत्विषि तरुणहारीतहरिन्ति क्षीरक्षारीणि पूगानां पल्लवलम्बीनि सरसानि फलानि, (२१७)।

१२. सहकारलताओं के रस से भरी हुई मोटी बाँस की नलियाँ, जिनके चारों ओर

जिसके फल से सहकार-नामक सुगंधित द्रव्य बनता था।[1] बाण ने स्वयं कई स्थलों पर सहकार के योग से एक सुगन्धित पदार्थ बनाने का उल्लेख किया है (२२, ६६, १३०)। वराहमिहिर की बृहत्संहिता से भी ज्ञात होता है कि सहकार-रस के योग से उस समय अत्यंत श्रेष्ठ सुगन्धि तैयार की जाती थी।[2]

१३. काले अगरु का तेल भी इसी प्रकार की मोटी बाँस की नलियों में भरकर और पत्तों में लपेटकर लाया गया था : कृष्णागरुतैलस्य स्थवीयसीः वैणवीः नाडीः।

१४. पटसन के बने हुए बोरों में भरकर काले अगरु के ढेर लाये गये थे, जिसका रंग घुटे हुए अंजन की तरह था : पट्टसूत्रप्रसेवकार्पितान् कृष्णागरुणः राशीन्।

१५. गरमी में ठंडक पहुँचानेवाले गोशीर्ष नामक चन्दन की राशियाँ। श्रीसिलवाँ लेवी के मतानुसार पूर्वीद्वीपसमूह में तिमोर-नामक द्वीप गोशीर्ष कहलाता था और वहाँ का चन्दन भी इसी नाम से प्रसिद्ध था।

१६. बरफ के शिलाखंड की तरह ठंडे सफेद और साफ कपूर के डले।

१७. कस्तूरी के नाफे (कस्तूरिकाकोशक)।

१८. कक्कोल के पके फलों से युक्त कक्कोल पल्लव। कक्कोल और उसका पर्याय तक्कोल सम्भवतः शीतलचीनी का नाम था। कक्कोल या तक्कोल नगर मलयप्रायद्वीप के पच्छिमी किनारे पर था, जो कक्कोल के लदान का खास बंदरगाह था।

१९. लवंगपुष्पों की मंजरी। कालिदास के अनुसार लवंग पुष्प के वृक्ष द्वीपान्तर, अर्थात् पूर्वी द्वीपसमूह में मलय से लाये जाते थे। (द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैः, रघु० ६।५७)।[3]

२०. जायफल के गुच्छे (जातीफलस्तबकानां राशीन्)।

२१. जस्ते की कपड़े-चढ़ी कलशी या सुराहियों में अत्यंत मीठा मधुरस भरकर लाया गया था : अतिमधुरमधुरसामोदनिर्हारिणीः चोलककलशीः। चोलक कलशी पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ था चोलक या कपड़ा चढ़ी हुई कलशी।[4] अब भी राजस्थान आदि में कपड़ा चढ़ी हुई सुंदर जस्ते की सुराहियाँ चाँदी के मुखड़े के साथ बनाई जाती हैं, जिनमें पानी बहुत ठंडा रहता है। मधुरस का अर्थ शंकर ने द्राक्षा अथवा मकरंद किया है। भिन्न-भिन्न पुष्पों का मधुरस चोलक कलशियों में भरा हुआ था, जिसकी भीनी सुगन्धि (आमोद) बाहर फैल रही थी।

---

१. सहकार—सुगन्धद्रव्यभेदः सहकारफलेनैव क्रियते (शंकर, पृ० २२)।

२. जातीफलमृगकर्पूरबोधितैः ससहकारमधुसिक्तैः बहवो पारिजाताश्चतुर्भिरिच्छापरिगृहीतैः (बृहत्संहिता, ७६।२७)।

बृहत्संहिता के गन्धयुक्तिप्रकरण में अनेक प्रकार की सुगन्धियाँ बनाने का विधान

२३. चित्रफलकों के जोड़े (आलेख्यफलकसंपुट), जिनमें भीतर की ओर चित्र लिखे थे और उनके एक ओर तूलिका एवं रंग रखने के लिए छोटी अलाबू की कुप्पियाँ लटक रही थीं : अवलम्बमानतूलिकालाबुकान् लिखितानालेख्यफलकसम्पुटान् ।

२४. भाँति-भाँति के पशु और पक्षी, जैसे सोने की शृंखलाओं से गरदन में बँधे हुए किन्नर, वनमानुष, जीवंजीवक[1], जलमानुषों के जोड़े, चारों ओर सुगन्धि फैलाते हुए कस्तूरी हिरन, घरों में विचरनेवाली विश्वासभरी पालतू चँवरी गायें, बेंत के पिंजड़ों में सुभाषित कहनेवाले शुक-सारिका पक्षी, मूँग के पिंजड़ों में बैठे हुए चकोर।[2]

२५. जलहस्तियों के मस्तक से निकलनेवाले मुक्ताफल से जड़े हुए हाथीदाँत के कुंडल। जलहस्ती या जलेभ से तात्पर्य दरियाई घोड़ा है, जिसके मस्तक की हड्डी को खराद पर चढ़ाकर सम्भवतः गोल गुरिया या मोती बनाते थे। इसे फारसी में शिरमाही और अँगरेजी में वालरस आइवेरी कहते हैं।

शुक-सारिकाओं के वर्णन में लिखा है कि उनके बेंत के पिंजड़ों पर सोने का पानी चढ़ा हुआ था : चामीकररसखचितवेत्रपञ्जर। यह अवतरण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इससे ज्ञात होता है कि सुवर्णद्रव (लिक्विड गोल्ड) बनाने की विधि बाण के समय ज्ञात थी और उसका आम रिवाज था। कादम्बरी में भी मिट्टी की गुरियों से बनी हुई माला का उल्लेख है, जिनपर सोने के रस की बुंदकियाँ डाल दी गई थीं : काञ्चनरसखचितां मृण्मयगुटिकाकदम्बमालाम् (कादम्बरी, वैद्य०, पृ० ७१)। जैन-ग्रन्थ निशीथचूर्णि में तो यहाँतक कहा गया है कि उस समय सुवर्णद्रुति (लिक्विड गोल्ड) से सूत रँगने की प्रथा थी। इस समय सोने का द्रव बनाने की विधि प्राचीन परम्परा के जाननेवालों को अज्ञात है। केवल पश्चिम में कुछ कारखाने ही इसे तैयार करते हैं।[3]

छत्र देखते ही हर्ष का मन अतीव प्रसन्न हुआ और उसने उसे अपने पहले सैनिक प्रयाण में शुभ शकुन माना। प्राभृत सामग्री के वहाँ से हटा लिये जाने पर उसने हंसवेग से आराम करने के लिए कहा और उसे प्रतीहार-भवन में भेजा।

प्रतीहार-भवन राजद्वार के भीतर राजकुल का एक अंग था। जिस समय भंडि, जो हर्ष का मामा था, हर्ष से मिलने आया, वह भी प्रतीहार भवन में ही ठहराया गया था।

---

१. बौद्ध संस्कृत-साहित्य के अनुसार जीवंजीवक दो सिरवाला बड़ा काल्पनिक पक्षी था। यहाँ वनमानुषों और जलमानुषों के साथ उसका ग्रहण ठीक ज्ञात होता है। तक्षशिला में सिरकप के मन्दिर में दो सिरवाले एक गरुड पक्षी की आकृति बनी है, जो जीवंजीवक ज्ञात होता है।

२. चकोर लाल रंग पसंद करता है, अतएव आज भी उनके पिंजड़ों में मूँगे के दाने लगाये जाते हैं।

साथ ही भोजन किया (२१८)। इससे यह स्पष्ट है कि प्रतीहार-भवन राजकुल के अन्दर ही होता था।[1]

हर्ष बाह्यास्थानमंडप से उठकर स्नानभूमि में गये और स्नानादि से निवृत्त हो पूर्वाभिमुख होकर आभोगच्छत्र के नीचे बैठे। उसकी शीतल छाया से वे अत्यन्त प्रसन्न और विस्मित होकर सोचने लगे—'आमरण मैत्री के अतिरिक्त इस प्रकार के सुन्दर उपहार का बदला (प्रतिकौशलिका) और क्या हो सकता है? भोजन के समय हर्ष ने हंसवेग के लिए अपने लगाने से बचा हुआ चन्दन, सफेद कपड़े से ढके हुए चिकने नारियल में रखकर भेजा। और, उसके साथ ही अपने अंग से छुआए हुए परिधानीय वस्त्र-युगल, मोतियों से बना हुआ परिवेश नामक कटिसूत्र और माणिक्यखचित तरंगक नामक कर्णाभरण एवं बहुत-सा भोजन का सामान भेजा। इस प्रकार वह दिन व्यतीत हुआ और संध्या का अंधकार चारों ओर फैल गया। प्राची दिशा गौडेश्वर के अपराध से डरकर मानों काली पड़ गई। कुछ देर में राजा से सैनिक-प्रयाण की वार्त्ता के समान चन्द्रमा का प्रकाश आकाश में फैल गया। प्रतिसामन्तों के नेत्रों की निद्रा न जाने कहाँ चली गई (२१६)। इस समय हर्ष वितान के नीचे लेटे थे। नौकरों को विसर्जित करके उन्होंने हंसवेग से संदेश सुनाने के लिए कहा। उसने प्रणाम कर कहना शुरू किया—"देव, पूर्वकाल में वराह और पृथ्वी के सम्पर्क से नरक नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह बड़ा वीर था। बाल्यावस्था में ही लोकपाल उसे प्रणाम करने लगे। उसने वरुण से यह छत्र छीन लिया। उसके वंश में भगदत्त, पुष्पदत्त, वज्रदत्त प्रभृति बड़े-बड़े राजा हुए। उसी परम्परा में महाराज भूतिवर्मा का प्रपौत्र, चन्द्रमुख वर्मा का पौत्र, कैलासवासी स्थितिवर्मा का पुत्र सुस्थिरवर्मा नाम का महाराजाधिराज उत्पन्न हुआ। सुगृहीत नाम उस राजा की रानी श्यामा देवी से भास्कर-द्युति-नामक पुत्र, जिसका दूसरा नाम भास्करवर्मा है, उत्पन्न हुआ। बचपन से ही उसका यह संकल्प था कि शिव के अतिरिक्त दूसरे किसी के चरणों में प्रणाम न करूँगा। इस प्रकार का त्रिभुवनदुर्लभ मनोरथ तीन तरह से ही पूरा होता है, या तो सकलभुवनविजय से, या मृत्यु से, अथवा प्रचंडप्रतापानल आपके सदृश अद्वितीय वीर की मित्रता से। तो, प्राग्ज्योतिषेश्वर देव के साथ कभी न मिटनेवाली मैत्री चाहते हैं। यदि देव के हृदय भी

१. मुझे प्रतीहार-भवन की इस स्थिति के बारे में पहले सन्देह हुआ कि जिस राजद्वार के भीतर केवल सम्राट् और राजकुल के अन्य सदस्य रहते थे, उसमें प्रतीहारों के रहने का स्थान कैसे संभव था; किन्तु पीछे 'हैम्पटन कोर्ट पैलेस'-नामक लंदन के ट्यूडर-कालीन महल का नक्शा देखने का अवसर प्राप्त हुआ, तो ज्ञात हुआ कि राजड्योढ़ी के भीतर एक ओर 'लार्डचेम्बरलेंस कोर्ट' के लिए स्थान रहता था। यही भारतीय राजमहल में प्रतीहार-भवन था। अवश्य ही दौवारिक महाप्रतीहार के लिए बाह्यास्थान-मंडप के समीप आवासगृह रहता होगा। यही बाण के इन उल्लेखों से लक्षित होता है। हर्ष के महल, ईरानी महल, मुगलकालीन महल, यहाँ तक कि अँगरेजी महलों में भी

स्वामी से क्या निवेदन करूँ !" (२२०—२१

उसके इस प्रकार कहने पर हर्ष ने, जो कुमार के गुणों से उनके प्रति अत्यन्त प्रेमासक्त हो चुके थे 'कहा—. हंसवेग, कुमार का संकल्प श्रेष्ठ है। स्वयं वे भुजाओं से पराक्रमी हैं, फिर धनुर्धर मुझे अपना मित्र बनाकर वे शिव को छोड़कर और किसे प्रणाम करेंगे ? उनके इस संकल्प से मेरी प्रसन्नता और बढ़ी है। तो ऐसा यत्न करो कि अधिक समय तक हमें कुमार से मिलने की उत्कण्ठा न सहनी पड़े" (२२१)।

इसके अनन्तर बाण ने राजसेवा स्वीकार करनेवाले व्यक्तियों को, उनके दुःख-सुख की भाँति-भाँति की मनोवृत्तियों के, उनके द्वारा किए जानेवाले कुत्सित कर्म, काट-कपट, उखाड़-पछाड़, खुशामद और चापलूसी के विषय में विचित्र उद्गार प्रकट किए हैं। यह प्रकरण विश्व-साहित्य में अद्वितीय है। सरकारी नौकरी की हिजो या निन्दा में शायद ही आजतक किसी ने ऐसी पैनी बातें लिखी हों। बाण के ये अपने हृदय के उद्गार हैं, जो उसने हंसवेग के मुख से कहलवाये हैं। राजदरबारों की चाटुकारिता, स्वार्थ से सने हुए भृत्यों और अभिमान में डूबे हुए राजाओं का जो दमघोंटू वातावरण उन्होंने घूम-फिरकर देखा था, उन्होंने उसकी खरी आलोचना अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व की समस्त शक्ति को समेट-कर यहाँ की है। वे तो राजसेवकों को मनुष्य मानने के लिए भी तैयार नहीं—"बिचारे राजसेवक को भी यदि मनुष्यों में गिना जाय, तो राजिल को भी सर्प मानना पड़ेगा, पयाल की भी धान में गिनती करनी होगी। मानधन के लिए क्षणभर भी मानवता के गौरव के साथ जीना अच्छा; किन्तु मनस्वी के लिए त्रिलोक के राज्य का उपभोग भी अच्छा नहीं यदि उसके लिए सिर झुकाना पड़े।"[2]

"सेवक अपने को धिक्कारता है और सोचता है कि वह धन मिट जाये, उस वैभव का सत्यानाश हो, उन सुखों को डंडौत है, उस टीमटाम से भगवान् बचावे, जिसकी प्राप्ति के लिए मस्तक को पृथ्वी पर रगड़ना पड़े।[3]

"राजसेवक केवल मुँह से मीठी बात करनेवाला मुखविलासी नपुंसक है, सड़े मांस का कीड़ा है, मर्द की शकल में बेगिनती का पुतला[4] है, सिर पर पैरों की धूल लगानेवाला

१. इस परस्पर आलिंगन का चित्र खींचने के लिए बाण ने लिखा है—'कुमार की कटकमणि देव की केयूरमणि से आलिंगन में उस प्रकार रगड़ खायगी, जैसी मंदराचल के कटक विष्णु के केयूर से टकराये थे।'

२. वराकः सेवकोऽपि मर्त्यमध्ये, राजिलोऽपि वा भोगी, पुलाकोऽपि वा कलमः। वरं क्षणमपि कृता मानवता मानवता, न मतो नमतस्त्रैलोक्याधिराज्योपभोगोऽपि मनस्विनः(२२५)।

३. धिक्तदुच्छ्वसितं; उपयातु तद्धनं निधनं; अस्तवनिर्भूतेरस्तु तस्याः; नमो भगवद्भ्य स्तेभ्यः सुखेभ्यः; तस्यायमंजलिरैश्वर्यस्य; तिष्ठतु दूर एव सा श्रीः, शिवं सः परिच्छदः करोतु; यदर्थमुत्तमाङ्गं गां गमिष्यति; २२४। (दे० मत्स्यपुराण अञ्जलिवर्तनम् नामक

चलता-फिरता पाँवड़ा है, लल्लो-चप्पो करने में नरकोयल है, मीठे बोल उचारनेवाला मोर है, धरती पर सीना घिसनेवाला कछुआ है, वह चापलूसी का कुत्ता है, दूसरे के लिए शरीर को मोड़ने-तोड़ने में वेश्या की भाँति है।[1] जीवनवाले व्यक्तियों में वह फूस की तरह है, सिर मटकाने में गिरगिट है, अपने-आपको सिकोड़कर रखनेवाला झाड़-चूहा है।[2] पैरों की चंपी का अभ्यासी पड़वाया है[3], कराभिघात सहने में कन्दुक एवं कोणाभिघात (इसका दूसरा अर्थ लकुटताडन भी है) का अभ्यस्त वीणादण्ड है।" (२२४–२२५)

"भृतक का कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं होता। उसके पापकर्मों का भी कोई प्रायश्चित्त है ? उसे सुधारने का क्या उपाय ? वह शान्ति के लिए कहाँ जाय ? उसके जीवन का भी क्या नमूना ? पुरुषोचित अभिमान उसमें कहाँ ? उसके सुख-विलास कैसे ? भोगों के सम्बन्ध में उसके विचार ही क्या ? यह दारुण 'दास' शब्द घोर दलदल की तरह सबको नीचे ढकेल देता है।"[4]

अच्छे-भले पुरुष को भी जो नौकरी के लिए बाध्य होना पड़ता है, जो मनोवृत्ति मनुष्य को राजसेवा के लिए प्रेरित करती है, उसका विवेचन करते हुए बाण ने लिखा है—'बहुत दिनों की दरिद्रता बुड्ढी माँ की तरह पुरुष को नौकरी की ओर ढकेलती है। तृष्णा असन्तुष्ट स्त्री की भाँति उसे जोर लगाती है। अनेक वस्तुओं की चाहना करनेवाले यौवन में उत्पन्न मनहूस विचार उसे नौकरी के लिए सताते हैं। दूसरों की याचना से मिलनेवाले बड़े पद की लालच उसे इस ओर खींचती है। उसकी कुंडली में पड़े हुए बुरे ग्रह उसे इस परेशानी में डालते हैं। पूर्वजन्म के खोटे कर्म पीछे लगकर उसे इधर ढकेलते हैं। अवश्य ही वह दुष्कृती है, जो राजकुल में प्रवेश करने का विचार मन में लाता है। वह उस व्यक्ति की तरह है, जिसकी इन्द्रियों की शक्ति ठप हो गई हो, किन्तु भाँति-भाँति के सुख भोगने की झूठी साध मन में भरी हो।' (२२३)

नौकरी के लिए जब कोई राजद्वार की ओर मुँह उठाता है, तब किसी को तो द्वार के बाहर द्वाररक्षक लोग रोक देते हैं और वह बन्दनवार के पत्ते की तरह वहीं झूलता रहता है। वहाँ के दुःख सहकर किसी तरह राजकुल की ड्योढ़ी के भीतर प्रवेश भी हो गया, तो दूसरे लोग उसपर टूटकर हिरन की तरह कुटियाते हैं। चमड़े के बने हुए हाथी[5] की तरह

---

१. वेश्याकायः करणबन्धक्लेशेषु। 'करणबन्ध' कामशास्त्र के आसन अथवा रतिबन्ध। वेश्याएँ शरीर को कष्ट देकर भी जिन्हें सीखती हैं (२२४)।

२. जाहकः आत्मसङ्कोचनेषु (२२५)। जाहक—जाहड़—झाड़।

३. प्रतिपादकः पादसंवाहनासु। पलंग के पाये का बोझ उठानेवाला प्रतिपादक या पड़वाया (वह लकड़ी या पत्थर का ठीहा, जिसपर पलंग के पाये टेके जाते हैं)। पादसंवाहना= पैरचंपी (२२५)।

[illegible]
गया हुआ वह ऐसे मुँह लटकाए (अधोमुख) रहता है, जैसे गड़े खजाने के ऊपर लगाये हुए पौधे की डाल नीचे झुकी हो। चाहे वह कुछ न भी माँगे, तो भी वह राजद्वार के भीतर दूर तक प्रविष्ट हुआ जोर के साथ बाहर फेंक दिया जाता है, जैसे धनुष बाण को भीतर खींच कर वेग से छोड़ देता है। चाहे वह किसी के मार्ग का काँटा न हो और अपने-आपको चरण-सेवा में लगाये रखे तो भी वे उसे निकालकर दूर फेंक देते हैं। कहीं असमय में स्वामी के सामने चला गया, तो उसकी कुपित दृष्टि उसे जलाकर नष्ट ही कर देती है, जैसे अनाड़ी कामदेव देवताओं के फेर में पड़कर शिव के द्वारा जल गया था। किसी तरह से यदि राजकुल में रह गया, तो डाँट-फटकार सहते हुए भी उसे अपने मुँह पर लाली बनाये रखनी पड़ती है। प्रतिदिन प्रणाम करते-करते उसका माथा घिस जाता है। त्रिशंकु की तरह दोनों लोकों से गया-बीता वह रात-दिन नीचे मूँड़ी लटकाये रहता है। थोड़े से टुकड़ों के लिए वह अपने सब सुख छोड़ने पर तैयार हो जाता है। जीविका कमाने की अभिलाषा मन में लिए वह अपने शरीर को खपाता रहता है। कभी-कभी अपनी स्त्री को भी छोड़कर राजकुल के लिए जघन्य कर्मों में लगा हुआ कुत्ते की तरह शरीर-दंड तक सहता है।[1] कभी बे-आबरू होकर भोजन पाता है, फिर भी सब कुछ सहता रहता है (२२१)।

राजकुल में अनेक प्रकार के सेवक होते थे। उनके कर्म और स्वभावों को ध्यान में रखकर बाण ने यहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्णन दिये हैं।

"कुछ ऐसे हैं, जो कौए की तरह जीभ के चटोरपन में अपना पुरुषार्थ खोकर आयु को व्यर्थ गँवाते रहते हैं।[2] पिशाच जैसे श्मशान के पेड़ों के चक्कर काटें ऐसे ही कुछ लोग नासपीटी बढ़ोतरी पाकर बदमिजाज हुए राजा के मुँहलगे मुसाहिबों के पास मँडराते रहते हैं।[3] कुछ लोग राजा-रूपी सुग्गों की मीठी-मीठी बातें सुनकर बच्चों की तरह भुलावे में पड़े रहते हैं। राजा का जादू एक बार जिसपर पड़ गया, वह उसके हुक्म से क्या कुछ नहीं कर डालता? वह अपने झूठमूठ के जौहरों का बाना बनाये हुए सदा नम्रता दिखाता है, लेकिन उसका तेज बुझा रहता है, जैसे चित्रलिखित धनुष चढ़ी प्रत्यंचा से झुका हुआ भी बाण चलाने की शक्ति नहीं रखता।[4] वह झाड़ू से बटोरे हुए कूड़े की तरह श्रीहीन होता है।[5] उसे प्रतीहार और प्यादे (कटुकैरुद्वेज्यमानस्य) घुड़क लेते हैं। जब राजद्वार की सेवा से टका-पैसा नहीं मिलता, तब मन में वैराग्य उत्पन्न होकर गेरुआ धारण कर लेने की इच्छा करने लगता है। चाहे रात का भी समय हो, वह बाहर फेंक दिया जाता है जैसे मातृबलि के

---

१. शुन इव निजदारपराङ्मुखस्य जघन्यकर्मागमनमात्मानं ताडयतः (२२२)। बाण का यह श्लेषमय वाक्य गूढ़ है।

२. यह इशारा विदूषक पर घटता है।

पिंड की राह में डाल देते हैं। वह मोटी-झोटी रहन सहन से अनेक प्रकार के दुःख उठाता है। आत्मसम्मान को पीछे डालकर भी झुकता रहता है। अपने-आपको बेइज्जत करके वह मुँह से उनकी खुशामद करता है, जो केवल सिर झुकाने से प्रसन्न नहीं होते। निष्ठुर प्रतीहारों की मार खाते-खाते वह बेहया हो जाता है। दीनता के वश उसका हृदय बुझ जाता है और आत्मसम्मान की रक्षा करने[1] की शक्ति से वह रहित हो जाता है। कुत्सित कर्म करते-करते सरकारी नौकरों में उदार विचार नहीं रह जाते। वह केवल पैसे के फेर में कष्ट बटोरता है, और अपने साधन बढ़ाने की युक्ति में कमीनेपन को बढ़ा लेता है।" (२२३)

"जब देखो, उसकी तृष्णांजलि बनी रहती है। स्वामी के पास जाने में कुलीन होते हुए भी अपराधी की भाँति थरथर काँपता रहता है। चित्र में अंकित फूल की तरह सरकारी नौकर बाहर से देखने में सुन्दर लगते हुए भी फल देने में ठनठन होता है।[2] बहुत-कुछ ज्ञान मस्तिष्क में भरा होने पर भी मौके पर उसके मुँह से अनजान की तरह बात नहीं फूटती। शक्ति होने पर भी काम के समय उसके हाथ कोढ़ी की तरह भिंचे रह जाते हैं। अपने से बराबर दर्जे के व्यक्तियों को यदि तरक्की मिल जाती है[3], तो सरकारी नौकर बिना आग के जलने लगता है, और यदि मातहत को उसके बराबर ओहदा मिल गया[4], तो साँस निकले बिना भी मानों मर जाता है। पद घटने से तिनके की तरह वे प्रतिष्ठा खो देते हैं। दुःख की वायु का झोंका उन्हें रात-दिन दहकाता रहता है। राजभक्त होने पर भी हिस्सा-बाँट में उन्हें कुछ नहीं मिलता। उनकी सब गरमी हवा हो जाती है, पर भाई-बन्धुओं को सताना नहीं छोड़ते। मान बिलकुल रहता ही नहीं, फिर भी अपना पद छोड़कर टस-से-मस नहीं होते। उनका गौरव घट जाता है, सत्त्व चला जाता है और वे अपने-आपको बिलकुल बेच डालते हैं।"[5] राजसेवक अपनी वृत्ति का स्वयं मालिक नहीं होता। उसकी अन्तरात्मा सदा सोच-विचार के वशीभूत रहती है। खाट से उठते ही प्रणाम करने का उसका स्वभाव बन जाता है, जैसे दग्धमुण्ड सम्प्रदाय के साधु करते हैं। वर के विदूषक की तरह रात-दिन मटकना और दूसरों को हँसाना ऐसी ही उसकी चेष्टा रहती है। कभी-कभी तो सरकारी नौकर अपने वंश को ही जलानेवाला कुलांगार हो जाता है। एक मुट्ठी घास के लिए मूँडी चलानेवाले बैल की तरह राजसेवक है। सिर्फ पेट भरना ही जिसका उद्देश्य है, वह ऐसा मांस का लोथड़ा है।" (२२४)

राजसेवा या सरकारी नौकरी में लगे हुए लोगों के लिए बाण की फब्तियाँ और फटकार अपने ढंग की एक है। नौकरी करनेवालों की मनोवृत्ति और कुकर्मों का सूक्ष्म

---

१. दैन्यसङ्कोचितहृदयावकाशस्य इव अहोपुरुषिकयापरिवर्जितस्य (२२३)।
२. दर्शनीयस्यापि आलेख्यकुसुमस्य इव निष्फलजन्मनः (२२३)।

नहीं कि बाण स्वयं भी अत्यन्त पैनी बुद्धि के व्यक्ति थे, जो प्रत्येक विषय के अन्तर में पैठकर पूरी तरह उसका साक्षात्कार करते थे। उन्होंने निकट से राजकुल में काम करनेवालों को देखा-पहचाना था और उसके स्वभाव की विशेषताओं का अध्ययन किया था। नौकरी करके राजदरबार के ठाट-बाट में बाण ने अपने व्यक्तित्व की स्वतंत्रता नहीं गँवाई। तटस्थ आलोचक की भाँति वे राजकुलों के और राजकर्मचारियों के दोषों की समीक्षा कर सके। उनका यह वाक्य ध्यान देने योग्य है—'मानधनी के लिए क्षण-भर भी मानवोचित पौरुष का जीवन अच्छा, किन्तु झुककर त्रिलोक का राज्यभोग भी उसके लिए अच्छा नहीं' (२२५)।

यदि देव हमारे इस प्रणय को स्वीकार करेंगे, तो प्राग्ज्योतिषेश्वर को कुछ ही दिनों में यहाँ आया हुआ जानें', यह कहकर हंसवेग चुप हो गया और शीघ्र ही बाहर चला गया।

हर्ष ने भी वह रात कुमार से मिलने की उत्कंठा में बिताई। प्रातःकाल अपने प्रधान दूत के साथ अनेक प्रकार की वापिसी भेंट-सामग्री (प्रतिप्राभृतं प्रधानप्रतिदूताधिष्ठितं, २२५) भेजते हुए हंसवेग को विदा किया। स्वयं शत्रु पर चढ़ाई करने के लिए सेना का प्रयाण उस दिन से बराबर जारी रखा।

एक दिन हर्ष ने लेखहारक के मुख से सुना कि राज्यवर्द्धन की सेना ने मालवराज की जिस सेना को जीत लिया था, उस सबको साथ लेकर भंडि आ रहा है और पास ही पहुँच गया है। इस समाचार ने भाई के शोक को फिर हरा कर दिया और उसका हृदय पिघल गया। सब काम-काज छोड़कर वह निजमंदिर में राजकीय परिवार के साथ ठहरा रहा और प्रतीहार ने सब नौकर-चाकरों को ताकीद कर दी कि बिलकुल चुपचाप रहें और आहट न होने दें : प्रतीहारनिवारणनिभृतनिःशब्दपरिजने (२२५)। राजमहलों का यह नियम था कि जब शोक का समय होता या अन्य आवश्यकता होती, तो सब आज्ञाएँ केवल इशारों से दी जाती और सब परिजन चुपचाप रहकर काम करते, जिससे राजकुल में बिलकुल सन्नाटा रहे। प्रभाकरवर्द्धन की बीमारी के समय ऐसा ही किया गया था।[1] इस प्रकार के कार्यवाहक इशारों का कोई समयाचार या दस्तूरुल अमल रहता होगा, जिसके अनुसार सीखे हुए परिजन काम करते थे।

कुछ समय बाद भंडि अकेला ही घोड़े पर सवार, कुछ कुलपुत्रों को साथ लिये राजद्वार पर आया और वहीं घोड़े से उतरकर मुँह लटकाये राजमंदिर में प्रविष्ट हुआ। उसकी छाती में शत्रु के बाणों के घाव थे, जिससे ज्ञात होता था कि मालवराज के साथ कसकर युद्ध हुआ था। उसके बाल बढ़े हुए थे। शरीर पर केवल मंगलवलय का आभूषण बचा था, वह भी व्यायाम न करने से पतले पड़े हुए भुजदंड से खिसककर नीचे कलाई में आ

लाली कम हो गई थी। आँसुओं की झड़ी ऐसे लगी थी, मानों मुख पर शोकपट ढका हो।[2] [चित्र ८६] उसकी ऐसी दीन दशा थी, जैसे यूथपति के मरने पर वेगदंड या तरुण हाथी की हो जाती है (२२६)।

दूर से ही ढाड़ मारकर वह पैरों में गिर पड़ा। हर्ष उसे देखकर उठे, और लड़खड़ाते पैरों से आगे बढ़ उसे उठाकर गले लगाया और स्वयं भी देर तक फूट-फूटकर रोते रहे। जब शोक का वेग कम हुआ, तब लौटकर पहले की तरह निज आसन पर बैठ गये। पहले भंडि का मुँह धुलवाया और फिर अपना भी धोया। कुछ देर में भाई की मृत्यु का वृत्तान्त पूछा। भंडि ने सब हाल कह सुनाया। राजा ने पूछा—'राज्यश्री की क्या गत हुई ?' भंडि ने फिर कहा—'देव, राज्यवर्धन के स्वर्ग चले जाने पर जब गुप्त नाम के व्यक्ति ने कान्यकुब्ज (कुशस्थल) पर अधिकार कर लिया, तब राज्यश्री भी पकड़ी गई, पर वह किसी तरह बन्धन से छूटकर परिवार के साथ विन्ध्याचल के जंगल (विन्ध्याटवी)[3] में चली गई—यह बात मैंने लोगों से सुनी।' उसे ढूँढ़ने के लिए बहुत-से आदमी भेजे गये हैं, पर अभी तक कोई लौटकर नहीं आया है।' हर्ष ने स्वाभाविक उत्तेजना के साथ कहा—'औरों के ढूँढ़ने से क्या ? जहाँ भी वह हो, मैं स्वयं और सब काम छोड़कर जाऊँगा। तुम सेना लेकर गौड़ पर चढ़ाई करो' (२२६)। यह कह उठकर स्नानभूमि में चले गये। भंडि ने हर्ष के कहने से बढ़े हुए केशों का क्षौर कराया और प्रतीहार-भवन[4] में स्नान किया। हर्ष ने उसके लिए वस्त्र, पुष्प, अंगराग और अलंकार भेजकर अपना प्रसाद प्रकट किया और साथ ही भोजन किया एवं सारा दिन उसके साथ ही बिताया।

दूसरे दिन भंडि ने राजा के पास आकर निवेदन किया—'श्रीराज्यवर्धन के भुजबल से मालवराज की जो सेना साज-सामान (परिबर्ह) के साथ जीती गई है, उसे देव देखने

१. दूरीकृतव्यायामशिथिलभुजदण्डदोलायमानमरकतवलयैकशेषालंकृतिः (२२६)। पहले कहा जा चुका है कि भंडि पुखराज का जड़ाऊ वलय पहनता था। वलय या अनन्त नामक आभूषण अपेक्षाकृत ढीला बनाया जाता था। शूद्रक के रत्नवलय को दोलायमान (खिसकनेवाला) कहा गया है (का० ७)।

२. शोक के समय मुँह पर कपड़ा डाल लेने की प्रथा थी। इस प्रकार का पट मथुरा से प्राप्त बुद्ध के निर्वाण-दृश्य में विलाप करते हुए एक राजा के मुँह पर दिखाया गया है (मथुरा-संग्रहालय, एच ८ मूर्ति)।

३. प्राचीन भूगोल में विन्ध्याटवी उस घने जंगल की संज्ञा थी, जो विन्ध्य-पर्वत के उत्तर चम्बल और बेतवा के बीच में पड़ता है। महाभारत, वनपर्व में इसे घोर अटवी (६१ । १८), दारुण अटवी (६१ । १०), महारण्य (६१ । २४) और महाघोर वन (६१ । २५) कहा गया है, जिसमें एक ऊँचा पहाड़ (६१ । ३८) भी था। यहाँ के राजा

की कृपा करें। राजा के स्वीकार करने पर उसने यह सब सामान दिखाया, जैसे अनेक हाथी, सुनहली चौरियों से सजे घोड़े, चमचम करते आभूषण, शुद्ध मोतियों से पोहे गये तारहार[1], चामर (बालव्यजन), सुनहले डंडेवाला श्वेत छत्र, वारविलासिनी स्त्रियाँ, सिंहासन, शयनासन आदि राज्य का सामान, पैरों में लोहे की बेड़ी पड़े हुए मालवा के राजा लोग, कोष से भरे हुए कलश, जिनपर ब्यौरे की पट्टियाँ लगी थीं और जिनके गले में आभूषणों की बनी मालाएँ पड़ी थीं।[2]

लूट के सामान की इस गिनती में कही हुई वारविलासिनी स्त्रियाँ वे होनी चाहिए, जो राजदरबार या राजकुल में नियुक्त रहती थीं, जिनका वर्णन बाण ने हर्ष के दरबार के प्रसंग में (७५) किया है। विजित मालव राजलोक के अन्तर्गत वहाँ के राजा, राजकुमार, राजपरिवार के व्यक्ति, महासामन्त, सामन्त आदि लोग समझे जाने चाहिए।[3] मध्यकाल की यह प्रथा जान पड़ती है कि युद्ध में हार जाने पर ये सब लोग विजेता के सम्मुख पेश किये जाते थे और वहाँ से उनके भाग्य का निबटारा होता था।

उस सब सामान को देखकर हर्ष ने विभिन्न अधिकारी अध्यक्षों को उसे विधिपूर्वक स्वीकार करने की आज्ञा दी।[4] दूसरे दिन उसने राज्यश्री के ढूँढने के लिए प्रस्थान किया और कुछ ही पड़ावों के बाद विन्ध्याटवी में पहुँच गया।

विन्ध्याटवी, जैसा ऊपर कहा गया है, बहुत बड़ा वन था। उसके शुरू में ही एक बनगाँव (वनग्रामक) या जंगल को साफ करके बनाई हुई बस्ती थी। बाण ने इसका विस्तृत वर्णन किया है (२२७-२३०), जो हर्षचरित का विशिष्ट स्थल माना जा सकता है। संस्कृत साहित्य में तो यह वर्णन अपने ढंग का एक ही है। जंगली देहात की आदिमकालीन रहन-सहन का इसमें स्पष्ट चित्र है। ऐसे स्थान के आदमियों को हम शिकार और किसानी के बीच का जीवन व्यतीत करते हुए पाते हैं।

इस लम्बे वर्णन की रूपरेखा इस प्रकार है—गाँव के चारों ओर वन-प्रदेश फैले थे। खेत बहुत विरल थे। किसान हल-बैल के बिना कुदाल से धरती गोड़कर बीज छितराकर कुछ बो लेते थे। जंगली जानवरों का उपद्रव होता रहता था। जंगली रास्तों

---

१. बढ़िया मोतियों के हार गुप्तयुग में 'तारहार' कहलाते थे। कालिदास और बाण ने उनका उल्लेख किया है। अमरकोष के अनुसार मुक्ताशुद्धौ च तारः स्यात् (३।१६६)।

२. ससंख्यालेख्यपत्रान्, सालङ्कारापीडपीडान् कोषकलशान् (२२७)।

३. अपराजितपृच्छा (१२वीं शती) से ज्ञात होता है कि महाराजाधिराज के राज्य में ४ महामांडलिक, १२ मांडलिक, १६ महासामन्त और ३२ सामन्त होते थे (अ० ७८। ३२—३४)। सामन्तों से नीचे उतरकर ४६० चौरासी के चौधरी (चतुरशिक) और उसके बाद अन्य सब राजपुत्र या राजपूत कहलाते थे। मांडलिक, महासामन्त और राजपुत्र, शासन की ये इकाइयाँ बाण के युग से पूर्व अस्तित्व में आ चुकी थीं।

पालते थे। पुरुष जंगल में होनेवाले विविध सामान के बोझ लेकर और स्त्रियाँ जंगली फल बटोरकर इधर-उधर बेच आती थीं। थोड़े-से स्थान में हल-बैल की खेती भी थी। वहाँ किसानी का धंधा करनेवाले किसान बंजर धरती तोड़कर उसमें खाद डालकर खेतों को उपजाऊ बना रहे थे। गन्ने के बड़े-बड़े बाड़े यहाँ की विशेषता थी। जंगली बस्ती के घरों के चारों ओर काँटेदार बाड़ें थीं, जिनके भीतर लोग रहते और अपने पशु बाँधते थे, फिर भी जंगली जानवरों द्वारा वारदातें होती रहती थीं। घरों के भीतर गृहस्थी चलाने के लिए बहुत तरह का जंगल में होनेवाला सामान, फल-फूल-लकड़ी आदि बटोर-कर रख लिया गया था। अटवी-कुटुम्बियों के उसी गाँव में हर्ष ने भी अपना पड़ाव किया।

अब बाण के प्रस्तुत किये हुए चलचित्र का निकट से क्रमवार अध्ययन करना चाहिए।

१. वनबस्ती के चारों ओर के वन-प्रदेश दूर से ही उसका परिचय दे रहे थे। लोग साठी चावल का भूसा जलाकर धुआँ करने के आदी थे। कभी-कभी ऐसा होता कि उसकी आग फैलकर जंगली धान्य के खलिहान तक पहुँच जाती, जिससे वे धुमैले लगते थे। कहीं पुराने बीहड़ बरगदों के चारों ओर सूखी टहनियों के अंबार लगाकर गायों का बाड़ा बना लिया गया था। कहीं बघेरों ने बछड़ों पर वार किया था। उससे खीझकर लोगों ने बाघ को फँसाने के लिए जाल (व्याघ्रयन्त्र) लगा रखा था। घूमकर गश्त लगानेवाले वनपालों ने अनधिकृत लकड़ी काटनेवाले ग्रामीण लकड़हारों के कुठार जबरदस्ती छीन लिये थे।[1] एक जगह पेड़ों के घने झुरमुट में चामुंडा देवी का मंडप बना हुआ था।[2]

२. वनग्राम के चारों ओर घोर जंगल के सिवा और कुछ न था। इसलिए, लोग कुटुम्ब का पेट पालने के लिए व्याकुल रहते थे। उसी चिन्ता में दुर्बल किसान केवल कुदारी से गोड़कर परती धरती तोड़ते और खेत के टुकड़े (खंडलक) निकाल लेते।[3] खुली जगह के अभाव में खेत छोटे (अल्पावकाश) और दूर-दूर पर स्थित (विरलविरलैः) थे।

---

१. कश्मीर-प्रति में अयंत्रित वनपाल पाठ है, वही ठीक है। यंत्रित = एक स्थान में नियत; अयंत्रित = गश्त करनेवाले। पर = और, जिन्हें जंगल से लकड़ी काटने की नियमित आज्ञा प्राप्त न थी (२२७)।

२. चामुंडा विन्ध्याचल-प्रदेश की सबसे बड़ी देवी थी। बाण ने कादम्बरी में उसके मंदिर का विस्तृत वर्णन किया है। कालान्तर में चामुंडा की पूजा उत्तरी भारत के गाँव-गाँव में फैल गई। यह शवरनिषाद-संस्कृति की रक्तबलि चाहनेवाली देवी थी।

३. भज्यमानभूरिखिलकेत्रखण्डलकम् (२२७)। इसी वाक्य के एक अंश 'उच्चभाग-भाषितेन, (निर्णयसागरसंस्करण) का कश्मीरी पाठ 'उच्छभागभाषितेन' है। संभव है, यह 'उच्छ्भागभाषितेन' का अपपाठ हो। तब इसका यह अर्थ होगा कि किसान जंगल

कुदाली भाँजना पड़ता था, वही उनका सहारा था। जगह-जगह पेड़ों के कटने से जो ठूँठ बचे थे, वे फिर पत्तों का फुटाव लेने लगे थे। भूमि पर साँवाँ और छुईमुई (अलम्बुषा) का ऐसा घना जंगल छाया था और तालमखाने (कोकिलाक्ष) के क्षुप पैरों को ऐसे जकड़ लेते थे कि बोई हुई क्यारियों तक पहुँचना मुश्किल था; उन्हें जोतना-बोना तो और भी कठिन था। आने-जानेवाले कम थे, इसलिए पगडंडियाँ भी साफ दिखाई न पड़ती थीं। खेतों के पास ऊँचे मचान बँधे हुए कह रहे थे कि वहाँ जंगली जानवर लगते थे।

३. जंगल और बस्ती के मार्गों पर प्याउओं का विशेष प्रबन्ध था। ये प्याऊ क्या थीं, पथिकों के ठहरने-आराम करने के विश्राम-गृह थे! पेड़ों के झुरमुट देखकर प्याऊ के स्थान बना लिये गये थे। बटोही वहाँ आते और नये पल्लवों की टहनी तोड़कर पैरों की धूल झाड़कर छाया में बैठते थे। वहीं पर छोटी कुइयाँ खोदकर उसे नागफनी से घेर दिया गया था और दूर से पहचान कराने के लिए जंगली साल के फूलों के गुच्छे टाँग दिये गये थे। कुइयाँ के पास ही प्याऊ की मड़ैया घने घास-फूस से छा ली गई थी। बटोहियों ने सत्तू खाकर जो शकोरे फेंक दिये थे, उनपर जंगल की बड़ी नीली मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। पास में ही राहगीरों ने जामुन खाकर गुठलियाँ डाल दी थीं। कहीं कदम्बों के फूलों से लदी हुई टहनियाँ तोड़कर धूल में फेंक दी गई थीं।

इन प्रपाओं के भीतर जल का प्रबन्ध बड़े शौक से किया गया था। घड़ौंचियों पर प्यास बुझाने के लिए छोटी लम्बोतरी मिट्टी की गगरियाँ रखी हुई थीं। उनके ऊपर काँटे जैसी बुंदकियों की सजावट बनी थी[1] [चित्र ८७]। बालू की बनी हुई कलशियों में से पानी रिसकर गीली पेंदी से टपकता हुआ पथिकों की थकान मिटाता था।[2] सिरवाल नामक गीली घास में लपेटे हुए अलिंजर या बड़े माटों का जल खूब ठंडा हो गया था।[3] जल रीता करके जल

---

१. यहाँ बाण ने कर्करी, कलशी, अलिंजर, उदकुम्भ और घट इन पाँच मिट्टी के पात्रों का उल्लेख किया है, जो एक दूसरे से भिन्न होने चाहिएँ। कर्करी को कण्टकित कहा है। अहिच्छत्रा और हस्तिनापुर की खुदाई में मिले कुछ गुप्तकालीन पात्रों को देखने से 'कण्टकित' विशेषण की सार्थकता समझ में आती है। उनके बाहर की ओर सारी जमीन पर कटहल के फल पर उठे काँटों जैसा अलंकरण बना है, जो यहाँ चित्र में दिखाया गया है। प्रभाकरवर्द्धन के धवलगृह में भी मंचक पर रखी हुई पानी से भरी बलुआ कर्करी का उल्लेख हुआ है (१५६)। वही यहाँ अभिप्रेत है।

२. कलशी कर्करी से कुछ बड़ी ज्ञात होती है। इनमें पीने का पानी नहीं भरा था, बल्कि ये पौशाला में लटकाई रहती थीं और उनसे रिस-रिसकर टपकता हुआ पानी पथिकों के सिर आदि अंगों की थकान मिटाता था।

३. अलिंजर महाकुम्भ या बड़ा माट था। बाण ने इसी का दूसरा नाम 'गोल' दिया है (१५६)। धवलगृह के वर्णन में गोलों को सरस शैवाल में लपेटकर टाँगा हुआ कहा गया है (सरस-शैवलवलयितगलद्गोलयन्त्रके)। आज भी बड़े माटों को, जिनमें कई घड़े पानी आता है,

कुम्भों में लाल शर्करा भरकर प्याऊ में रखी गई थी और (शरबत के लिए) थोड़ी-थोड़ी निकाली जा रही थी। उससे जो ठंडक उत्पन्न होती थी, उससे ऐसा ज्ञात होता है, मानों ग्रीष्म में शिशिर ऋतु आ गई हो।[1] प्याऊ में कुछ घड़े ऐसे थे, जिनके मुँह गेहूँ की नालियों या तिनकों के ढक्कन (कट) से ढके थे और उनके ऊपर ग्रीष्म में जल को सुवासित करने के लिए पाटल के फूलों की कलियाँ रखी गई थीं (घटमुखघटित-कटहार-पाटलपुष्पपुटानाम, २२८)।[2] भीतर थूनियों के सिरों पर बालसहकार के फलों की डालें झूल रही थीं और हरे पत्तों पर पानी का छींटा देकर उनके झुराते हुए फलों को ताजा रखा जा रहा था।[3] झुंड के झुंड यात्री प्याऊ में आकर विश्राम करते और पानी पीकर चले जाते थे। एक ओर अटवी की प्रवेश-प्रपाओं से आनेवाली ठंडक से गर्मी कुछ कम हो रही थी। दूसरी ओर कोयला फूँकने के लिए लकड़ी के ढेरों में आग लगाकर अंगार बनानेवाले लुहार फिर उतनी ही तपन पैदा कर रहे थे (अंगारीयदारुसंग्रहदाहिभिः व्योकारैः, २२८)।

४. पड़ोसी प्रदेश में रहनेवाले निकटवासी कुणबी लोग[4] सब ओर से जंगल में काष्ठ संग्रह के लिए आ रहे थे। वे अपने घरों में खाने का आटा-सीधा आदि सामान छिपाकर (स्थगित) रख आए थे और बुड्ढों को रखवाली के लिए बैठा आये थे। लकड़ी काटने के लिए कुल्हाड़ा भाँजने की जो कड़ी मेहनत थी, उसे बरदाश्त करने के लिए अपने शरीर पर उन्होंने आवश्यक तेल आदि की मालिश कर रखी थी। उनके कन्धों पर भारी कुठार

---

१. यों भी पाटल शर्करा या लाल शक्कर जाड़े में ही बनाई और खाई जाती है। पाटल शर्करा का अर्थ कावेल ने लाल कंकर किया है और लिखा है कि उन्हें घड़े के ठंडे पानी में बोरकर बाहर निकालने से हवा ठंडी की जा रही थी। यह अर्थ घटता नहीं। वस्तुतः बाण ने स्वयं पाटल शर्करा (लाल शक्कर) और कर्क शर्करा (सफेद शक्कर) इन दोनों शब्दों का प्रयोग किया है (१५६)। वही अर्थ यहाँ अभिप्रेत है।

२. कश्मीरी प्रतियों का पाठ और निर्णयसागरीय संस्करण का पाठ भी 'कटहार' है और वही शुद्ध है, यद्यपि कठिन पाठ है। वस्तुतः बाण स्वयं लिख चुके हैं कि ग्रीष्म ऋतु में टटके पाटल पुष्पों की तेज सुगन्धि से पानीय जल सुवासित किया जाता था (अभिनवपटुपाटलामोदसुरभिपरिमलं जलं जनस्य पातुमभवदभिलाषो दिवसकरसंतापात्, ४६)। कट का अर्थ गेहूँ की नाली या उससे बुनी हुई चटाई या पर्दा। नाली बुनकर ढक्कन बनाने का रिवाज अभी तक है। हार का अर्थ यहाँ कंठाभरण या माला न होकर ले जानेवाला, रखनेवाला (हरतीति हारः) ठीक है। पाटल पुष्प का पुट=तुरन्त की खिली कली या अभिनव पटु पाटल। पुष्प को सड़ने से बचाने के लिए जल के भीतर न डालकर जल पर तैरते हुए तृण के ढक्कन पर रखकर जल को सुवासित करने की विधि

लपेटी हुई थी और उसी में पानी की लम्बोतरी घड़ियाँ, जिनके मुँह में पत्तों की डाट लगी थी, लटकी हुई थीं।[1] लकड़ी लादने के लिए उनके आगे-आगे बैलों की जोड़ी चल रही थी।

५. जंगल में तरह-तरह के शिकारी थे। खूँखार बड़े जानवरों (श्वापद) का शिकार करनेवाले व्याधे वन ग्राम के बाहरवाले जंगल में विचर रहे थे। उनके हाथ में पशुओं की ताँत की डोरियाँ, जाल और फन्दे थे।[2] वन के हिंस्र जानवरों (साउजो) के शिकार में दुकने के लिए टट्टियाँ (व्यवधान) खूब मोटी लगाई गई थीं। शिकारी कूटपाशों की गेंडुरी बनाकर साथ में लिए थे।[3] दूसरी तरह के बहेलिये चिड़ियाँ फँसाने वाले शाकुनिक थे, जो कंधे पर वीतंसक जाल या डला लटकाए थे, जो उनके बालपाशित आभूषण से उलझ-उलझ जाता था। उनके हाथों में बाज (ग्राहक), तीतर (क्रकर) और भुजंगा (कपिंजल) आदि के पिंजड़े थे। वे चिड़ियों की टोह में गाँव के आस-पास ही मँडरा रहे थे। उनके अलावा चिड़ीमारों के लड़के या छोटे चिरहटे (पाशिक-शिशु) बेलों पर लासा लगाकर गौरैया पकड़ने के ब्योंत में इधर से उधर फुदक रहे थे। चिड़ियों के शिकार के शौकीन नवयुवक शिकारी कुत्तों को, जो बीच-बीच में झाड़ी में से उड़ते हुए तीतरों की फड़फड़ाहट से बेचैन हो उठते थे, पुचकार रहे थे।

६. गाँव के लोग वन की पैदावार के बोझ सिर पर उठाये जा रहे थे। कोई शीधु (सेहुँड़) की छाल का गट्ठा लिये था। किसी के पास धाय (धातकी) के[4] ताजा लाल

---

१. 'पत्रवीटावृतमुखैः पीतकुटैः' का पाठान्तर पत्रवीटकपिहित मुखैर्वोटकुटैः' भी है। पीतकुटैः' पाठ अशुद्ध है। पीतकुटैः पाठ अर्थ की दृष्टि से तो शुद्ध है, पर मूलपाठ वोटकुटैः जान पड़ता है। यह कठिन पाठ था, जिसे पीतकुटैः द्वारा सरल बनाया गया। वोट हिन्दी में अभी तक चालू शब्द है, जिसका अर्थ लम्बोतरा कमचौड़े मुँह का मिट्टी का बर्तन है। वोट कुट=लम्बोतरा कम चौड़े मुँह का घड़ा। इस प्रकार का बोट अजन्ता की गुफा १ में चित्रित है [औंधकृत अजन्ता, फलक ३६, 'बुद्ध की उपासना करती हुई स्त्रियाँ' चित्र में ऊपर दीवालगिरी में लम्बोतरा पात्र 'वोटकुट' है।] (चित्र ८८)।

२. गृहीतमृगतन्तुतंत्री-जालवलय-वागुरैः। मृगतंतुतंत्री=पशुओं के तन्तु या स्नायुओं की बनी तंत्री या डोरी। मिलाइए पृ० २५५ पर जीववन्धनपाशतंत्रीतन्तवः।

३. श्वापद-व्यधन-व्यवधानबहलीसमारोपित-कुटीकृतकूटपाशैः; इस समास में कई पद पारिभाषिक और गूढ़ हैं। श्वापद = हिंस्रजन्तु, व्यधन=भोंकना, छेदना, अथवा शिकार। व्यवधान का अर्थ पर्दा है; यहाँ उसका ठीक अर्थ वे टट्टियाँ हैं, जिन्हें शिकारी दुकने के लिए रखते हैं। बहल का अर्थ मोटा या घना; बहलीसमारोपित मोटी या घनी लगाई हुई। तात्पर्य यह कि बड़े जानवर के शिकार के लिए मोटी दुकने की टाटी लगाई थी और जमीन में मजबूत खूटियों से गाड़े जानेवाले जाल लगे थे। हिरन आदि के लिए

मोम, मोर के पिच्छ, खस (लामज्जक), कत्थे की लकड़ी, कूठ[2] और लोध्र के भार सिरों पर उठाये हुए बोझिये जा रहे थे।[3]

७. जंगली फल बीनकर उन्हें बेचने की चिन्ता में जल्दी-जल्दी डग रखती हुई गँवई स्त्रियाँ (ग्रामेयिका) आस-पास के गाँवों को जा रही थीं।

८. जंगल के कुछ हिस्से में झूम की खेती थी, जहाँ सम्भवतः आदिम वासी हल के विना सिर्फ कुदाली से गोड़ते थे। लेकिन कुछ हल-बैल की खेती करनेवाले किसान भी थे। उनके पास तगड़े बैलों की जोटें थीं। वे पुराने खाद—कूड़े के ढेर उन लढ़िया गाड़ियों पर जिनके डगमग पहिये घिसटते हुए चूँ-चूँ कर रहे थे और कूड़े-धूल से लथपथ जिनके बैलवान बैलों को ललकार रहे थे, लादकर उन रूखे खेतों में ले जाकर डाल रहे थे, जिनकी उपजाऊ शक्ति कम हो गई थी।[4]

९. गन्नों के खूब लहलहाते हुए चौड़े बिश्रासवाले पौधों से भरे हुए ईख के बाड़े गाँव की हरियाली बढ़ा रहे थे। खेतों के रखनेवाले जब गन्नों में छिपे हुए हिरनों को ताककर बैलों के हाँकने का डंडा उनकी ओर चलाते तो हिरन छलांग मारकर ऊँची बाँसों की बाड़ के उस पार निकल जाते थे। जंगली भैंसों के लम्बे हड्डे खेत में बिजूके की तरह गाड़े गये थे; उनसे डरे हुए खरहे गन्ने के ऊँचे अंकुरों को ही कुतर डालते थे।[5]

१०. वनग्राम के घर एक दूसरे से काफी फासले पर (अतिविप्रकृष्टान्तर) थे। उनके चारों ओर मरकत के जैसे चिकने हरे रंगवाली सेहुँड (स्नुहा) की बाड़ लगी थी। धनुष बनाने के योग्य कड़े पतले बाँसों की बँसवारी पास में उग रही थी। करंजुए के काँटेदार वृक्षों की पंक्ति में रास्ता बनाकर घुसना मुश्किल था। एरंड, बचा, वंगक (बैंगन), तुलसी, सूरण कन्द, सोंहिजन (शिग्रु), गंठिवन (ग्रन्थिपर्णी), गरबेरुआ (गवेधुक) और मरुआ धान (गमुत्) के गुल्म घरों के साथ लगी हुई बारियों (छोटी बगीचियों) में भरे हुए थे।[6] ऊँची बल्लियों पर चढ़ाई हुई लौकी की बेलें फैलकर छाया दे रही थीं। बेरी के गोल मंडपों के नीचे खैर के खूँटे गाड़कर बछड़े बाँध दिये गये थे।[7] मुर्गों की

---

१. पिचव्य=रुई। अतसीशणपट्टमूलक की जगह अतसी-शणमूलक भी पाठ है।

२. कुष्ठ=कूट। एक प्रकार का पौधा, जिसकी जड़ सुगन्धि और औषधि के काम आती है। भारतवर्ष का कूठ का व्यापार प्राचीन काल में प्रसिद्ध था।

३. बाण ने तीन प्रकार के बोझों के लिए तीन शब्द प्रयुक्त किये हैं—संभार=गाड़ी का बोझा; भार=सिर का बोझा; भारक=जानवर पर लदा हुआ बोझा।

४. युक्तशूरशकुरशाक्वराणां पुराणपांसूत्करकरीपकूटवाहिनीनां धूर्गतधूलिधूसरसैरिभसरोषस्वरसायाभोणानां संक्रोडच्चद्ढुलचक्रचीत्कारिणीनां शकटश्रेणीनां संपातैः संपाद्यमानदुर्बलोर्वीविरूक्षक्षेत्रसंस्कारम् (२२६)।

५. शृंग पाठ अशुद्ध है, कश्मीरी पाठ शुंग है।

को जोड़कर बनी ली गई थीं। [illegible]
थे, जिनपर पलाश के फूल और गोरोचना की सजावट थी। उन घरों में चतुर गृहस्थिनों ने कई तरह की काम की चीजें बटोरकर रख छोड़ी थीं, जैसे सेमल की रुई, नलशालि[3], कमल की जड़ (कमल ककड़ी; शालूक), खंडशर्करा, कमल के बीज (मखाने); बाँस, तंडुल और तमाल के बीज। चटाइयों पर गम्भीरी[4] के ढेर (जड़, पत्ती, फल आदि) सूख रहे थे, जो धूल पड़ने से कुछ मटमैले लग रहे थे। खिरनी (राजादन) और मैनफल (मदन फल) सुखाकर रखे गये थे। महुए का आसव और चुआया हुआ मद्य प्रायः हर घर में मौजूद था। प्रत्येक घर में कुसुम्भ, कुम्भ और गंडकुसूल भी थे।[5] अटवी-कुटुम्बियों के उन घरों में रवाँस (राजमाष), खीरा (त्रपुस), ककड़ी, कोंहड़ा और लौकियों के बीजों से बेलें चल रही थीं। घरों में वनबिलाव, नेवले, मालुधान और शालिजात (अज्ञात वनपशु) के बच्चे पले हुए थे। इस प्रकार के वनग्राम को देखकर हर्ष का मन प्रसन्न हुआ और उसने वहीं वास किया (२३०)।

---

१. पक्षिपूपिकावापिका से पहले कश्मीरी पाठ में क्षिप्र शब्द है, जिसका पाठ क्षिप्त भी हो सकता है—(कर्णे)।
२. वेणु पोट = बाँस के चिरे हुए फट्टे। पोट=शकल (शंकर)।
३. नल-शालिः शालिभेदः (शंकर)। सम्भव है नलशालि का अर्थ नरसल हो, जिसे नरकुल भी कहते हैं।
४. काश्मर्य = गम्भारी (Gmelina arborea) एक बड़ा पेड़ जिसकी जड़ औषधि या रसायन में काम आती है। इसकी गिनती दशमूल में की जाती है। पत्ती मूत्ररोग में और फल ज्वरौषधि में काम आते हैं।
५. कुसुम्भ को कुसुम्भ का फूल मानकर टीकाकार अर्थ स्पष्ट नहीं कर सके। वस्तुतः यहाँ कुसुम्भ का अर्थ जल का छोटा पात्र है। दे० मानिअर विलियम्स-कृत संस्कृत कोश, कुसुम्भ=(The water pot of the student and sanyasin)। कुम्भ = धान्य रखने का माट (तुलना कीजिए, कुसूलधान्यको वा स्यात् कुम्भीधान्यक एव वा, मनु) गण्ड-कुसूल, यह शब्द महत्त्वपूर्ण है। करीब दो-ढाई फीट व्यास की छः इंची ऊँची मिट्टी की चकरियों या माँडलों को ऊपर-नीचे रखकर गण्डकुसूल बनाया जाता था। अहिच्छत्रा के देहातों में पूछने पर ज्ञात हुआ कि ये अभी तक बरते जाते हैं, और 'गाँड' कहलाते हैं; जैसे बंगाल में उन्हें मंडल से मांडल कहा जाता है। अँगरेजी में इन्हें ring-wells कहा गया है। अहिच्छत्रा, हस्तिनापुर, राजघाट आदि प्रायः सभी प्राचीन स्थानों की खुदाई में इस प्रकार के गंडकुसूल पाये गये हैं। पकाई मिट्टी की इन चकरियों का प्रयोग धान्यकुसूल, अस्थायी जलकूप, और संडास 'गूथकूप' इन तीनों कामों के लिए गृहवास्तु में होता था। (चित्र ८६)।

वनग्राम में रात बिताकर हर्ष ने दूसरे दिन विन्ध्याटवी में प्रवेश किया और बहुत दिनों तक उसमें इधर से उधर घूमता रहा (आट च तस्यामितश्चेतश्च सुबहून् दिवसान्), पर राज्यश्री का कुछ समाचार न मिला। एक दिन जब वह व्याकुलता से भटक रहा था, आटविक सामन्त शरभकेतु का पुत्र व्याघ्रकेतु एक शबर युवक को साथ लेकर हर्ष से मिलने आया। अटवी या जंगल प्रदेश के जो राजा थे, वे आटविक सामन्त कहलाते थे समुद्रगुप्त ने अपने प्रयागस्तम्भ-लेख में लिखा है कि उसने सकल आटविक राजाओं को अपना परिचारक बना लिया था (परिचारकीकृतसर्वाटविकराजस्य)। इसकी राजनीतिक व्याख्या यह ज्ञात होती है कि आटविक राजाओं का पद सामन्त-जैसा माना गया था, और जैसे अन्य सामन्त दरबार के समय सेवाचामरग्रहण, यष्टिग्रहण आदि सेवाएँ बजाते थे, वैसे ही आटविक राजा भी उसपद पर नियुक्त होते थे। समुद्रगुप्त के लेख से यह भी विदित होता है कि अटवी राज्य और महाकान्तार ये दोनों भौगोलिक प्रदेश थे। भारतीय मानचित्र पर इनकी पहचान इस प्रकार जान पड़ती है। पश्चिम में चम्बल से लेकर सिन्ध-बेतवा केन के मध्यवर्ती प्रदेश को शामिल करके पूरब में शोण तक आटविक राज्यों का सिलसिला फैला था। उन्हीं के भौगोलिक उत्तराधिकारी अभी कल तक बुंदेलखंड और बघेलखंड के छोटे-छोटे रजवाड़े थे। इसके दक्षिण में घने जंगलों की जो चौड़ी मेखला है, वही महाकान्तार का प्रदेश होना चाहिए। इसका पश्चिमी भाग दण्डकवन और पूरबी महाकान्तार कहलाता था। ये भौगोलिक नाम हर्ष के समय में भी प्रचलित थे। विन्ध्याचल के उत्तर में आटविक राज्य था और उससे दक्षिण में दण्डकवन महाकान्तार का विस्तार था।

शबर युवक का नाम निर्घात था। वह समस्त विन्ध्याचल के स्वामी और सब शबर वसतियों के नेता शबर सेनापति भूकम्प का भान्जा था। विन्ध्याचल के जंगल के पत्ते-पत्ते से वह परिचित था, भूमि की तो बात ही क्या (२३२-२३३)। वह शबर-युवक चलता-फिरता काला पहाड़ (अंजनशिलाच्छेदमिव चलन्तम्) (२३२) और खराद पर उतारा हुआ लोहे का खम्भा था (यन्त्रोल्लिखितगरमासारस्तम्भमिव, २३२)। यह उल्लेख महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि बाण से लगभग दो ही शती पूर्व मेहरौली की लोहे की लाट बन चुकी थी। ढलाई के बाद उस तरह की लाट खराद पर चढ़ाकर गोल और साफ की जाती होगी—यही 'यन्त्रोल्लिखित' पद से सूचित होता है। निर्घात के पक्ष में भी यन्त्रोल्लिखित विशेषण सार्थक था। उसके शरीर का मध्यभाग इस प्रकार गोल था, मानो खराद पर उतारा गया हो (प्रथमयौवनोल्लिख्यमानमध्यभाग, २३२)। कालिदास ने भी चौड़ी छाती के नीचे गोल कटि प्रदेश के लिए खराद पर उल्लिखित होने की कल्पना की है

राज और नागराज दृश्य में नागराज के पीछे तलवार लिये हुए जो व्यक्ति खड़ा है, वह शबर ही है। 'उसके ऊँचे माथे के चारों ओर काले केशों का घेरा-सा खिंचा हुआ था। उसकी नाक चपटी और बीच में नीची थी, ठुड्डी मोटी और छोटी थी, अधर चिपटा था, गाल की हड्डी अधिक उभरी हुई थी, और जबड़े चौड़े थे।' ये सब लक्षण अजन्ता के चित्र में स्पष्ट दिखाये गये हैं (औंधकृत अजन्ता, फलक ३३)। उसकी तीन भौंहों के बीच में त्रिशाख (त्रिशूल) सा बना था। यह लक्षण भी चित्र में साक्षात् उपलब्ध है (चित्र ६०)।

उसके कान में सुग्गे का हरा पङ्ख खोंसा हुआ था। नीचे पाली में वह कच्चे शीशे का बाला पहने था।[1] काच्चर काच का उल्लेख भैरवाचार्य के वर्णन में भी पहले आ चुका है (१०३)। उसके नेत्रों में स्वाभाविक लाली थी, बरौनियाँ कम थीं, और आँखों में कुछ चिपचिपापन था। गर्दन एक ओर को कुछ झुकी (अवाग्र) थी, जैसा अजन्ता के ऊपर लिखे चित्र में भी है, और कंधा कुछ लटका हुआ स्कन्न था। उसकी छाती चौड़ी और भुजाएँ लम्बी थीं। कलाई में सूअर के बालों में लपेटी हुई नागदमन नामक विषहर औषधि की गुच्छियाँ बँधी थीं और गोदन्ती मणि से जड़ा हुआ राँगे का कड़ा पड़ा था।[2] उसका उदर छटा हुआ, किन्तु टूंडी उभरी हुई थी।[3] उसकी चौड़ी कमर में छोटी तलवार (कृपाणी) बँधी थी, जिसकी मूँठ सींग की थी और मुहनाल पर पारा चढ़ा हुआ था। वह कटारी दुमुही साँप की खाल की दो पट्टियों से बनी म्यान में रखी हुई थी, जिसपर चीते के चमड़े के चकत्ते काटकर शोभा के लिये लगाये गये थे। म्यान के ऊपर औंधे मुँह लटकते हुए मृगचर्म की परतली ढकी थी।[4] उसकी पीठ पर धौंकनी की आकृति का रीछ के चमड़े का बना तरकस बँधा था, जिसके ऊपर की ओर के घने भौंराले

---

१. पिनद्धकाचरमणिकर्णिकेन श्रवणेन, २३१।

२. गोदन्तमणिचित्रत्रापुषं वलयं बिभ्राणम्। छोटी जातियों में अभी तक राँगे या गिलट का जेवर पहनने का व्यापक रिवाज है। शंकर ने गोदन्त का अर्थ एक तरह का साँप किया है। श्रीकण्ठ ने गोदन्तीहरताल की बनी गुरिया अर्थ किया है, जो ठीक जान पड़ता है।

३. तुण्डभम् (२३२)। जंगली जातियों में टूँडी बड़ा होना सुन्दरता का चिह्न माना जाता है।

४. तलवार या कटार के फल का ऊपरी भाग (मस्तक) हिन्दी में मुहनाल और नोक का भाग तहनाल कहलाता है। मुहनाल की तरफ मूँठ जड़ी जाती है। उसीका वर्णन यहाँ किया गया है। अहीरमणीचर्मनिर्मितपट्टिकयाः चित्रचित्रकत्वकतारकित-परिवारया संकुब्जाजिनजालकितया शृंगमयमसृणमुष्टिभागभास्वरया पारदरसलेशलिप्त-समस्तमस्तकया (२३२) अहीरमणी = द्विवक्त्र अर्थात् दुमुही साँपिन। परीवार = खड्गकोश

काले बाल बाघ के चितकबरे चमड़े से ढके थे।[1] बाँस की तरह ठोस और तगड़ी बाँह पर मोरपित्त से फूलपत्तियों का गोदना गुदा था।[2] भुजा के निर्माण में नस-नाड़ियों की तारकशी ऐसी लगती थी, मानो खैर की जटाएँ एक साथ बटी गई हों।[3] बाँह का ऊपरी तिहाई भाग चहे के पंखों से सुशोभित था। बायें कन्धे पर धनुष रखा हुआ था। उसकी निचली कोर के नुकीले भाग द्वारा कंठ छेदकर उसमें एक तीतर लटकाया हुआ था, जिसकी चोंच के भीतर का ऊपरी लाल तालु दिखाई पड़ रहा था। खरहे की एक टाँग की लम्बी हड्डी (नलक) तेज बाण की धारा से घुटने के पास काटकर, दूसरी टाँग की पिंडली पहले की नलकी में पिरो देने से जो कमान्चा बन गया था, उसमें अपनी बाँह का अग्र भाग डालकर उसने खरहा भुजा पर टाँग लिया था। नाक से बहते हुए लाल रक्त से सना हुआ खरहे का सिर नीचे की ओर लटक रहा था और झूलते हुए शरीर के खिच जाने से सामने की ओर पेट पर के मुलायम सफेद रोओं की धारी साफ दिखाई देती थी। खरहा और तीतर उसके शिकार की बानगी की मूठ से जान पड़ते थे।[4] दाहिने हाथ में घोर विष से बुझी हुई नोकवाला बाण[5] था, मानो पूँछ से पकड़ा हुआ काला नाग हो। वह शबर-युवा क्या था मानो विन्ध्य की खान से गलता हुआ लोहा निकल रहा था, मानो चलता-फिरता तमाल का वृक्ष था। वह हिरनों के लिए कालपाश, हाथियों के लिए ज्वर, सिंहों के लिए धूमकेतु, भैंसों के लिए महानवमी (विजयादशमी से पूर्व दुर्गानवमी) का उत्सव था। वह साक्षात् हिंसा का निचोड़, पाप का फल, कलिकाल का कारण, कालरात्रि का पति-जैसा लग रहा था (२३२)।

---

१. अच्छभल्लचर्ममयेन भल्लीप्रायप्रभूतशरभृता शवलशार्दूलचर्मपटपीडितेन अलिकुल-कालकम्बललोम्ना पृष्ठभागभाजा भस्त्राभरणेन (२३२)। धौंकनीनुमा तरकश के लिए दे० चित्र ६७।

२. प्रचुरमयूरपित्तपत्रलता चित्रतत्वचि त्वचिसारगुरुणि दोषि (२३२)।

३. 'खदिरजटानिर्माणे' पद को बाहु के विशेषण के रूप में वजन से समझने का प्रयत्न किया गया है।

४. अवाक्शिरसा शितशरकृत्तैकनलकविवरप्रवेशितेनरजंघाजनितस्वस्तिकबन्धेन बन्धूक-लोहितरुधिरराजिरंजितघ्राणवर्त्मना वपुर्वितति व्यक्तविभाव्यमानकोमलक्रोडरोमशुक्लिम्ना शशेन शिताटनी शिखाग्रग्रथितग्रीवेण चापावृत्तचंचूत्तानताम्रतालुना तित्तिरिणा वर्णकमुष्टि-मिव मृगयाया दर्शयन्तम्, २३२। वर्णक मुष्टि का अर्थ कावेल और कणे ने रंगों या उबटन की मुट्ठी किया है। वस्तुतः इस प्रसंग में वर्णक का अर्थ नमूना या बानगी है और वर्णकमुष्टि का अर्थ बानगी की मूठ है। किसी बड़े ढेर में से जैसे बानगी की मुट्ठी भरी जाती है, वैसे ही खरहे-तीतर उसके भारी आखेट की बानगी थे। 'शितशरकृत्तै-कनलक विवरप्रवेशितेनरजंघाजनितस्वस्तिकबन्धेन' पद में नलक और जंघा पद सार्थक

शबर युवक ने पृथ्वी पर मस्तक रखकर हर्ष को प्रणाम किया एवं तीतर और खरगोश की भेंट सामने रखी। सम्राट् ने आदरपूर्वक पूछा—'भाई, तुम इस समस्त प्रदेश से परिचित हो और इन दिनों यहाँ घूमते रहे हो। क्या सेनापति या उसके किसी अनुचर के देखने में कोई सुन्दर स्त्री इधर आई है?' निर्घात ने इस प्रश्न से अपने को धन्य मानते हुए प्रणाम-पूर्वक कहा—'देव, इस स्थल में सेनापति की जानकारी के बिना हिरनियाँ भी नहीं विचरतीं, स्त्रियों की तो बात ही क्या? ऐसी कोई स्त्री नहीं मिली। फिर भी देव की आज्ञा से इस समय सब काम छोड़कर ढूँढ़ने का प्रयत्न किया जा रहा है। यहाँ से एक कोस पर[1] पहाड़ की जड़ में वृक्षों के घने झुरमुट में भिक्षावृत्ति से निर्वाह करनेवाला (पिण्डपाती) दिवाकर-मित्र-नामक पाराशरी भिक्षु अनेक शिष्यों के साथ रहता है, शायद उसे खबर लगी हो।'

यहाँ बौद्ध भिक्षु दिवाकर मित्र को पाराशरी कहा गया है, यह महत्त्वपूर्ण है। पाराशरी भिक्षुओं का सबसे पहला उल्लेख पाणिनि में (४।३।११०) है। वहाँ कहा है कि जो पाराशर्य (पाराशर के पुत्र) के कहे हुए भिक्षु सूत्रों का अध्ययन करते थे, वे पाराशरी भिक्षु कहलाते थे। विद्वान् लोग भिक्षु-सूत्रों से पाराशर्य व्यास के वेदान्त सूत्र प्रायः समझते रहे हैं। वेदान्त सूत्रों का अध्ययन करनेवाले भिक्षु पाराशरी होने चाहिए। किन्तु यहाँ बाण के समय में तो स्पष्ट ही बौद्धमतानुयायी दिवाकर मित्र को पाराशरी कहा गया है। पूर्व में यह भी आ चुका है कि पाराशरी लोग कमंडलु के जल से हाथ-पैर धोकर चैत्य-वंदन करते थे (८०)। बाण ने तो यहाँ तक कहा है कि ब्राह्मण से प्रेम करनेवाला पाराशरी संसार में दुर्लभ है।[2]

बाण के समय में पाराशरी भिक्षुओं का ब्राह्मणों से बड़ा विरोध था। ये पाराशरी कौन थे, किस मत या दर्शन के अनुयायी थे, और क्यों ब्राह्मणों से इनका वैर था, यह एक गुत्थी है, जिसपर प्रकाश पड़ना आवश्यक है। अभी तक इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर हमारे सामने नहीं है। सम्भव है, शङ्कराचार्य से पूर्व की शताब्दियों में वेदान्त सूत्र या भिक्षु-सूत्रों के अध्ययन करनेवाले वेदान्ती और बौद्धों के शून्य अथवा माध्यमिक दर्शन के अनुयायी लोगों में बहुत-कुछ तादात्म्य और दृष्टिकोण का सादृश्य रहा हो। अन्तिम तत्त्व के विषय में भी दोनों का एकमत होना सम्भव है। कम से कम शंकराचार्य के पूर्ववर्ती और उनके दादागुरु श्री गौड़पादाचार्य की स्थिति बहुत-कुछ इसी प्रकार की थी जिन्होंने बौद्ध दर्शन के तत्त्वों का जैसा प्रतिपादन वेदान्त में किया है। वे खुले शब्दों में 'द्विपदां वर' और 'संबुद्ध भगवान् बुद्ध' के प्रति अपनी आस्था प्रकट करते हैं।[3] गौड़पाद का दर्शन नागार्जुन के शून्यवाद के बहुत नजदीक है। गौड़पाद और बौद्ध दार्शनिकों के

---

१. अर्धगव्यूतिमात्रे (२२३)। गव्यूति = २ कोस (क्रोश युग, या २००० धनु। १ कोस = १००० धनु। १ धनु = ४ हाथ या २ गज या ६ फुट। अतएव १ कोस या अर्ध गव्यूति = ६०० फुट या २०० गज। दूरी की लम्बाई का यह मान

बीच में पूरी तादात्म्य ज्ञात होता है। यह स्थिति सातवीं शती में थी, जब बाण हुए। सम्भवतः बाह्य आचार-विचार में बौद्ध भिक्षु और पाराशरी भिक्षु एक-सा व्यवहार करते हों। इसी से बाण ने पाराशरी भिक्षुओं को भी बौद्धों की भाँति चैत्य-पूजा करते हुए लिखा है। बाण के युग में वेदान्त-दर्शन के माननेवालों का पृथक् अस्तित्व इसी नाम से न था, किन्तु गौड़पाद की तरह वे लोग उपनिषदों का आश्रय लेकर चले थे। दिवाकर मित्र के आश्रम में बाण ने जहाँ सब दार्शनिकों का परिगणन किया है, वहाँ कापिल (सांख्य), काणाद (वैशेषिक), ऐश्वरकारणिक (नैयायिक), सासतान्तव (मीमांसक) इन चार आस्तिक दर्शनों के अतिरिक्त औपनिषद अर्थात् उपनिषदों के अनुयायी दार्शनिकों का भी उल्लेख किया है। अवश्य ही इसका संकेत उनकी ओर होना चाहिए, जो गौड़पाद की भाँति उपनिषद और बादरायण की परम्परा के अनुयायी थे। हर्षचरित के टीकाकार शंकर ने औपनिषद पद का अर्थ वेदान्तवादी किया है। गौड़पाद से ही मायावाद का आरम्भ माना जाता है। उनकी दृष्टि में माया कल्पित यह जगत् स्वप्न है तथा गन्धर्व नगर की तरह असत्य है। गौड़पाद के इस दृष्टिकोण को ब्राह्मणधर्म के मुख्य अनुयायी पांचरात्र और भागवत उस समय कदापि स्वीकार नहीं कर सकते थे। उनका दृष्टिकोण भक्ति-प्रधान था, जिसमें वासुदेव या विष्णु की भक्ति ही जीवन की प्रेरणा का मूल स्रोत थी। यद्यपि इस युग के धार्मिक मतवाद और उनके सम्बन्धों की पूरी जानकारी हमारे पास नहीं है और ज्ञात होता कि पारस्परिक प्रतिक्रियाओं को जानने की बहुत-सी कड़ियाँ अब लुप्त हो चुकी हैं, फिर भी कुछ ऐसी ही परिस्थिति में पाराशरी या वेदान्तवादी ब्राह्मणधर्म के बाह्य विश्वासों का विरोध करते रहे होंगे।

दिवाकर मित्र मैत्रायणी शाखा का ब्राह्मण कहा गया है, जिसने युवावस्था में ही चित्त-वृत्तियों की एकाग्रता प्राप्त कर लेने से प्रव्रज्या ग्रहण करके बौद्ध भिक्षुओं के गेरुए वस्त्र धारण कर लिये थे। दिवाकर मित्र स्वर्गीय ग्रहवर्मा का बालपन का मित्र था और कई बार हर्ष उसकी प्रशंसा सुनकर उससे भेंट करने की बात मन में ला चुका था। अब अचानक इसका प्रसंग आया जानकर वह प्रसन्न हुआ और 'निर्घात' से दिवाकर मित्र के आश्रम का मार्ग दिखाने की आज्ञा दी।

विन्ध्याटवी के प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए बाण ने जंगलों में होनेवाले वृक्षों का वर्णन किया है। इस समय तक हर्ष घने जंगल के भीतर आ गये थे। इस वर्णन में निम्नलिखित वृक्षों का उल्लेख है—कर्णिकार चम्पक, नमेरु, सल्लकी नलद), नारिकेल, नागकेसर (हरिकेसर), सरल, कुरबक, रक्ताशोक, बकुल, केसर, तिलक, हींग, सुपारी, प्रियंगु, मुचुकुन्द, तमाल, देवदारु, नागवल्ली (तांबूली), जामुन, जम्भीरी नींबू जंबीर), धूलि-कदम्ब[1] (गरमी में फूलनेवाला विशेष प्रकार का कदम्ब), कुटज, पीलु, शरीफा (सदाफल), कटफल (कटहल), शेफालिका, लवलीलता, लकुच (बड़हर), जायफल (जातिफल)।

सूराखों में घुस रहे थे। रंकु-नामक मृग निडर घूम रहे थे। नेवले आपस में धमाचौकड़ी मचा रहे थे। कोयल नई फूटी हुई कलियों का आहार कर रही थी। चमूरु हिरनों के झुण्ड आम की झुरमुट में बैठे हुए जुगाली कर रहे थे। नीलांडज मृग सुख से बैठे थे। दूध पीते हुए नीलगाय के बच्चों को पास में बैठे भेड़िये कुछ कहे बिना देख रहे थे। कहीं गिरिनिर्झरों के पास खड़े हाथियों के झुण्ड ऊँघ रहे थे। कहीं रुरु हिरन किन्नरियों के संगीत का आनन्द ले रहे थे, तेंदुए उन्हें देखकर प्रसन्न हो रहे थे। हरी हल्दी की जड़ खोदते हुए सूअरिओं के बच्चों को थूथड़ियाँ रँग गई थीं। झाड़ चूहे (या सेही) गुंजा वृक्षों के कुंजों में गूँज रहे थे। जायफल के नीचे शालिजातक (अं० civet) नामक पशु सोये थे। लाल ततैयों के डंक मारने से कुपित हुए बंदरों ने उनके छत्तों को नोच डाला था। लंगूर बड़हल के फल खाने के लिए लबली लताओं के इस पार से उस पार कूद रहे थे।' (२३४ २३५)।

इस प्रकार बाण का यह वर्णन कुछ तो उसके स्वयं गहरे निरीक्षण का परिणाम है और कुछ साँचे में ढले हुए वन वर्णनों की शैली पर है।

दिवाकर मित्र के आश्रम में कमंडलु, भिक्षापात्र और चीवर वस्त्रों के अतिरिक्त बाण ने उन पकाई हुई मिट्टी की लाल मुहरों (पाटल मुद्रा) का भी उल्लेख किया है, जिनपर चैत्य या स्तूप की आकृतियाँ बना होती थीं। इस प्रकार की मोहरों का यह उल्लेख स्वागत के योग्य है। प्राचीन बौद्ध स्थानों की खुदाई में इस प्रकार की चैत्यांकित मिट्टी की मोहरें भारी संख्या में पाई गई हैं। उनपर बीच में एक या अधिक स्तूप बने रहते हैं और प्रायः बौद्धों का 'ये धर्मा हेतुप्रभवाः' मन्त्र एक बार या अनेक बार लिखा रहता है।[1] दर्शनार्थी लोग इस प्रकार की मोहरें अपने साथ लाते और पूजा में चढ़ा देते थे। जैसा बाण ने लिखा है, वे एक किनारे पर ढेर कर दी जाती थीं (निकटकुटीकृतपाटलमुद्राचैत्यक मूर्तयः २३५)। [चित्र ६१]।

आश्रम निकट आया जानकर हर्ष घोड़े से उतर पड़ा और पहाड़ी नदी के जल में हाथ-मुँह धोकर अश्वसेना को वहीं छोड़ माधवगुप्त के कंधे पर हाथ रखकर पैदल ही चला। वहाँ उसने वृक्षों के बीच में दिवाकर मित्र को देखा और दूर से ही उसे आदरपूर्वक प्रणाम किया। बाण ने दिवाकर मित्र और उसके आश्रम के वर्णन में अपने समकालीन बौद्धधर्म-सम्बन्धी अनेक अभिप्रायों और संस्थाओं का उल्लेख किया है। इन्हें हम चार भागों में बाँट सकते हैं, १. भिक्षु, २. तत्त्व, चिन्तन की विधियाँ, ३. बौद्धधर्म का विशेष प्रचार और ४. दिवाकर मित्र के रूप में उस युग के एक बड़े महन्त का वर्णन। सबसे पहले उन अनेक दार्शनिकों, सम्प्रदायों और भिक्षुओं के नाम हैं, जो उस समय के धार्मिक आन्दोलन में प्रमुख भाग ले रहे थे। यह कल्पना की गई है कि वे सब उस आश्रम में एकत्र होकर तत्त्वचिंतन में भाग ले रहे थे। इन सम्प्रदायों के नाम इस प्रकार हैं।

मतानुयायी शाक्य भिक्षु)। १०. लोकायतिक (चार्वाक)। ११. कणाद (वैशेषिक)। १२. औपनिषद (उपनिषद् या वेदान्त दर्शन के ब्रह्मवादी दार्शनिक)। १३. ऐश्वर कारणिक (नैयायिक, प्राचीन पाली साहित्य में भी 'इस्सर कारणिक' नाम आया है)। १४. कारन्धमी (धातुवादी या रसायन बनानेवाले)। १५. धर्मशास्त्री (मन्वादि स्मृतियों के अनुयायी)। १६. पौराणिक। १७. साप्ततन्तव (सप्ततन्तु अर्थात् यज्ञवादी मीमांसक)। १८. शाब्द (व्याकरण दर्शन या शब्द ब्रह्म के अनुयायी, जिनके विचारों का परिपाक भर्तृहरि के वाक्यपदीय में मिलता है)। १९. पांचरात्रिक (पंचरात्र-संज्ञक प्राचीन वैष्णव मत के अनुयायी)। इनके अतिरिक्त और भी (अन्यैश्च) मत-मतान्तरों के माननेवाले वहाँ एकत्र थे।

इस सूची में बाण ने अपने समय के दार्शनिक जगत् की बानगी दी है। भारत के धार्मिक इतिहास के लिए इसका महत्त्व है। सातवीं शती के अनन्तर भी धार्मिक क्षेत्र में कितने ही महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होते गये और शैव, कापालिक और कालामुख आदि विशेष सम्प्रदायों के नाम इसके साथ क्रमशः जुड़ते गये, जिनका चित्र 'यशस्तिलक' चम्पू में ऐसे ही प्रसंग में खींचा गया है। (श्रीकृष्णकान्त हंदीकी-कृत यशस्तिलक, पृ० ३४६-६०)।

इस सूची में कई बातें ध्यान देने योग्य हैं। बौद्धों के लिए उस समय अधिकतर जैन शब्द चलता था। बाण ने स्वयं शाक्य मुनि-शासन में निरत बौद्ध साधुओं के समूह के लिए जैनी सज्जनता (२२४) पद का प्रयोग किया है। बुद्ध के लिए उस समय 'जिननाथ' विशेषण प्रायः प्रयुक्त होता था। बौद्धधर्म के लुप्त हो जाने के बाद से जैन पद केवल जैनों के लिए प्रयुक्त होने लगा। इस सूची में शैव और पाशुपत मतों का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, जिनका उस समय बड़ा प्राबल्य था। वस्तुतः मस्करी भिक्षु ही उस समय के पाशुपत थे। पाशुपत भैरवाचार्य और उनके शिष्य को बाण ने मस्करी कहा है (१०२)। भागवतों के दो भेद भागवत और पाञ्चरात्रिक नामों से अलग अलग कहे गये हैं। कुषाण और गुप्त-युग में भागवत धर्म का कई रूपों में विकास हुआ। वैखानस मतानुयायी लोग विष्णु और उनके चार सहयोगी—अच्युत, सत्य, पुरुष और अनिरुद्ध—की उपासना करते थे। सात्वत लोग विष्णु की नारायण के रूप में उपासना करते थे। नृसिंह और वराह के रूप में महाविष्णु की मूर्ति की कल्पना उनकी विशेषता थी। नृसिंह वराह और विष्णु की कितनी ही गुप्त-कालीन मूर्तियाँ मथुरा कला में मिली हैं, वे सात्वतों के सिद्धान्त से अनुप्राणित जान पड़ती हैं। इन दोनों से प्राचीन मूलपंचरात्र सिद्धान्त था। उस आगम के अनुयायी पांचरात्र या पांचरात्रिक कहलाते थे। ये वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के रूप में चतुर्व्यूह को मानते थे। इनमें भी जो केवल वासुदेव की आराधना करते थे, वे एकान्तिन् कहलाते थे। नारद पंचरात्र के अनुसार एकान्तियों के दो भेद थे - शुद्ध जो केवल वासुदेव को ही ईश्वर मानकर उनकी पूजा करते थे (वासुदेवैकयाजिन), और दूसरे मिश्र जो विष्णु के अति-

भागवत इसी एक नाम से पुकारे जाने लगे और उनके पारस्परिक सूक्ष्म भेद भी लुप्त हो गये। किन्तु वैखानस सात्वत और पांचरात्र संहिताओं और आगमों के कई सौ ग्रन्थों का विशाल साहित्य आज तक सुरक्षित रह गया है।[१] ऐतिहासिक दृष्टि से उनका अध्ययन कुषाण और गुप्तयुग के धार्मिक इतिहास पर नया प्रकाश डाल सकता है।

जैन साधुओं में आर्हत, श्वेतपट और केशलुंचन—ये तीन नाम आये हैं। किन्तु, अब दिगम्बर और श्वेताम्बर के मोटे भेदों को छोड़कर अवान्तर सम्प्रदायों के आपसी भेदों का कुछ पता नहीं।

सांख्य, वैशेषिक, नैयायिक और वेदान्त—ये चारों प्रकार के दार्शनिक भी अखाड़े में उतरकर पुरुष और प्रकृति की नित्यता और अनित्यता के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के पैंतरों का आश्रय ले रहे थे और नई-नई युक्तियों का आविर्भाव कर रहे थे, जो कि विक्रमीय प्रथम सहस्राब्दी के दार्शनिक इतिहास का अत्यन्त रोचक विषय है। मीमांसक और वैयाकरण भी कन्धे-से-कन्धा मिलाकर साथ-साथ चलने का प्रयत्न कर रहे थे। कुमारिल और भर्तृहरि का तत्त्वचिन्तन इसका प्रमाण है। कारन्धमी या धातुवादी लोग नागार्जुन को अपना गुरु मानकर ओषधियों से होनेवाली अनेक प्रकार की सिद्धियों और चमत्कारों के विश्वास को दर्शन का रूप दे रहे थे। पीछे यही मत रसेन्द्र दर्शन के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिनका यह विश्वास था कि उचित प्रयोग से शरीर को अमर बनाया जा सकता है।

इन दर्शनकारों की बौद्ध दर्शन के साथ तो स्पर्धा थी ही, आपस में भी उनकी नोंक-झोंक कुछ कम न थी। दर्शन के क्षेत्र में नये-नये दृष्टिकोणों का प्रादुर्भाव होता रहता था और उनके साथ मेल बैठाने के लिए हरएक को अपना घर सँभालना पड़ता था। पुरानी युक्तियों पर नई धार रखी जाती और दूसरे के मत की काट करने के लिए नये पैंतरे से उन्हें परखा जाता।

बाण ने दार्शनिक चिन्तन के इन विविध प्रकारों का उल्लेख किया है, जो उनके किये हुए आश्रम-वर्णन का दूसरा भाग है। बाण के समकालीन नालंदा आदि विद्याकेन्द्रों में एवं काशी, अवन्ती, मथुरा, तक्षशिला आदि महानगरों में जहाँ अनेक प्रसिद्ध विद्वान् उस युग में विद्याभ्यास करते थे, गुरुकुलों में तत्त्वचिन्तन और विद्याभ्यास की जो प्रणाली थी, उसपर इनसे कुछ प्रकाश पड़ता है। कुछ गुरु या आचार्य थे, जो शास्त्रों की व्याख्या करते थे (व्याचक्षाणैः)। जो शिष्यभाव से इन आश्रमों में प्रविष्ट होते थे, वे आचार्यों के चरणों में बैठकर (शिष्यतां प्रतिपन्नैः) सबसे पहले शास्त्रों के मूल ग्रन्थों का अध्ययन करते थे (अभ्यस्यद्भिः)। मूल ग्रन्थों में कोई ग्रन्थि न रहने पाये, यह विद्याभ्यास की पहली सीढ़ी

---

१. श्रूयते यत्र यष्टव्या यादृशी या हि देवता।
तादृशी सा भवेत्तत्र यजत्येकान्तिनो हरिम्॥

प्रकार पढ़ लेने पर उसके सिद्धान्तों का विशेष श्रवण आवश्यक था (स्वान्स्वान्सिद्धांतान् श्रृण्वद्भिः), जिससे वह शास्त्र मँजता था। इसके आगे विद्वान परस्पर शंका-समाधान करते थे। अपने शास्त्र के विषय में जो शंकाएँ की जातीं, उनका समाधान सोचा जाता था (अभियुक्तै श्चिन्तयद्भिः)। फिर स्वयं भी दूसरों के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में आक्षेप करते थे (प्रत्युच्चरद्भिः)। किन्तु शास्त्र-चिन्तन के लिए दूसरों से उठाई जानेवाली शंकाओं की प्रतीक्षा काफी न थी। स्वयं भी अपने सिद्धान्तों के बारे में सन्देह-बुद्धि से विचार करना एवं शंकाओं की उद्भावना करना (संशयानैः) और फिर उनका समाधान ढूँढकर सत्य का निश्चय करना (निश्चिन्वद्भिः) आवश्यक था। इस प्रकार दूसरों के द्वारा उठाई हुई शंकाओं और स्वयं किये हुए संदेहों का निराकरण करके शास्त्र-चिन्तन में एक नवीन तेज उत्पन्न होता था और एक विशेष प्रकार की व्युत्पन्न बुद्धि का उदय होता था। उस स्थिति में पहुँचकर ही प्रत्येक विद्वान् अपने दर्शन के क्षेत्र में सचमुच व्युत्पन्न बनता था (व्युत्पादयद्भिः)। व्युत्पादन को हम शास्त्रों या सिद्धांतों का तुलनात्मक अध्ययन कह सकते हैं, जिसमें किसी एक सिद्धान्त को केन्द्र में रखकर अन्य के साथ उसकी तुलना करते हुए उसकी सत्यता तक पहुँचा जाता है। जबतक किसी सिद्धान्त को व्युत्पादन के द्वारा स्पष्ट नहीं किया जाय, तबतक उस विषय पर शास्त्रार्थ नहीं किया जा सकता। व्युत्पादन के बाद की और उससे भी महत्त्व की सीढ़ी शास्त्रार्थ की थी (विवदमानैः)। शास्त्रार्थ के द्वारा एक व्यक्ति अन्य समस्त सिद्धान्तों को सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए चुनौती देता है। शास्त्रार्थ पाण्डित्य के लिए सबसे ऊँची और कठिन स्थिति है और प्राचीन काल में इस पद्धति का बड़ा मान था। राजा के लिए युद्ध का जो महत्त्व था, वही विद्वान् के लिए शास्त्रार्थ का था। विद्या के समुत्कर्ष के लिए उपयोग में आनेवाले विविध उपायों की यह झाँकी अत्यन्त रोचक है। इसकी सहायता से हम कल्पना कर सकते हैं कि किस प्रकार प्राचीन गुरुकुलों में, विशेषतः गुप्तकाल और उसके बाद के विद्याकेन्द्रों या दार्शनिक क्षेत्र में, ऐसी विलक्षण और प्रखर बुद्धि का विकास किया जा सका। असंग, वसुबन्धु, धर्मकीर्ति, दिङ्नाग, कुमारिल, शंकर, मण्डन मिश्र आदि दिग्गज विद्वान् इस प्रकार के गम्भीर शास्त्र-परिमार्जन के फलस्वरूप ही लोक में प्रकाशित हुए।

दिवाकर मित्र का आश्रम उस समय की एक आदर्श बौद्ध-विद्या-संस्था का स्वरूप सामने रखता है। यही बाण के वर्णन की तीसरी कड़ी है। वहाँ अतिविनीत शिष्य चैत्यवन्दन कर्म में तत्पर रहते थे (चैत्यकर्मकुर्वाणैः)। वे बुद्ध, धर्म, संघ—इन तीन रत्नों की शरण में जाते थे (त्रिसरणपरैः)।[1] परम उपासक एवं शाक्य-शासन में

---

१. यद्यपि संस्कृत शब्द त्रिशरण होना चाहिए; किन्तु बाण ने लोक में प्रचलित 'त्रिसरण'

कर रहे थे। आर्यशूर-कृत जातकमाला और दिव्यावदान आदि ग्रन्थों में कहे हुए अनेक अवदान या कहानियों का नये ढंग से कहना और सुनाना गुप्तकालीन बौद्धधर्म और साहित्य की विशेषता थी। सौगत भगवान् बुद्ध के शील का पालन करने से आश्रम-वासियों का अपना स्वभाव शान्त और निर्मल बन गया था।

इससे आगे वर्णन के चौथे भाग में स्वयं दिवाकर मित्र के व्यक्तित्व का वर्णन किया गया है, जो उस युग के अतिविशिष्ट विद्वान् और पहुँचे हुए बोधिसत्त्वगुणों से युक्त भिक्षु का परिचय देता है। दिवाकर मित्र के आसन के दोनों ओर दो सिंह-शावक बैठे थे, जिससे ऐसा भान होता था कि स्वयं मुनि परमेश्वर भगवान् बुद्ध सचमुच के सिंहासन पर विराजमान हों। बाएँ हाथ से वह एक कबूतर के बच्चे को निवार खिला रहा था। यहाँ एक पुरानी जातक कहानी की ओर संकेत है, जिसके अनुसार किसी पूर्व जन्म में भगवान् बुद्ध एक पारावत के रूप में पर्वत-गुफा में रहते थे। वहाँ एक शील-सम्पन्न तापस ने आश्रम बनाया, जिसके हाथ से वे विस्रब्ध भाव से चुग्गा खाते थे। कुछ दिन बाद बृद्ध तापस के चले जाने पर एक दूसरा कपटी साधु वहाँ आया और उसी भाँति चिड़ियों को चुग्गा खिलाने लगा; किन्तु कुछ दिन बाद उसके मन में पारावत-मांस खाने की इच्छा हुई। तब उसका भीतरी कपट पहचानकर पक्षी उसके पास न आये (रोमक जातक, जातक भाग २, सं० २७७)।[२] दिवाकर मित्र स्वयं अपने हाथ से साँवा चावल के कण बखेरकर चटनाल जिमा रहा था।[३] वह लाल चीवर पहने हुए था। बाण ने चीवर वस्त्र के लिए म्रदीयस् (मुलायम) कहा है। इससे यह संकेत मिलता है कि सम्भवतः गुप्तकाल में भिक्षु लोग रेशमी वस्त्र का बना हुआ चीवर पहनने लगे थे। उसका विद्याशरीर सब शास्त्रों के अक्षररूपी परमाणुओं से बना हुआ जान पड़ता था। परम सौगत होते हुए भी वह अवलोकितेश्वर था।[४] स्वयं बुद्ध से भी वह आदर पाने योग्य था और स्वयं धर्म से भी वह पूजा के योग्य था। यम, नियम, तप, शौच, कुशल, विश्वास, सद्वृत्तता, सर्वज्ञता, दाक्षिण्य, परानुकम्पा, परमनिर्वृति—इनका वह मूर्तिमान् रूप था।

---

१. बाण ने कोश-संज्ञक प्रसिद्ध बौद्धग्रन्थ का 'हर्षचरित' में तीन बार उल्लेख किया है (६१, १८३, २३७)। वसुबन्धु-कृत अभिधर्मकोश पर आश्रित दिङ्नाग-कृत मुष्टिप्रकरण का उल्लेख ऊपर हो चुका है।

२. मथुरा-कला में इस जातक का चित्रण हुआ है, मथुरा-म्यूज़ियम हैंडबुक, चित्र ६, मूर्ति आई० ४, पृ० १७।

३. इतस्ततः पिपीलकश्रेणीनां श्यामाकतण्डुलकणान्स्वयमेव किरन्तम् (२३७)। चटनाल जिमाना—चींटियों को आटा, चावल, बूरा आदि खिलाना।

४. अवलोकितेश्वर एक प्रसिद्ध बोधिसत्त्व का नाम है, किन्तु यहाँ दूसरी ध्वनि यह है कि वह

दिवाकर मित्र ने हर्ष को देखकर प्रसन्न मन और उचित आव-भगत से उसका स्वागत किया। यहाँ बाण ने दिवाकर मित्र के बाएँ कंधे से लटकते हुए चीवर वस्त्र का उल्लेख किया है।[1] वस्तुतः गुप्तकाल की अधिकांश बुद्ध मूर्तियाँ उभयांसिक चीवरवाली हैं, अर्थात् उनके दोनों कंधे चीवर या ऊपरी संघाटी से ढके दिखाये जाते हैं। बायें कँधे पर चीवर की प्रथा कुषाणकालीन मथुरा की बुद्ध-मूर्तियों में बहुत करके मिलती है। गन्धार-कला के प्रभाव से मथुरा में भी उभयांसिक चीवर की प्रथा चल पड़ी थी। गुप्तकाल की अधिकांश मूर्तियाँ उभयांसिक चीवर की हैं, पर कुछ मूर्तियों में वही पुरानी प्रथा चालू रही।[2] जो बात मूर्तियों में मिलती है, वही बात भिक्षुओं के वास्तविक जीवन में भी थी, अर्थात् कुछ भिक्षु अपनी संघाटी दोनों कँधों पर और कुछ केवल बायें कँधे पर डालते थे। दिवाकर मित्र का पहनावा पिछले ढंग का था। भिन्न-भिन्न प्रकार से संघाटी पहनने का सम्बन्ध सम्प्रदाय-भेद के साथ जुड़ गया था—ऐसा चीनी यात्री इत्सिंग ने लिखा है। ऐसा ज्ञात होता है कि थेरवाद या प्राचीन परम्परा के अनुयायी जो बौद्ध-सम्प्रदाय थे, उन्होंने वामांसिक चीवर पहनने की प्रथा जारी रखी।

आवश्यक उपचार के अनन्तर भदन्त दिवाकर मित्र ने हर्ष से विन्ध्याटवी में आने का कारण पूछा। हर्ष ने आदर के साथ कहा--'मेरे इस महावन में भ्रमण करने का कारण मतिमान सुनें। परिवार के सब इष्ट व्यक्तियों के नष्ट हो जाने के बाद मेरे जीवन का एकमात्र सहारा मेरी छोटी बहन बची थी। वह भी अपने पति का वियोग हो जाने के बाद शत्रु के भय से किसी प्रकार इस विन्ध्यवन में आ गई, जहाँ अनेक शबर रहते हैं। मैं रात-दिन उसे ढूँढ रहा हूँ; पर अभी तक कोई पता नहीं मिला। यदि किसी वनचर से आपको कोई समाचार मिला हो तो कृपया बतावें।' सुनकर दुःखाभाव से भदन्त ने कहा--'अभी तक ऐसा कोई वृत्तान्त मुझे नहीं मिला।'

इसी समय एक अन्य भिक्षु ने रोते हुए सूचना दी--'भगवन् भदन्त, अत्यन्त दुःख का विषय है। कोई एक अत्यन्त सुंदरी बाल अवस्था की स्त्री विपत्ति में पड़ी हुई शोक के आवेश से अग्नि में जलने के लिए तैयार है। कृपया चलकर उसे समझाएँ।'

सुनते हर्ष को अपनी बहन की ही शंका हुई और उसने गद्गद कंठ से पूछा—'हे पाराशरिन, कितनी दूर पर वह स्त्री है और क्या वह इतनी देर तक जीवित रहेगी! क्या तुमने यह पूछा कि वह कौन है, कहाँ की और क्यों वन में आई है तथा क्यों अग्नि में जलना चाहती है!' भिक्षु ने कहा—'महाभाग, आज प्रातः भगवान् की वंदना करने के बाद इसी नदी-तट से घूमता हुआ मैं बहुत दूर निकल गया था। एक जगह पेड़ों के घने झुरमुट में मैंने बहुत-सी स्त्रियों के रोने का शब्द सुना, जैसा अनेक वीणाओं को कोई जोर से

झनझना रहा हो।[1] उस प्रदेश में जाकर क्या देखता हूँ कि अनेक स्त्रियों से घिरी हुई[2] एक स्त्री दुःख में पड़ी हुई अत्यन्त करुणा से विलाप कर रही है। मुझे पास में देखकर उसने प्रणाम किया और उनमें से एक ने अत्यन्त दीन वाणी से कहा—"भगवन्, प्रव्रज्या प्रायः सब सत्त्वों पर अनुकम्पा करनेवाली होती है। सौगत लोग शरण में आये हुओं का दुःख दूर करने की दीक्षा लिये रहते हैं। भगवान् शाक्यमुनि का शासन करुणा का स्थान है। बौद्ध साधु सबका उपकार करते हैं। प्राणों की रक्षा से बढ़कर और पुण्य नहीं सुना जाता। यह हमारी स्वामिनी पिता के मरण, स्वामी के नाश, भाई के प्रवास और अन्य सब बन्धुओं के बिछुड़ जाने से अनाथ हुई नीच शत्रु द्वारा किये गये पराभव के कारण आप्राप्त दारुण दुःखों को न सह सकती हुई अग्नि में प्रवेश कर रही है। कृपया बचाइए और इसे समझाइए।" यह सुनकर मैंने दुःखी होकर धीरे से कहा—'आर्ये, जो तुम कहती हो सो ठीक है; किन्तु मेरे समझाने से इसका दुःख कम न होगा। यदि मुहूर्त भर भी इसे रोक सको तो दूसरे भगवान बुद्ध के समान मेरे गुरु इस समाचार को सुनते ही यहाँ आकर अनेक आगमों से गौरवशालिनी अपनी वाणी से[3] इसे प्रबोधित करेंगे।' यह सुनकर उसने कहा—'आर्य, शीघ्रता करें।' और यह कहकर फिर मेरे चरणों में गिर गई। सो, यह समाचार लेकर मैं आपके पास आया हूँ (२४५)।

राजा ने भिक्षु की बात सुनते ही राज्यश्री का नाम न कहे जाने पर भी तुरन्त समझ लिया कि वही इस विपन्नावस्था में है और श्रमणाचार्य दिवाकर मित्र से कान में कहा—'आर्य, अवश्य वह मुझ मन्दभाग्य की बहिन ही है, जो दुर्भाग्य से इस दुरवस्था को प्राप्त हुई। और उस दूसरे भिक्षु से कहा—'आर्य, उठो और बताओ वह कहाँ है, जिससे तुरंत जाकर उसे जीवित ही बचाया जा सके।'

यह कहकर वह उठ खड़ा हुआ। तब सब शिष्यवर्ग को लेकर दिवाकर मित्र और सब सामन्तों के साथ पीछे हुए हर्ष उस शाक्य भिक्षु के दिखाये हुए मार्ग के अनुसार पैदल ही

---

१. सार्यमाणानां अतितारतानवर्तिनीनां वीणातन्त्रीणामिव झांकारम् (२४१)।

२. यहाँ बाण ने व्यसनग्रसित स्त्रीवृन्द का वर्णन करते हुए कुछ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है, जैसे कोई स्त्री चीनांशुक के पल्ले का छींका बनाकर उसमें नारियल की कटोरी से युक्त कलशी में रसाल का तेल लटकाये हुए थी। इस प्रकरण में दूसरा महत्त्वपूर्ण उल्लेख मुक्तांशुक का है (मुक्तमुक्तांशुकरत्नकुसुमकनकपत्राभरणाम्, २४२)। शंकर ने मुक्तांशुक को मालव देश का बना हुआ उत्तरीय कहा है। ज्ञात होता है कि यह असली मोतियों को पोहकर बना हुआ वास्तविक उत्तरीय था, जो राजघरानों में व्यवहार में आता था। बाण की समकालीन कला अथवा गुप्तयुग की मूर्तियों में मुक्तांशुक का उदाहरण अभी मेरे देखने में नहीं आया; किन्तु बतनमारा से प्राप्त एक यक्षिणी स्त्री इस प्रकार के मुक्तांशुक की पटली पहने हुए है (देखिए, कुमारस्वामी-कृत भारतीय कला का इतिहास, चित्र ३७; बरुआ, भरहुत, चित्र, ७२।

उस स्थान के लिए चले। दूर से ही उन्होंने अनेक स्त्रियों को विलाप करते हुए सुना—'पुष्पभूति-वंश की लक्ष्मी कहाँ चली गई ? हे मुखरवंश के वृद्ध, अपनी इस विधवा वधू को क्यों नहीं समझाते ? भगवान् सुगत, तुम भी क्या इस दुःखिनी के लिये सो गये ! पुष्पभूति के भवन में रहनेवाले हे राजधर्म, तुम क्यों उदासीन हो गये ? हे विपत्ति के सगे विन्ध्याचल, क्या तुम्हारे प्रति यह अंजलि व्यर्थ जायगी ? माता महाटवी, आपद्ग्रस्त इसका विलाप क्यों नहीं सुनती ? हा देवी यशोवती, आज लुटेरे दैव ने तुम्हें लूट लिया ! देव प्रतापशील, पुत्री आग में जल रही है और तुम क्यों नहीं आते ? क्या अपत्य-प्रेम जाता रहा ? महाराज राज्यवर्धन, क्यों नहीं दौड़कर आते ? क्या बहिन का प्रेम कुछ कम हो गया है ? हे वायु, मैं तेरी दासी हूँ, जल्दी जाकर दुःख का यह संवाद हर्ष से कह दे।' इत्यादि अनेक भाँति से बाण ने स्त्रियों के विलाप वर्णन किया है। यह सब सुनकर हर्ष तुरन्त वहाँ दौड़ा गया और अग्निप्रवेश के लिए तैयार राज्यश्री को उसने देखा और उसके ललाट पर हाथ रखकर मूर्च्छित होती हुई उसको सहारा दिया। इस अवस्था में सहसा भाई को पाकर गले लगाकर रोते हुए राज्यश्री ने 'हा पिता ! हा माता !' कहकर बहुत विलाप किया। हर्ष भी देर तक मुक्त कंठ से रोते रहे और फिर कहा—'बहिन, अब धीरज धरो, अपने को सँभालो।' आचार्य ने भी कहा—'कल्याणि, बड़े भाई की बात मानो।' शोक का आवेग कुछ कम होने पर हर्ष उसे अग्नि के पास से दूर हटाकर निकटवर्त्ती वृक्ष के नीचे ले गये। वहाँ पहले बहिन का मुख धोया और फिर अपना। पुनः मन्द स्वर में कहा—'वत्से, भदन्त को प्रणाम करो। ये तुम्हारे पति के दूसरे हृदय और हमारे गुरु हैं।' पति का नाम आते ही उसके नेत्रों में जल भर आया। जब उसने प्रणाम किया, तब तो दिवाकरमित्र के नेत्र भी गीले हो गये और वे मुँह फेरकर दीर्घ श्वास छोड़ने लगे। फिर, क्षण-भर ठहरकर बोले—'अब अधिक रोने से क्या ! अब सबको आवश्यक स्नान करके पुनः आश्रम को चलना चाहिए।' यह सुनकर हर्ष ने बहिन के साथ उस पहाड़ी नदी में स्नान किया और आश्रम में लौटकर ग्रहवर्मा को पिंड देने के बाद बहिन को पहले भोजन कराया और पीछे स्वयं भी कुछ खाया। भोजन करके उसने सब हाल विस्तार से सुना—किस प्रकार राज्यश्री बन्धन में डाली गई, किस प्रकार कान्यकुब्ज में गौड़ राजा के द्वारा उपद्रव कराया गया, किस प्रकार गुप्त नाम के एक कुलपुत्र ने कारागार से (गुप्तितः) उसे निकाला, किस प्रकार बाहर आने पर उसने राज्यवर्धन का मरण-वृत्तान्त सुना और किस प्रकार भोजन का परित्याग कर देने से दुर्बल होकर वह विन्ध्याटवी में घूमती रही, और फिर किस प्रकार अग्नि में जलने की तैयारी की (२५०)।

इसी अवस्था में हर्ष जब अपनी बहिन के साथ एकान्त में बैठे थे, आचार्य दिवाकर-मित्र वहाँ आये और कुछ काल रुककर कहने लगे—'श्रीमान्, सुनिए, मुझे कुछ कहना है।

उनके भीतर सुन्दर मोती बन गये। उन मोतियों को पाताल में वासुकि नाग ने किसी तरह प्राप्त किया और उसने उन मुक्ताफलों को गूँथकर इकलड़ी माला (एकावली) बनाई, जिसका नाम मंदाकिनी रखा। सब ओषधियों के अधिपति सोम के प्रभाव से वह अत्यन्त विषघ्नी है और हिमरूपी अमृत से उत्पन्न होने के कारण सन्तापहारिणी भी। इसलिए, विषज्वालाओं को शांत रखने के लिए वासुकि सदा उसे पहने रहता था। कुछ समय बाद ऐसा हुआ कि नागलोग भिक्षु नागार्जुन को पाताल में ले गये और वहाँ नागार्जुन ने वासुकि से उस माला को माँगकर प्राप्त कर लिया। रसातल से बाहर आकर नागार्जुन ने मन्दाकिनी नामक वह एकावली माला अपने मित्र त्रिसमुद्राधिपति सातवाहन नाम के राजा को प्रदान की और वही माला शिष्य-परम्परा द्वारा हमारे हाथ में आई। यद्यपि आपको किसी वस्तु का देना एक अपमान है, तथापि ओषधि समझकर विष से अपने शरीर की रक्षा करने के लिए आप कृपया इसे स्वीकार करें।' यह कहकर पास में बैठे हुए शिष्य के चीवर वस्त्र में से लेकर वह मन्दाकिनी राजा को दी (२५१)।

बाण का यह वर्णन तत्कालीन किंवदंतियों के मिश्रण से बना है। भिक्षु नागार्जुन अनेक आश्चर्य और चमत्कारों के विधाता समझे जाते थे। उनके सम्बन्ध में इस प्रकार की कहानी बाण के समय में लोक-प्रचलित थी। नागार्जुन और सातवाहन नरेश का मैत्री-सम्बन्ध सम्भवतः ऐतिहासिक तथ्य था। कहा जाता है कि नागार्जुन ने अपने मित्र सातवाहन राजा को बौद्धधर्म के सार का उपदेश करते हुए एक लंबा पत्र लिखा था। सुहृल्लेख नामक उस पत्र का अनुवाद तिब्बती भाषा में अभी तक सुरक्षित है।[1] गुप्तकाल में मोतियों की इकहरी 'एकावली' माला सब आभूषणों से अत्यधिक प्रिय थी। कालिदास ने कितनी ही बार उसका उल्लेख किया है।[2] हर्षचरित और कादम्बरी में भी एकावली का वर्णन प्रायः आता है। गुप्तकालीन शिल्प की मूर्त्तियों और चित्रों में इन्द्रनील की मध्यगुरिया-सहित मोतियों की एकावली बराबर पाई जाती है [चित्र ६२]। एकावली के सम्बन्ध में उस युग में इस प्रकार की भावना का होना कि वह एक विशिष्ट मांगलिक आभूषण था, सहज समझा जा सकता है। विशेष आभूषणों के सम्बन्ध में जौहरियों और रनिवासों में उनके चमत्कार की कहानियाँ बन जाती थीं। महा उम्मग जातक में इन्द्र के द्वारा कुश राजा को मंगल-मणिरत्न देने का उल्लेख है। कालिदास ने इन्हें 'जैत्राभरण' कहा है (रघु० १६।८३)।

वह एकावली घने मोतियों को गूँथकर बनाई गई थी (घनमुक्तां)। उसे देखकर आँखें चौंधियाँ जाती थीं। हर्ष ने जैसे ही उसे देखा, उसके नेत्र बंद होने और खुलने

---

१. वेंजल (Wenzel) कृत सुहृल्लेख का अँगरेजी-अनुवाद; पाली टैक्स्ट सोसाइटी जर्नल, १८८६, पृ० १ आदि।

भुवनलक्ष्मी की स्वयंवर-माला थी, या मन्त्र, कोश और साधन में प्रवृत्त राजधर्म की अक्षमाला ? वह कुबेर के कोश की संख्या बतानेवाली मानों लेख्यपट्टिका थी, जो मुद्रा और अलंकारों से सुशोभित थी।[1] दिवाकरमित्र ने उसे लेकर हर्ष के गले में बाँध दिया। सम्राट् ने भी प्रेम प्रदर्शित करते हुए कहा—'आर्य, ऐसे रत्न प्रायः मनुष्यों को नहीं मिलते। यह तो आर्य की तपःसिद्धि या देवता का प्रसाद है। मैं तो अब आर्य के वशीभूत हूँ। स्वीकार करने या प्रत्याख्यान करने का मुझे अब अधिकार कहाँ ? जीवन-पर्यन्त यह शरीर आर्य को अर्पित है। यथेष्ट आज्ञा करें।'

कुछ समय बीतने पर जब राज्यश्री आश्वस्त हुई, तब उसने अपनी ताम्बूलवाहिनी पत्रलता को बुलाकर धीरे से कान में कुछ कहा। पत्रलता ने विनयपूर्वक हर्ष से विनती की—'देव, देवी विनती करती हैं कि उन्हें काषाय वस्त्र धारण करने की अनुज्ञा मिले।' हर्ष यह सुनकर चुप रहे, किन्तु दिवाकरमित्र ने धीर स्वर में कहा—'आयुष्मति, शोक पिशाच का ही दूसरा नाम है, यह कभी न बुझनेवाली अग्नि है, प्राणों का वियोग न करनेवाला यमराज है, कभी न समाप्त होनेवाला राजयक्ष्मा है। यह ऐसी नींद है, जिससे कोई जागता नहीं। यह हृदय का नासूर (महाव्रण) है, जो सदा बहता रहता है। बहुत-से शास्त्र तथा काव्य-कथाओं को जाननेवाले विद्वानों के हृदय भी शोक को नहीं सह सकते, अबलाओं के दुर्बल हृदय की तो बात ही क्या ? अतएव हे सत्यव्रते, कहो, अब क्या किया जाय, किसे उपालम्भ दें, किसके आगे रोयें और किससे हृदय का दुःख कहें ? सब कुछ आँख मूँद-कर सहना चाहिए। हे पुण्यवती, पूर्वजन्म की इन स्थितियों को कौन मेट सकता है ? सभी मनुष्यों के लिए रात-दिन जन्म-जरा-मृत्युरूपी रहट की घड़ियों की लंबी माल घूम रही है।[2] पंचमहाभूतों के द्वारा जितने मानस व्यवहार हो रहे हैं, वे सब यमराज के विषम अनुशासन से नियन्त्रित होकर विलय को प्राप्त हो जाते हैं।[3] घर-घर में आयु को

---

१. समुद्रालङ्कारभूतां संख्यालेख्यापट्टिकामिव कुबेरकोशस्य (२५२)। मालवराज के कोश का वर्णन करते हुए कहा जा चुका है कि कोश के कलशों के साथ संख्यासूचक लेख्यपत्र बँधे रहते थे (२२७) और उनके चारों ओर आभूषणों से बनी हुई माला पहनाई जाती थी।

२. संसरन्त्यो नक्तन्दिवं द्राघीयस्यो जन्मजरामरणघटनघटीयन्त्रराजिरज्जवः पञ्चजनानाम्, (२५४)। आजकल रहट की घड़ियाँ और माल दोनों लोहे की बनने लगी हैं; किन्तु कुछ ही समय पूर्व घड़ियाँ मिट्टी की और माल मूँज की रस्सियों से बनती थी। बाण ने भी रस्सी की माल का ही उल्लेख किया है। पंजाब में अभी तक मिट्टी की घड़ियाँ (टिंड) रस्सी की माल से बाँधी जाती हैं।

३. पञ्चमहाभूतपञ्चकुलाधिष्ठितान्तःकरणव्यवहारदर्शननिपुणाः, सर्वथा विषमा धर्मराजस्थितयः (२५४)। यहाँ श्लेष से पञ्चकुल नामक संस्था के न्यायाधिकरण और राज्य के साथ उसके सम्बन्ध का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। प्रत्येक गाँव में पञ्चकुल-संज्ञक पाँच

कालपुरुष हाथों में कालपाश लिये घूम रहे हैं। रात-दिन यम का नगाड़ा बज रहा है। हर घर में यमराज के भयंकर दूत यम-घंटा बजाकर सब जीवों के संहरण के लिए घोर घोषणा कर रहे हैं। हर दिशा में परलोक के यात्रियों की पगडंडियाँ बनी हुई हैं, जिनपर विधवाओं के बिखरे केशों से शवलित सहस्रों अरथियाँ जा रही हैं। कालरात्रि की चिता के कोयलों के समान कालजिह्वा प्राणियों के जीवन को चाट रही है, जैसे गाय बच्चे को। सब प्राणियों को चट करनेवाली मृत्यु की भूख कभी नहीं बुझती। अनित्यता-रूपी नदी तेजी से बह रही है। पंचमहाभूतों की गोष्ठियाँ क्षण-भर ही रहती हैं। साधु जैसे दिन में कमंडलु रखने के लिए लकड़ियों को जोड़कर पिंजरा बनाते हैं और रात को उसे खोल डालते हैं, वैसा ही यह शरीर का यन्त्र है।[2] जीव को बंधन में बाँधनेवाले पाश की डोरी के तन्तु एक दिन अवश्य टूटते हैं। सारा नश्वर संसार परतन्त्र है। हे मेधाविनी, ऐसा जानकर अपने सुकुमार मन में अन्धकार को न फैलने दो। विवेक (प्रतिसंख्यान) का एक क्षण भी धृति के लिए बड़ा सहारा होता है। अब यह पितृतुल्य तुम्हारा ज्येष्ठ भ्राता ही तुम्हारा गुरु है। जो यह आदेश दे, वही तुम्हारा कर्त्तव्य है।' यह कहकर वह चुप हो गया।

उसके मौन होने पर हर्ष ने कहा—'आर्य के सिवा और कौन इस प्रकार के वचन कहेगा? आर्य विषम विपत्ति में सहारा देनेवाले स्तम्भ हैं। स्नेह से आर्द्र धर्म के दीपक हैं। आप समुद्र की तरह अभ्यर्थना की मर्यादा रखते हैं। अतएव, सेवा में एक याचना करता हूँ। काम हरज करके भी अपनी इस दुखिया छोटी बहन का लालन करना मेरा कर्त्तव्य है। किन्तु, भाई के वध का बदला लेने के लिए शत्रुकुल के नाश की प्रतिज्ञा मैं सब लोगों के समक्ष कर चुका हूँ।[3] कुछ समय तक आर्य मेरे इस काम में सहायक हों। मैं अपनी प्रतिज्ञा के बोझ को हल्का बनाऊँ और दुःखी प्रजाओं को ढाढ़स दूँ, तबतक मैं चाहता हूँ कि आप मेरे साथ ही रहनेवाली मेरी इस बहिन को धार्मिक कथाओं से, रजोगुणरहित विवेक उत्पन्न करनेवाले उपदेशों से, शील और शम देनेवाली शिक्षाओं

---

१. निलये-निलये कालनालिकाः (२५४)। कालनालिका से तात्पर्य समय नापने की पानी या बालू की घड़ी था। श्लेष से इसका दूसरा अर्थ मृत्यु द्वारा स्थापित घड़ी, जो छीजती हुई आयु का हिसाब लगा रही है। नालिका और नाडिका पर्यायवाची हैं। एक नाडिका= एक घड़ी (=२४ मिनट), २ नाडिका=१ मुहूर्त।

२. रात्रिषु भङ्गुराणि पात्रयन्त्रपञ्जरदारूणि देहिनाम् (२५५)। पात्र रखने के यन्त्र-पंजर का उल्लेख भैरवाचार्य के शिष्य के वर्णन में पहले हो चुका है : दारवफलकत्रयत्रिकोणत्रियष्टिनिविष्टकमण्डलुना (१०१)। कुछ प्रतियों में 'पात्रयन्त्रपंजर' के स्थान पर

डाली थीं। क्या मुनिनाथ बुद्ध ने शरीर की कुछ भी परवाह न करके अनुकम्पावश अपने-आपको कितनी बार हिंस्र पशुओं के लिए नहीं दे डाला?' यह कहकर सम्राट् चुप हो गये।

उत्तर में भदन्त ने फिर कहा—'भाग्यशाली को दो बार बात कहने की आवश्यकता नहीं। मैं पहले ही अपने मन में अपने इस शरीर को आपके गुणों के लिए समर्पित कर चुका हूँ। छोटे या बड़े जिस काम में मेरे शरीर का मेरा उपयोग हो सके, आपके अधीन है।'

इस प्रकार दिवाकरमित्र से अभिनन्दित होकर हर्ष उस रात को वहाँ रहे। अगले दिन वस्त्र, अलंकार आदि देकर निर्घात को विदा किया। तब आचार्य और राज्यश्री को साथ लेकर कुछ पड़ाव करते हुए गंगा के किनारे अपने कटक में फिर लौट आये (२५७)।

इस प्रकार, हर्षचरित की यह कहानी समाप्त हुई। इसके बाद बाण ने मानों अपने ग्रन्थ की पूर्णाहुति डालते हुए बड़े घोररूप में सूर्यास्त का वर्णन किया है। इस वर्णन में आगे आनेवाले भीषण युद्धों की परछाईं साकार हो उठी है।

सूर्य ने गगनतल में अपनी यात्रा पूरी करते हुए नये रुधिर के समान अपनी लाल-लाल किरणों के जाल को पुनः अपने शरीर में सिकोड़ लिया, जैसे कुपित याज्ञवल्क्य के मुख से वान्त यजुष्-मन्त्रों को शाकल्य ने पुनः पान कर लिया था। क्रम से सूर्य की लाली मांस की लाली के समान और बढ़ी और वह ऐसा जान पड़ने लगा, मानों अश्वत्थामा के मस्तक से भीमसेन के द्वारा निकाली गई रक्तरंजित मणि हो। अथवा, वह ब्रह्मा के मस्तक-रूपी उस खप्पर की भाँति लग रहा था, जिसे शिव ने काटकर बहती हुई शिराओं के रक्त से भर दिया था।[२] अथवा, वह पितृवध से कुपित परशुराम द्वारा निर्मित रुधिर का ह्रद था, जो सहस्रार्जुन के कन्धों को चीरनेवाले कुठार की धार से कटे हुए क्षत्रियों के रुधिर से भर गया था। अथवा सूर्य का वह गोला गरुड़ के नखों से क्षत-विक्षत विभावसु कछुए के आकाश में लुढ़कते हुए लोथड़े की तरह दिखाई पड़ रहा था।[3] अथवा, गर्भ

---

१. पहले दिवाकरमित्र के आश्रम के वर्णन में भी समुपदेश, धर्मदेशना और बोधिसत्त्व जातक—इन तीन उपायों से धर्म के प्रचार का उल्लेख किया गया है। यहाँ भी उन्हीं की ओर स्पष्ट संकेत है। अभिधर्म आदिक सिद्धान्त-ग्रन्थों का प्रवचन उपदेश कहलाता था। पंचशील या दशशील की शिक्षा धर्मदेशना थी। बोधिसत्त्वों की जातक-कथाओं या अवदानों को सुनाकर कहानियों (निदर्शनों) की रोचक पद्धति से बौद्धधर्म का उपदेश देने का तीसरा ढंग था।

२. कथा है कि शिव ने ब्रह्मा के पाँचवें मस्तक को काटकर उसका कपाल बनाया और उसे हाथ में लेकर भयंकर भिक्षाटन-मुद्रा में घूमते रहे। शिव की इस प्रकार की भीषण भिक्षाटन-मूर्ति लगभग बाण के युग में बने हुए अहिच्छत्रा के तीन मेधियोंवाले शिव-

अंडे की तरह लग रहा था, जिसके भीतर गर्भ की दशा में अरुण का अपूर्ण मांसपिंड हो। अथवा, वह बृहस्पति के उस कटाह की तरह था, जिसमें असुरों के नाश के लिए अभिचार-कर्म करते हुए वे शोणित के क्वाथ में चरु पका रहे थे। अथवा, लाल सूर्य की वह झाँकी महाभैरव के उस मुखमंडल की तरह थी, जो तुरन्त मारे हुए गजासुर के टपकते हुए लोहू से भीषण दीखता है।[1] दिन के अन्त में सन्ध्या उस मेघ के साथ मिलकर, जो समुद्र में पड़ती हुई परछाईं से लाल हो रहा हो, उस वेताल के साथ चिमटी जान पड़ती थी, जिसने अभी कच्चा मांस खाया हो। समुद्र भी सन्ध्या की उस लाली से उसी प्रकार लाल हो उठा, जिस प्रकार विष्णु की छाती से दले हुए मधु-कैटभ के रुधिर से पहले कभी हो गया था।

सन्ध्या का विकराल समय ज्यों ही समाप्त हुआ, त्यों ही रजनी हर्ष के लिए चन्द्रमा का उपहार लेकर आई, मानों अपने कुल की कीर्ति ही साक्षात् उसके लिए संगमरमर का मधुपात्र यश-पान के लिए लाई हो[2], अथवा स्वयं राजलक्ष्मी सत्ययुग की स्थापना के लिए उद्यत उसके लिए चाँदी की गोल शासन-मुद्रा लाई हो।[3] अथवा, उसके भाग्यदेव की अधिष्ठात्री देवी ने सब द्वीपों की दिग्विजय के लिए कूच करते हुए उसकी सेवा में श्वेतद्वीप[4] का प्रतिनिधि दूत भेजा हो। इस प्रकार, उस रात्रि में शुभ्र चन्द्रोदय प्रतीत हुआ।

हर्षचरित की सांस्कृतिक व्याख्या समाप्त

◉

---

१. इस प्रकार के महाभैरव की एक मिट्टी की बड़ी मूर्ति अहिच्छत्रा के उपर्युक्त शिव-मन्दिर से प्राप्त हुई है (देखिए वही लेख, चित्र-सं० ३००, पृ० १६८)।

२. मुक्ताशैलशिलाचषक (२५८)। मुक्ताशैलशिला का अर्थ संगमरमर ही ज्ञात होता है।

३. राजतशासनमुद्रानिवेश इव राज्यश्रिया (२५८)। सोनपत से मिली हुई हर्ष की ताँबे की बनी हुई गोल मुद्रा का उल्लेख ऊपर हो चुका है; किन्तु बाण को यह भली भाँति ज्ञात था कि ऐसी महामुद्राएँ चाँदी की बनती थीं। कुमारगुप्त की इसी प्रकार की एक चाँदी की मुद्रा भीतरी गाँव (जिला गाजीपुर) से प्राप्त हो चुकी है, जो इस समय लखनऊ के संग्रहालय में सुरक्षित है। शंकर ने चाँदी की इस प्रकार की शासन-मुद्रा को राज्या-

स्कन्धावार, राजकुल, धवलगृह

हर्षचरित और कादम्बरी में बाण ने वर्णन का जो पूर्वापर क्रम दिया है, उसका स्पष्ट चित्र समझने के लिए प्राचीन भारतीय राजमहल या प्रासाद की रचना और उसके विविध भागों का विवरण एवं तत्सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली का परिचय आवश्यक है। सबसे बड़ी इकाई स्कन्धावार होती थी। उसके भीतर राजकुल और राजकुल के भीतर धवलगृह था। स्कन्धावार पूरी छावनी की संज्ञा थी, जिसमें हाथी, घोड़े, सेना, सामन्त रजवाड़ा का पड़ाव भी रहता था। राजकुल स्कन्धावार के अंतर्गत राजमहल था। यह बहुत विशाल होता था, जिसके भीतर कई आँगन और चौक होते थे। राजप्रासाद के भीतर राजा और रानियों का जो निजी निवासस्थान था, उसकी संज्ञा धवलगृह थी। बाण के वर्णनों को पूर्वापर साहित्य की सहायता से स्पष्ट करने का प्रयत्न यहाँ किया जाता है।

स्कन्धावार—हर्षचरित के दूसरे उच्छ्वास (५८-६०) और पाँचवें उच्छ्वास (१५२-१५६) में स्कन्धावार, राजद्वार और धवलगृह का वर्णन किया गया है। अजिरवती (राप्ती) नदी के किनारे मणितारा गाँव के पास स्कन्धावार में बाण ने हर्ष से पहली भेंट की। स्कन्धावार का सन्निवेश लम्बी-चौड़ी जगह घेरता था। पूरी छावनी का पड़ाव उससे सूचित होता था। सन्निवेश की दृष्टि से स्कन्धावार के दो भाग थे। एक तो बाहरी सन्निवेश और दूसरा राजकुल। बाह्य सन्निवेश में सबसे पहले एक ओर गजशाला (हाथीखाना) और दूसरी ओर मन्दुरा, अर्थात् घोड़े और ऊँटों के लिए स्थान होता था। इसके बाद बाहर के लम्बे-चौड़े मैदान में राजकाज से राजधानी में आनेवाले राजाओं और विशिष्ट व्यक्तियों के शिबिर लगे थे। इस प्रकार, राजकुल के सामने एक पूरा शहर ही छावनी के रूप में बस गया था। इसीमें हाट और बाजार भी था। पाँचवें उच्छ्वास में लिखा है कि जब प्रभाकरवर्द्धन की बीमारी का हाल सुनकर हर्ष स्कन्धावार में लौटा, तब वह सबसे पहले बाजार में से गुजरा : स्कन्धावारं समाससाद। प्रविशन्नेव च विपणिवर्त्मनि अपपट्टिकं ददर्श (१५३)। विपणिवर्त्म या बाजार की मुख्य सड़क स्कन्धावार का ही अंग मानी जाती थी। दिल्ली के लाल किले के सामने का जो लम्बा-चौड़ा मैदान है, वह उर्दू बाजार, अर्थात् छावनी का बाजार कहलाता था। यह विपणिवर्त्म का ही मध्यकालीन रूप था। इसी चौड़े मैदान में, सम्राट् से मिलने के लिये आनेवाले राव-रजवाड़ों के तम्बू लगते थे। हर्ष के स्कन्धावार में, जैसा कि पृष्ठ ३७-३८ पर स्पष्ट किया गया है, दस प्रकार के शिबिर या पड़ाव पड़े हुए थे। उनमें अनेक देशों के राजा, युद्ध में परास्त हुए शत्रु महासामन्त, देशान्तरों के दूतमंडल, समुद्र-पार के देशों के निवासी, जिन्हें म्लेच्छ जाति का कहा गया है और जिनमें संभवतः शक,

राजकुल—स्कन्धावार के भीतर लगभग अन्त में सर्वोत्तम सुरक्षित स्थान में राजकुल का निर्माण किया जाता था। राजकुल को राजभवन भी कहा गया है। उसकी ड्योढ़ी राजद्वार कहलाती थी। स्कन्धावार में आने-जाने पर कोई रोक टोक न थी; किन्तु राजकुल में प्रविष्ट होने पर रोकथाम थी। राजद्वार की ड्योढ़ी पर बाह्य प्रतीहारों का पहरा लगता था। राजद्वार के भीतर रास्ते के दोनों ओर के कमरे द्वारप्रकोष्ठ या अलिन्द कहलाते थे। राज्यश्री के विवाह के समय सुनार लोग अलिन्द में बैठकर सोना गढ़ रहे थे (१४२)। अलिन्द शब्द की व्युत्पत्ति (अलिं ददाति) से सूचित होता है कि राजकुल में प्रविष्ट होनेवालों का यहाँ पर कुछ जलपान आदि से स्वागत-सत्कार किया जाता था। अलि[1] का अर्थ छोटा कुल्हड़ है। अलिन्द को ही बहिर्द्वार प्रकोष्ठ कहा गया है। अलिन्द गुप्तकाल की भाषा का या उससे थोड़ा पहले का शब्द था। उसके पूर्व समय में द्वार के इस हिस्से को प्रघण या प्रघाण[2] कहा जाता था [दे० राजकुल का चित्र, फलक २६]।

राजकुल के भीतर कई चौक होते थे, जिन्हें कक्ष्या कहा गया है। राजमहलों के वर्णन में अँगरेजी शब्द कोर्ट का पर्याय ही भारतीय महलों में कक्ष्या था। हर्ष के राजकुल में तीन कक्ष्याएँ थीं। कादम्बरी में तारापीड के राजमहल में चन्द्रापीड सात कक्ष्याएँ पार करके अपने पिता तारापीड के पास पहुँचा था। रामायण में दशरथ के राजमहल में पाँच कक्ष्याएँ थीं किन्तु युवराज राम के कुमारभवन में तीन कक्ष्याएँ थीं (अयोध्याकांड, ५५)। हर्ष के राजकुल की पहली कक्ष्या या पहले चौक में अलिन्द युक्त राजद्वार के बाईं ओर सम्राट् के राजकुंजर (१६२) या खासा हाथी (देवस्य औपवाह्यः, ६४) के लिए लम्बा-चौड़ा इभधिष्ण्यागार या हाथीखाना था। इसी में राजा के निजी हाथी दर्पशात के लिए बड़ा अवस्थानमण्डप बना हुआ था : तस्यावस्थानमण्डपोऽयं महान् (६४)। इसके ठीक दाहिनी ओर सम्राट् के खासा घोड़ों (राजवाजि, १७२ के लिए, जिन्हें 'भूपालवल्लभतुरंग' कहा जाता था, मन्दुरा या घुड़साल थी। कालान्तर में राजा के निजी प्रिय घोड़ों को केवल 'वल्लभ' भी कहा जाने लगा। इसमें महत्त्व की बात यह है कि हाथी और घोड़ों के लिए बाहरी स्कन्धावार में जो प्रबन्ध था, वह सेना के साधारण हाथियों के लिए था; किन्तु राजा के निजी उपयोग में आनेवाले अत्यन्त मूल्यवान् और सम्मानित हाथी-घोड़े राजकुल के भीतर

---

१. इस अर्थ में यह शब्द हिन्दी की पछाहीं बोली में अभी तक प्रयुक्त होता है। संस्कृत के आलिजर शब्द भी में वह बच गया है। आलिं जरयति=आलिंजरः=महाकुंभ (अमरकोष, २।६।३१), बहुत बड़ा घड़ा, जिस प्रकार के नालन्दा, काशीपुर (जि० नैनीताल) आदि स्थानों की खुदाई में मिले हैं। इन्हें आलिंजर कहने का कारण यह था कि जिस समय कुम्हार आलिंजर बनाता था, उसकी सारी मिट्टी इसी में लग जाती थी और छोटे कुल्हड़ या अलियों का बनना साथ-साथ न होता था।

२. पाणिनीय अष्टाध्यायी में सूत्र है—'अगारैकदेशे प्रघणः प्रघाणश्च' (—७९)। काशिका—

आस्थान (१८६, १९०), राजसभा या केवल सभा (१९४, २०१) भी कहा जाता था। इसे ही मुगल महलों में दरबारे आम कहा गया है। इसके सामने अजिर या खुला आँगन रहता था। इस आँगन तक सम्राट् हर्ष घोड़े या हाथी पर चढ़कर आते थे। आस्थानमंडप के अन्दर प्रवेश करने के लिए उन्हें सीढ़ियों के पास सवारी छोड़ देनी पड़ती थी। अजिर से कुछ सीढ़ियाँ चढ़कर आस्थानमंडप में पहुँचा जाता था। अपनी सेना का प्रदर्शन देखने के उपरांत हर्ष राजद्वार के भीतर तक हथिनी पर चढ़े हुए ही प्रविष्ट हुए, पर सीढ़ियों के पास पहुँचकर उतर गये और बाह्य आस्थानमंडप में रखे हुए आसन पर जाकर बैठे : इत्येवमाससाद आवासं, मन्दिरद्वारि च विसर्जितराजलोकः, प्रविश्य च अवततार, बाह्यास्थानमण्डपस्थापितम् आसनम् आचक्राम (२१४)। चन्द्रापीड की दिग्विजय का निश्चय भी आस्थानमंडप में ही किया गया था (का० ११२)। कादम्बरी में इसे सभामंडप भी कहा है (का० १११)। दिल्ली के किले में दरबारे आम के सामने जो खुला हुआ भाग है, वही प्राचीन शब्दों में अजिर है। प्रभाकरवर्द्धन के निकटवर्त्ती एवं प्रिय राजा सम्राट् की बीमारी के समय अजिर में एकत्र हुए दुःख मना रहे थे (१५४)। सम्राट् सार्वजनिक रीति से जो दरबार करते, दर्शन देते, मंत्रणा करते या मिलते-जुलते, वह सब इसी बाह्य आस्थानमंडप में होता था।[1] राज्यवर्द्धन की मृत्यु के बाद हर्ष ने बाहरी आस्थानमंडप में सेनापति सिंहनाद और गजाधिपति स्कन्दगुप्त से परामर्श किया। उस समय वहाँ अनेक राजा भी उपस्थित थे। सैनिक प्रयाण का निश्चय करने पर जब हर्ष अपने महासंधिविग्रहाधिकृत अवन्ति को समस्त पृथ्वी की विजययात्रा की घोषणा लिखा चुके, तो 'आस्थान' से उठकर राजाओं को विदा करके स्नान करने की इच्छा से 'सभा' छोड़कर चले गये : इतिकृतनिश्चयश्च मुक्तास्थानो विसर्जितराजलोकः स्नानारम्भाकाङ्क्षी सभामत्याक्षीत् (१९४)।

राजकुल में आस्थानमंडप दो थे। एक बाहरी या बाह्य आस्थानमण्डप या दरबारे आम, जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। यह राजकुल की द्वितीय कक्ष्या में था। दूसरा राजकुल के भीतर धवलगृह के पास या उसी के भीतर होता था, जिसे भुक्तास्थानमंडप (दरबारे खास) कहते थे। हर्षचरित और कादम्बरी दोनों में इनका भेद अत्यन्त स्पष्ट है। यहाँ सम्राट् भोजन के उपरांत अपने अन्तरंग मित्रों और परिवार के साथ बैठते थे, इसलिए इसकी संज्ञा भुक्तास्थानमंडप हो गई थी। भुक्तास्थानमंडप को ही प्रदोषास्थान भी कहा गया है। दिग्विजय का निश्चय करने के दिन हर्ष प्रदोषास्थान में देर तक न बैठकर जल्दी शयनगृह में चले गये : प्रदोषास्थाने नातिचिरं तस्थौ (१९५)। इसके सामने भी एक

---

१. पृथ्वीचन्द्रचरित (१४२१) में दीवाने आम को तत्कालीन भाषा में सर्वोसर (=सं०

अजिर थी आंगन होती थी, जिसमें बैठने-उठने के लिए मंडप बना रहता था। प्र
दर्शन के समय बाण तीन कक्ष्याओं को पार करके चौथी कक्ष्या में बने हुए भुक्तास्थानमं
के सामने अजिर में बैठे हुए सम्राट् हर्ष से मिले थे : दौवारिकेण उपदिश्यमानवः
समतिक्रम्य त्रीणि कक्ष्यान्तराणि चतुर्थे भुक्तास्थानमण्डपस्य पुरस्ताद्
स्थितम् (६९)। कादम्बरी में चाण्डालकन्या बाह्यास्थानमण्डप में बैठे हुए राजा शूद्रक
दरबार में तोते को लेकर उपस्थित हुई। वहाँ का वर्णन दरबारे आम का वर्णन
वैशम्पायन शुक को स्वीकार करने के बाद राजा शूद्रक सभा से उठकर महल के भीत
भाग में चले गये : विसर्जितराजलोकः क्षितिपतिः आस्थानमण्डपादुत्तस्थौ (का० १३
स्नान-भोजन के अनन्तर शूद्रक अपने अमात्य, मित्र और उस समय मिलने के योग्य राजा
के साथ भुक्तास्थानमण्डप में वैशम्पायन से उसकी कथा सुनते हैं।

राजकुल की दूसरी कक्ष्या तक का भाग बाह्य कहलाता था। यहाँतक आ जानेवाले नौकर-चाकर बाह्य प्रतीहार कहलाते थे। इससे आगे के राजप्रासाद के अभ्यन्त भाग में आने-जानेवाले प्रतीहार अन्तरप्रतीहार (६०) या अभ्यन्तरपरिजन कहलाते थे

राजकुल की तीसरी कक्ष्या में बाण ने धवलगृह का विस्तृत वर्णन किया है धवलगृह के चारों ओर कुछ अन्य आवश्यक विभाग रहते थे। बाण के अनुसार इन नाम इस प्रकार हैं :

गृहोद्यान – इसमें अनेक प्रकार के पुष्प, वृक्ष (भवनपादप, १६२) और लतामण्ड आदि थे। इसीसे सम्बद्ध कमलवन, क्रीडापर्वत, जिसे कादम्बरी में दारुपर्वतक कहा लतागृह इत्यादि होते थे।

गृहदीर्घिका—गृहोद्यान और धवलगृह के अन्य भागों में पानी की एक नहर बहती थी लम्बी होने के कारण इसका नाम दीर्घिका पड़ा। दीर्घिका के बीच-बीच में गंधोद से पूर्ण क्रीडावापियाँ बनाकर कमल, हंस आदि के विहारस्थल बनाये जाते थे। गृहदीर्घि का वर्णन न केवल भारतवर्ष में हर्ष के महल में मिलता है, बल्कि छठी-सातवीं शती राजप्रासादों की वास्तुकला की यह ऐसी विशेषता थी, जो अन्यत्र भी पाई जाती है। ईरा में खुसरू परवेज के महल में भी इस प्रकार की नहर थी। कोहे बिहिस्तून से कसरे शीर नामक नहर लाकर उसमें पानी के लिए मिलाई गई थी।[1]

१. इस सूचना के लिए मैं श्रीमौलवी मोहम्मद अशरफ, सुपरिंटेंडेंट, पुरातत्त्व-विभाग, न दिल्ली, का अनुगृहीत हूँ। इसे नहरे बिहिश्त कहते थे। हारूँ रशीद के महल भी इस प्रकार की नहर का उल्लेख आता है। देहली के लाल किले के मुगल-महलों व नहरे बिहिश्त प्रसिद्ध है। वस्तुतः, प्राचीन राजकुलों के गृहवास्तु की यह विशेषत मध्यकाल में भी जारी रही। विद्यापति ने कीर्तिलता ग्रंथ में प्रासाद का वर्णन कर हुए क्रीडाशैल, धारागृह, प्रमदवन, पुष्पवाटिका के अभिप्रायों के साथ-साथ 'कृत्रिम नद

व्यायामभूमि—शूद्रक के वर्णन में लिखा है कि वे आस्थानमंडप से उठकर स्नान के पूर्व व्यायामभूमि में गये। यह भी प्राचीन प्रथा थी। इसका उल्लेख राजा की दिनचर्या के अन्तर्गत अर्थशास्त्र में भी आया है। अष्टाध्यायी से ज्ञात होता है कि राजा को कुश्ती लड़ानेवाले ज्येष्ठ मल्ल 'राजयुध्वा' कहलाते थे (३ । २ । ६५)।

स्नानगृह या धारागृह—इसमें स्नान करने के लिए यंत्रधारा (फव्वारा) और स्नानद्रोणी रहती थी। इसे ही क्षेमेन्द्र ने लोकप्रकाश में निमज्जन-मण्डप और पृथ्वीचन्द्र-चरित (चौदहवीं शती) में माजणहरँ (मज्जनगृह) कहा है।

देवगृह · महल के भीतर सम्राट् और राजपरिवार के निजी पूजन-दर्शन के लिए मन्दिर में कुलदेव की मूर्त्ति स्थापित की जाती थी। लोकप्रकाश में इसे ही देवार्चनमण्डप कहा गया है।

तोयकर्मान्त—जल का स्थान।

महानस—रसोई का स्थान।

आहारमण्डप—भोजन करने का स्थान।

इनके अतिरिक्त कादम्बरी में संगीत-भवन (का० ६१), आयुधशाला (का० ८७), बाणयोग्यावास (का० ९०, बाण चलाने का स्थान) और अधिकरण-मण्डप (का० ८८, कचहरी या दफ्तर) का राजकुल के अन्तर्गत उल्लेख आया है। हेमचन्द्र ने कुमारपाल-चरित में (बारहवीं शती) राजमहल में श्रमगृह का उल्लेख किया है, जहाँ राजा मल्लविद्या और धनुर्विद्या का अभ्यास करता था। यह कादम्बरी में वर्णित व्यायामभूमि और बाणयोग्यावास का ही रूप है।

इन फुटकर भवनों के अतिरिक्त राजकुल का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग धवलगृह था, जिसे शुद्धान्त भी कहते थे।

धवलगृह—धवलगृह (हिन्दी धौराहर या धरहरा) जिस ड्योढ़ी से आरम्भ होता था, उसका नाम बाण ने गृहावग्रहणी, अर्थात् (धवल) गृह में रोकथाम की जगह कहा है। इस नाम का कारण यह था कि यहाँ से प्रतीहारों का पहरा, रोकटोक और प्रबन्ध की अत्यधिक कड़ाई आरम्भ होती थी। यहाँ पर नियुक्त प्रतीहार अधिक अनुभवी और विश्वासपात्र होते थे। रामायण में इसे प्रविविक्त कक्ष्या (अयोध्याकांड, १६।४७) कहा गया है जहाँ राम और सीता युवराज-अवस्था में रहते थे और जहाँ केवल विशेष रूप से अनुज्ञात व्यक्ति ही प्रवेश पाते थे। इस भाग में नियुक्त प्रतीहारी को रामायण में वृद्ध वेत्रपाणि स्त्र्यध्यक्ष कहा गया है। बाण से भी इसका समर्थन होता है।

धवलगृह दो या उससे अधिक तल का होता था। सम्राट् और अन्तःपुर की रानियाँ

चतुश्शाल कहा जाता था।[1] चतुश्शाल का ही पर्याय गुप्तकाल की भाषा में संजवन[2] था। प्रभाकरवर्द्धन के धवलगृह का वर्णन करते हुए बाण ने संजवन शब्द का प्रयोग किया है (१५५)। प्रभाकरवर्द्धन तो ऊपर थे, किन्तु उनके उद्विग्न नौकर-चाकर नीचे संजवन या चतुश्शाल में इकट्ठे होकर शोक कर रहे थे। ज्ञात होता है कि चतुश्शाल में बने हुए कमरे वस्त्रागार, काष्ठागार, ग्रंथागार आदि के लिए एवं अतिथियों के ठहराने के काम में आते थे।

धवलगृह के आँगन में चतुश्शाल के कमरों के सामने आने-जाने के लिए एक खुला मार्ग रहता था और बीच में खम्भों पर लम्बे दालान बने रहते थे, जिन्हें बाण ने सुवीथी कहा है। पथ और सुवीथियों के बीच में तिहरी कनात तनी होती थी: त्रिगुणतिरस्करिणीतिरोहितसुवीथीपथे (१५५)। प्रायः सुवीथी में जाने के लिए पक्षद्वार होते थे। सुवीथी, उनमें बैठे हुए राजा-रानियों के पारिवारिक दृश्य, पक्षद्वार और तिरस्करिणी—इन सबका चित्रण अजन्ता के कई भित्तिचित्रों में आता है, जिनसे धवलगृह की इस रचना को समझने में सहायता मिलती है (राजासाहब औंधकृत अजन्ता, फलक ६७, ७७)। सुवीथियों के मध्य की भूमि खुली होती थी और उसमें बैठने-उठने के लिए एक चबूतरा बना होता था, जिसे 'चतुश्शाल-वितर्दिका' कहा गया है (१७८)। [दे० धवलगृह का चित्र, फलक २७]।

धवलगृह का ऊपरी तल—धवलगृह के ऊपरी तल में सामने की ओर बीच में प्रग्रीवक, एक ओर सौध और दूसरी ओर वासभवन या वासगृह होता था। वासगृह का ही एक भाग शयनगृह था। वासभवन में भित्तिचित्र बनाये जाते थे (१२७)। इसीसे यह स्थान चित्रशालिका भी कहलाता था। उसी से निकला हुआ चित्तरसारी रूप भाषा में चलता है। रानी यशोवती वासभवन में सोती थी। हर्ष का शयनगृह भी यहीं था। सौध केवल रानियों के ही उठने-बैठने का स्थान था। उसकी खुली छत पर यशोवती स्तन-मण्डल पर से अंशुक छोड़कर चाँदनी में बैठती थी (१२७)। बीच के कमरे की संज्ञा प्रग्रीवक इसलिए थी कि वह धवलगृह के ग्रीवास्थान पर बना होता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कुमारीशाला में बने हुए प्रग्रीव कमरे का उल्लेख है (अर्थशास्त्र, २।३१)। प्रभाकरवर्द्धन की बीमारी में आई हुई सगे-सम्बन्धियों की स्त्रियाँ ऊपर प्रग्रीवक के कमरे में ही बैठी थीं, जिसमें चारों ओर से परदा या ओट थी: बान्धवाङ्गनावर्गगृहीतप्रच्छन्नप्रग्रीवके (१५५)।

---

१. चतुश्शाल का अपभ्रंश रूप चौसल्ला अभी तक हिन्दी में प्रयुक्त होता है। काशी में पुराने घरों के भीतरी आँगन को चौक कहा जाता है।

२. संजवन्ति अत्र इति संजवनं (गत्यर्थक जु धातु), अर्थात् जहाँतक बाहरी व्यक्ति जा

जिस प्रकार आगे की ओर प्रग्रीवक की मुखशाला थी, उसी प्रकार ऊपरी तल्ले में पीछे के भाग में चन्द्रशालिका होती थी। इसमें केवल छत और खम्भे होते थे और राजा-रानी बैठकर चाँदनी का सुख लेते थे। यशोवती गर्भावस्था में चन्द्रशालिका में बैठकर उसके खम्भों पर बनी शालभंजिकाओं (खम्भों पर उत्कीर्ण स्त्रीमूर्तियों) को देखती थी।

चन्द्रशालिका और प्रग्रीवक को मिलानेवाले दाहिने और बायें लम्बे दालान प्रासाद-कुक्षि कहे गये हैं, जिनमें वातायन बने होते थे। उनमें राजा चुने हुए आप्त सुहृदों के साथ अंतःपुर के संगीत और नृत्य आदि उत्सवों का आनन्द लेते थे (का० ५८)। [फलक २८]

बाण के वर्णन की साहित्यिक तुलना

बाण ने राजप्रसाद का जो वर्णन किया है, उसकी कई विशेषताओं पर उसके पूर्वकालीन और परवर्त्ती साहित्य में आये हुए उल्लेखों से उनके समझने में सहायता मिलती है।

रामायण में दशरथ के राजकुल और राम के भवन का वर्णन है। दशरथ का राजकुल पाँच कक्ष्याओंवाला था। इनमें से तीन कक्ष्याओं के भीतर तक राम रथ पर चढ़कर चले गये, फिर दो कक्ष्याओं में पैदल गये (अयोध्या १७।२०)। दशरथ भी प्रभाकरवर्द्धन की तरह प्रासाद के ऊपरी तल्ले में ही रहते थे। जब राम दशरथ से मिलने गये, तब प्रासाद के ऊपरी भाग में चढ़े (प्रासादमारुरोह, ३।३१-३२)। इसी प्रकार वसिष्ठ भी प्रासाद पर अधिरोहण करके ही राजा दशरथ से मिले थे: प्रासादमधिरुह्य (अयोध्या, ५।२२)

राम युवराज थे। उनका भवन दशरथ के राजभवन से अलग था, पर उसका सन्निवेश भी बहुत-कुछ राजभवन के ढंग पर ही था: राजभवनप्रख्यात् तस्माद्राम-निवेशनात् (अयोध्या, ५।१५)। उसमें तीन कक्ष्याएँ थीं। रामचन्द्र के भवन में वसिष्ठ का रथ तीसरी कक्ष्या के भीतर तक चला गया था।[1] धृतराष्ट्र के राजवेश्म में तीन कक्ष्या के भीतर सभा थी (उद्योग० ८७।१२)। दुर्योधन के युवराज-भवन में भी तीन कक्ष्याएँ थीं (उ० ८६।२)।

इस सम्बन्ध में बाण का साक्ष्य महत्त्वपूर्ण है। कादम्बरी में राजकुमार चन्द्रापीड जब विद्याध्ययन से वापिस लौटे, तब उनके लिए अलग भवन दिया गया, जिसका नाम कुमारभवन था। इसी प्रकार कौमार अवस्था में कादम्बरी के लिए भी कुमारी-अन्तःपुर नामक भवन अलग ही बना था। चन्द्रापीड के भवन में दो भाग मुख्य थे—एक श्रीमण्डप और दूसरा शयनीय गृह। श्रीमण्डप बाहर का भाग और शयनीय गृह भीतर का था (का० ६६)। कादम्बरी के कुमारी-अन्तःपुर में भी श्रीमण्डप था।[2]

हैम्पटन कोर्ट नामक ट्यूडर-कालीन महल में भी प्रिंस ऑफ् वेल्स (युवराज) के लिए पृथक् भवन की कल्पना थी, जो राजकुल के एक भाग में मिलती है। इसमें तीन

का कमरा था। उसी में रखे हुए शयन पर चन्द्रापीड के बैठने का उल्लेख है : श्रीमण्डपावस्थितशयने मुहूर्तमुपविश्य (का० ९६)। 'बेड रूम' और शयनीय गृह का साम्य स्पष्ट ही है। राम के महल की तीन कक्ष्याओं में भी प्रथम कक्ष्या में सबसे आगे द्वारस्थान (द्वारपद, अयो० १५।४५) और तब राजवल्लभ अश्व, गज आदि के लिए स्थान थे। तीसरी कक्ष्या राम-सीता का निजी वासगृह था, जिसे प्रविविक्त कक्ष्या (अयो० १६।४७) कहा गया है। यहाँ बुड्ढे स्त्र्यध्यक्ष नामक प्रतीहार हाथ में वेत्रदण्ड लिये हुए तैनात थे और अनुरक्त युवक शस्त्र लिये हुए उसके रक्षक नियुक्त थे (अयो० १६।१)। राम के और युवराज हर्ष के भवनों में साम्य पाया जाता है। युवराज हर्ष का कुमारभवन रामभवन की तरह सम्राट् प्रभाकरवर्द्धन के प्रासाद से अलग था। हर्ष जब शिकार से लौटा, तब पहले एकदम स्कन्धावार में होता हुआ राजद्वार के पास आया, जहाँ द्वारपालों ने उसे प्रणाम किया और तब राजकुल में प्रविष्ट होकर तीसरी कक्ष्या के भीतर धवलगृह के ऊपरी तल्ले में पिता प्रभाकरवर्द्धन से मिला ; फिर धवलगृह से नीचे उतरकर राजपुरुष के साथ अपने भवन (स्वधाम) में गया। सन्ध्या के समय वह फिर पिता के भवन में ऊपर गया : अपामुखे क्षितिपालसमीपमेव पुनरारुरोह (१६०)। प्रातःकाल होने पर धवलगृह से नीचे उतरा और राजद्वार पर खड़े हुए अश्वपाल के घोड़ा हाजिर करने पर भी पैदल ही अपने मन्दिर को वापिस लौटा : उषसि चावतीर्य चरणाभ्यामेव आजगाम स्वमन्दिरम् (१६०)। इससे सूचित होता है कि युवराज हर्ष का अपना भवन राजद्वार से बाहर था।

रामायण में रावण के राजभवन का भी विस्तृत वर्णन है (सुन्दरकांड, अ० ६-७)। उस समस्त राजकुल को 'आलय' कहा गया है। उस आलय के मध्यभाग में रावण का भवन था और उसमें कई प्रासाद थे। इन तीनों शब्दों की तुलना हम बाण के राजकुल, धवलगृह और वासगृह से कर सकते हैं, जो क्रमशः एक के भीतर एक थे। रावण की निजी महाशाला भी सोपान से युक्त थी। रावण के महानिवेशन या राजकुल में लतागृह चित्रशालागृह, क्रीडागृह, दारुपर्वतक, कामगृह, दिवागृह (सुन्दर० ६।३६-३७), आयुध-चापशाला, चन्द्रशाला (सुन्दर० ७।२), निशागृह (सुन्दर० १२।१), आपानशाला, पुष्पगृह आदि थे। इनमें से कई विशेषताएँ ऐसी हैं, जो बाण के समकालीन राजभवनों में भी मिलती हैं। चन्द्रशाला परिचित शब्द है। रामायण का चित्रशालागृह हर्षचरित के वासभवन का शयनगृह होना चाहिए, जहाँ भित्तिचित्र बने थे और इस कारण जिसका यथार्थ नाम चित्रशालिका भी था।

प्रथम शती ई० के महाकवि अश्वघोष ने सौन्दरनन्द में नन्द के वेश्म या गृह का

हुआ कहा। पर, उनकी विशालता के कारण विलम्ब होने से उसे अपने विशाल कक्ष्याओंवाले घर पर क्रोध आया।[1] अश्वघोष ने यह भी संकेत दिया है कि महल के हर्म्यपृष्ठ या ऊपरी तल्ले में गवाक्ष होते थे (४।२८)।[2] बाण ने भी कादम्बरी में लिखा है कि धवलगृह के ऊपरी तल्ले की प्रासादकुक्षियों में वातायन बने रहते थे, जो किवाड़ खोलने पर प्रकट दिखाई पड़ते थे : विघट्टितकपाटप्रकटवातायनेषु महाप्रासादकुक्षिषु (का० ५८)।

गुप्तकालीन 'पादताडितकम्' नामक ग्रन्थ (पाँचवीं शती का मध्यभाग) में वारवनिताओं के श्रेष्ठ भवनों का वर्णन करते हुए उनकी कक्ष्याओं के विभाग को खुलकर फैला हुआ कहा गया है : असम्बाधकक्ष्याविभागानि (पृ० १२)। वे सुनिर्मित सुन्दर छिड़काव किये हुए (सिक्त) और पोली पिचकारियों से फुफकार कर साफ किये गये (सुषिरफूत्कृत) थे। उन घरों के वर्णन-प्रसंग में वप्र (चारदीवारी), नेमि (नींव , साल (प्रकार), हर्म्य (ऊपरी तल के कमरे), शिखर, कपोतपाली (गवाक्ष पंजर के सामने की गोल मुँडेर के आगे बने छोटे केवाल-संज्ञक कंगूरे), सिंहकर्ण (गवाक्ष-पंजर के दायें-बायें उठे हुए कोने), गोपानसी (गवाक्ष पंजर के ऊपर नाक की तरह निकला भाग), वलभी (गोल मुँडेर), अट्टालक, अवलोकन (देखने के लिए बाहर की निकली हुई खिड़कियाँ , प्रतोली (नगर के प्राकार में बने हुए फाटक, जिन्हें पोल या पौरि भी कहते हैं), विटंक, प्रासाद आदि शब्दों का उल्लेख है। बाण ने स्थाण्वीश्वर नगर के वर्णन में प्रासाद, प्रतोली, और शिखरों का उल्लेख किया है (१४२)। प्रभाकरवर्द्धन के धवलगृह की भाँति पादताडितकं में भी वितर्दि (आँगन में बनी वेदिका या चबूतरा), संजवन (चतुश्शाल) और वीथी (धवलगृह के भीतरी आँगन में पटावदार बरामदे) का वर्णन है।

मृच्छकटिक में वसन्तसेना के अतिविशाल और भव्य गृह के आठ प्रकोष्ठों का वर्णन है। यहाँ प्रकोष्ठों का वही अर्थ है, जो बाण में कक्ष्या का है।

भारतीय स्थापत्य और प्रासाद-निर्माण की परम्पराएँ छोटे मोटे भेदों के साथ मध्यकाल में भी जारी रहीं। हेमचन्द्र के द्व्याश्रय काव्य (१२वीं शती), विद्यापति की कीर्त्तिलता (लगभग १४०० ई०), पृथ्वीचन्द्रचरित (१४२१ ई०) और मुगलकालीन महलों में भी हम हर्षकालीन गृहवस्तु की विशेषताओं की परम्परा पाते हैं। कुमारपालचरित में आस्थानमण्डप को सभा (६।३६) और मण्डपिका (६।२२-२६) कहा है। धवलगृह के साथ सटे हुए गृहोद्यान का भी उल्लेख है (२।६१), जैसा राजकुल के चित्र में दिखाया गया है। गृहोद्यान बाह्यास्थानमण्डप से अन्दर की ओर विशाल भूभाग में बनाया जाता था। हेमचन्द्र ने राजमहल के उद्यान का विस्तृत रूप

भवनद्वार पर लगा हुआ बाल सहकार—ये भवन-पादप रानी यशोवती को स्वजन की भाँति प्रिय थे (१६४-६५)।

कीर्तिलता में प्रासाद-वर्णन के कई अभिप्राय प्राचीन हिन्दू-परम्परा के हैं, जैसे काञ्चनकलश, प्रमदवन, पुष्पवाटिका, कृत्रिमनदी (=भवनदीर्घिका , क्रीडाशैल (=क्रीडापर्वत), धारागृह, यन्त्रव्यजन, शृंगारसंकेत (=कामगृह, सुन्दरकाण्ड, ६ । ३७), माधवीमण्डप, खट्वाहिंडोल, कुसुमशय्या, चतुःसम पल्लव, चित्रशाली (चित्रभित्तियों से युक्त शयनगृह या चित्रशालिका)। इसी के साथ मुसलमानी वास्तु के कई नये शब्द भी उस समय चल गये थे, जिनका विद्यापति ने उल्लेख कर दिया है; जैसे, खास दरबार (=भुक्तास्थानमण्डप), दरसदर (=राजद्वार) निमाजगह (=देवगृह), ख्वारगह ? (=आहारमण्डप), पोरमगह जो सुख-मन्दिर का पर्याय है। आमेर के महलों में वह स्थान सुख-मन्दिर कहलाता है, जहाँ पानी की नहर निकलकर भीतरी बाग को सींचती है। यह प्राचीनकाल की भवनदीर्घिका और दिल्ली के मुगलकालीन महल के रंगमहल का स्मरण दिलाती है, जिसमें नहर-बिहिश्त बहती हुई गई है।

१५वीं शती के पृथ्वीचन्द्रचरित (१४२१ ई०) में महल और उससे सम्बद्ध कितने ही अंगों का वर्णन किया गया है—'धवलगृह स्वर्ग-विमान-समान, अनेक गवाक्ष, वेदिका, चउकी, चित्रसाली, जाली, त्रिकलशाँ, तोरण-धवलगृह, भूमिगृह, भाण्डागार, कोष्ठागार, सत्रागार, गढ़, मठ, मन्दिर, पड़वाँ, पटसाल, अधहटाँ, कडहटाँ, दण्डकलस, आमलसार, आँचली, बन्दरवाल, पंचवर्ण पताका, दीपइँ। सर्वोसर, मंत्रोसर, मांजणहराँ, (मज्जनगृह), सप्तद्वारान्तर (सात कक्ष्या या चौक), प्रतोली (पौर), रायंगण (राजाङ्गण); घोड़ाहडि (=घोड़े का बाजार या नक्खास), आपाड़उ, गुणणी, रंगमंडप, सभामण्डप, समूहि करी, मनोहर एवंविध आवास (पृथ्वीचन्द्रचरित, पृ० १३१-३२)। इस सूची में कई शब्दों में बाणकालीन परम्परा अक्षुण्ण दिखाई पड़ती है। गवाक्ष, वेदिका, चित्रसाली, तोरण, धवलगृह, सभामण्डप, प्रतोली—ये शब्द प्राचीन हैं। साथ ही मज्जनगृह (स्नानगृह), सर्वोसर (=सर्वोपसर, दीवाने आम), मंत्रोसर (=मंत्रोपसर, मन्त्रणागृह, दीवानखास) और रायंगण (राजांगण, अजिर) आदि शब्द नये हैं; किन्तु उनके अर्थ प्राचीन हैं, जो बाण के समय में अस्तित्व में आ चुके थे।

बाण के स्कन्धावार और राजकुल के वर्णन को समझने के लिए मध्यकालीन हिन्दू और मुसलमानी राजाओं के बचे हुए राजप्रासादों और महलों को आँख के सामने रखना आवश्यक है। राजकुल की आवश्यकताएँ बहुत अंशों में समान होती हैं, जिसके कारण भिन्नजातीय राजप्रासादों के विविध अंगों में समानता का होना स्वाभाविक है।

कारण यही हो सकता है कि मुगल-सम्राटों ने अपने महलों की निर्माण-कला में कई बातें बाहर से लाकर जोड़ीं, पर कितनी ही विशेषताएँ पुराने राजमहलों की भी अपनाईं। उदाहरण के लिए, निम्नांकित बातों में समता पाई जाती है—

बाण के महल (७वीं शती)	दिल्ली के लाल किले का मुगल-कालीन महल।	लंडन में हैम्पटन कोर्ट महल (१६-१७वीं शती)।
१ राजकुल के सामने स्कन्धावार का बड़ा सन्निवेश और विपणि-मार्ग।	लाल किले के सामने फैला हुआ बड़ा मैदान, जिसकी संज्ञा उर्दू बाजार थी।[1]	
२ परिखा और प्राकार।	खाई और किले की चारदीवारी।	Moat and Bridge
३ राजद्वार।	किले का सदर दरवाजा, जहाँ से पहरा शुरू होता है (तुलना० कीर्त्तिलता में दरसदर)।	The Great Gate House
४ अलिंद या बाह्यद्वार प्रकोष्ठ।	सदर दरवाजे के भीतर चलकर दोनों ओर बनी कोठरियाँ या कमरों की पंक्तियाँ, जहाँ इस समय दुकानें कर दी गई हैं।	Barracks and Porter's Lodge in the Entrance
५ प्रथम कक्ष्या—राजकुंजर का अवस्थान-मण्डप और राजवाजियों की मन्दुरा।	खुला हुआ मैदान।	Base Court
६ बाह्यास्थान-मंडप और उसके सामने अजिर।	दीवाने आम और उसके सामने खुला आँगन।	Great Hall and Great Hall Court
७ अजिर से अस्थान-मंडप में चढ़ने के सोपान (हर्ष० १५५, प्रासाद-सोपान; का० ८६)।	दीवाने आम के सामने की सीढ़ियाँ।	Grand Stair-case [King's Stair-case]
८ आस्थान-मंडप में रखा हुआ राजा का आसन।	दीवाने आम में बादशाह के बैठने का विशेष स्थान।	Clock Court
९ अभ्यन्तरकक्ष्या।		

११ गृहोद्यान; क्रीडावापी, कमलवन।	नजर बाग और उसमें बना हुआ तालाब (तुलना० कीर्त्तिलता का चतुस्सम पल्वल और उसमें रखी हुई चन्द्रकांतशिला)।	Privy Garden Pond Garden [Vinery, Orangery etc.]
१२ गृहदीर्घिका।	नहरे-बहिश्त।	Long Canal, 'Long Water'
१३ स्नानगृह, यन्त्रधारा, स्नानद्रोणी, महानस, आहारमंडप।	हम्माम, हौज और फव्वारे।	Bathing Closet, King's Kitchen, Banqueting Hall, Private Dining Room.
१४ देवगृह।	मस्जिद या नमाजगाह। (मोती मस्जिद)।	Royal Chapel
१५ चतुःशाल।		Cellers on the Ground Floor
१६ वीथियाँ।	खुर्रमगाह रंगमहल, (कीर्त्तिलता का खुर्रमगाह और आमेर के महलों का सुख-मंदिर)।	Galleries
१७ भुक्तास्थान मंडप।	दरबार खास।	Audience Chamber
१८ प्रग्रीवक, गवाक्ष वातायनों से युक्त मुखशाला। [पादताडितकं का 'अवलोकन']।	मुसम्मम बुर्ज (आमेर के महलों का सुहाग-मन्दिर, जहाँ रानियाँ झरोखेदार जालियों में बैठकर बाहर के दृश्य देखती थीं।	Queen's Gallery, Great Watching Chamber

और मुक्ताशैल (श्वेत पाषाण) के स्तम्भों से बना हुआ निवासप्रासाद,(६८); हाथीदाँत के तोरण से युक्त, हीरों का कमरा (सदन्त-तोरण वज्रमन्दिर, ६८)।	जहाँ छत्र और दीवारों पर चित्र बने हैं।	Queen's Drawing Room King's Bed-Room Queen's Bed-Room
२१ संगीतगृह।		
२२ चन्द्रशाला।		
२३ प्रासाद-कुक्षियाँ।		Presence Chambers
२४ प्रतीहारगृह।	ख्वाजासरा का महल।	Lord Chamberlains Court, where he and his officials had their lodgings

इस सूची से स्पष्ट है कि भारतीय राजप्रासादों की जिस रचना का उल्लेख बाण में हैं, उसकी धारा बाण से पूर्वकालीन साहित्य में और बाण के उत्तरवर्त्ती साहित्य में भी थी। वस्तुतः सातवीं शती के राजमहलों में अनेक परम्पराएँ—न केवल वास्तु और स्थापत्य-सम्बन्धी, बल्कि जीवनोपयोगी नौकर-चाकर, रागरंग सम्बन्धी भी— अपने पूर्वकाल से ली गईं। उसी प्रकार उनका यह ठाटबाट बाद के युगों तक जारी रहा। यही स्वाभाविक ऐतिहासिक क्रम है। बाण के इन धुँधले चित्रों में आभा और रंग भरना होगा। उत्तरवर्त्ती गुर्जर—प्रतीहार, पाल, परमार, चालुक्य, यादव, काकति, गंग, विजयनगरवंशी राजाओं के काल में बने राजप्रासादों के अध्ययन और मुस्लिम काल के साहित्य और वास्तु के अध्ययन के फलस्वरूप पर्याप्त सामग्री प्राप्त होने की आशा है, जिसकी सहायता से भारतीय राजप्रासादों की रूपरेखा और विकास अधिक सुस्पष्ट और निश्चित हो सकेगा।

लण्डन में जो हैम्पटन कोर्ट नामक राजभवन है, उसे कार्डिनल वूल्से ने सन् १५१४ ई० में बनवाकर सन् १५२६ ई० में सम्राट् हेनरी अष्टम को दे दिया था और उसने उसे १५४० ई० में पूरा किया। उसपर सोहलवीं शती के आरम्भ की अँगरेजी वास्तु की छाप थी। डेढ़ सौ वर्ष पीछे सन् १६८० ई० में विलियम तृतीय और सम्राज्ञी ऐन (Anne) के समय में उसका पुनः संस्कार हुआ। १७वीं शती में ही दिल्ली के लाल किले में बने हुए शाहजहाँ-कालीन राजप्रासाद पुराने भवनों के

बाणकालीन राजप्रासाद और विलायती राजप्रासाद में कुछ भी ऐतिहासिक सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता, फिर भी दोनों के सन्निवेश में जो समानताएँ हैं, उनका कारण यही हो सकता है कि राजमहलों के निर्माण की कला जिन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विकसित हुई, वे बहुत कुछ सार्वदेशिक थीं। नई दिल्ली के राष्ट्रपति-भवन का भी तुलनात्मक सन्निवेश इस प्रकार है—स्कन्धावार का बाहरी भाग (Central Vista); अधिकरण-मंडप (Secretariat); राजद्वार (Main Gate); बाह्यकक्ष्या (Fore-Court); प्रासाद-सोपान (Grand Stair-case); बाह्यास्थान-मंडप (Darbar Hall); प्रतीहार-भवन (Military Secretary's Wing); भुक्तास्थानमंडप (Audience-Room); आहारमंडप (Banqueting Room); अन्तःपुर-संगीत के लिए प्रासाद-कुक्षियाँ (Ball-Room); गृहोद्यान (Mughal Gardens); कमलवन (Flowers); क्रीडावापी (Pond); दीर्घिका (Fountain & Long Canal) ।



सामन्त मध्यकालीन भारतीय राजनीति-परिभाषा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्द है। अश्वघोष-कृत सौन्दरनन्द (२४५) और कालिदास (रघु० ५।२८, ६।३३) में भी सामन्त शब्द का प्रयोग हुआ है। किन्तु, बाण के हर्षचरित में सामन्त-संस्था का अत्यन्त विकसित रूप मिलता है। अवश्य ही कई सौ वर्ष पूर्व से ही सामन्त-प्रथा अस्तित्व में आ चुकी होगी। याज्ञवल्क्यस्मृति २-१५२ में सामन्तों की सहायता से सीमा-सम्बन्धी विवाद के निपटाने का उल्लेख है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में सामन्त शब्द पड़ोसी राज्य के राजा के लिए है। उसका वह विशिष्ट अभिप्राय और महत्त्व नहीं है, जो बाणकालीन साहित्य में पाया जाता है। बाद में मध्यकाल का साहित्य तो सामन्त-प्रथा के वर्णन से भरा हुआ है। मध्यकालीन राज्य व्यवस्था को सामन्तशाही पर आश्रित कहा जा सकता है। हो सकता है, कुषाण काल में शक-कुषाण राजाओं की शासन-प्रणाली के समय इस प्रथा का पूर्वरूप आया हो। शक-सम्राट् के साथ ९६ शाहि या सहायक राजाओं के आने का उल्लेख जैन साहित्य में पाया जाता है। शक-शासन में सम्राट् विदेशी होने के कारण प्रजाओं तक साक्षात् रूप में संपर्क न रख सकते होंगे। उन्होंने मध्यस्थ अधिकारियों की कल्पना की, जिन्हें छोटे-मोटे रजवाड़ों के समस्त अधिकार सौंपकर शाहानुशाही या महा-राजाधिराज या बड़े सम्राट् शासन का प्रबन्ध चलाते थे। शक-कुषाणों के बाद गुप्त-शासन में स्वदेशी राज्य या स्वराज्य स्थापित हुआ, किन्तु शासन के अनेक प्रबन्ध पूर्वकाल के भी अपना लिये गये या पूर्ववत् चालू रहे। गुप्तों ने वेष-भूषा और सैनिक संगठन को बहुत कुछ शक-पद्धति पर ही चालू रखा। अस्तु; यह सम्भव है कि सामन्त-प्रथा उनके समय में अपने पूर्वरूप में स्थापित हुई और पीछे खूब विकसित हो गई।

बाण ने सामन्त-प्रथा का विस्तृत वर्णन दिया है। उनके पूर्वज भर्त्सु या भर्वु के चरणकमलों में समस्त सामन्त अपने किरीट झुकाते थे। युद्ध और शान्ति के समय राजाओं के जीवन में सामन्त बराबर भाग लेते हैं। वे उनके सुख-दुःख के साथी हैं। बाण ने कई प्रकार के सामन्तों का उल्लेख किया है, जैसे सामन्त, महासामन्त, आप्तसामन्त, प्रधान-सामन्त, शत्रुमहासामन्त, प्रतिसामन्त।

हूणों के साथ युद्धयात्रा पर जाते हुए राज्यवर्द्धन के साथ चुने हुए अनुरक्त महासामन्त भेजे जाते हैं। सम्राट् पुष्पभूति ने महासामन्तों को अपना करद बनाया था (करदीकृतमहासामन्त, पृ० १००, हर्षचरित, निर्णयसागर-संस्करण)। सामन्तों की शासित भूमि में सम्राट् स्वयं ग्राह्य भाग नहीं वसूल करते थे, बल्कि सामन्तों से ही प्रतिवर्ष कर उगाह लेते थे। इससे सम्राट् और सामन्त दोनों को ही सुविधा रहती थी। प्रभाकरवर्द्धन की बीमारी के समय उनके राजप्रसाद में एकत्र हुए आप्त सामन्त अत्यन्त संताप का अनुभव करते हैं : सन्तप्ताप्तसामन्त (पृ० १५५)। प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु के अनन्तर जब राज्य-

सेवासम्भ्रान्तानन्तसामन्तसीमन्तिनीसमावीजितजाम्बूनदघटाभिषेकः (पृ० १८७)। सामन्तों में कुछ प्रमुख और उत्तमस्थानीय होते थे। उनकी पदवी प्रधानसामन्त थी। वे सम्राट् के अत्यन्त विश्वासपात्र होते थे। बाण ने लिखा है कि सम्राट् उनकी बात न टालते थे : अनतिक्रमणीयवचनैः प्रधानसामन्तैः विज्ञाप्यमानः (पृ० १७८)। ग्रहवर्मा की मृत्यु से क्षुब्ध राज्यवर्द्धन प्रधान सामन्त के कहने से ही अन्न-जल ग्रहण करता है।

देश-विजय के लिए जब सम्राट् हर्ष प्रस्थान करते हैं, तभी प्रतिसामन्तों को बुरे-बुरे शकुन सताने लगते हैं। युद्ध में निर्जित शत्रुमहासामन्त सम्राट् हर्ष की छावनी में आकर पड़े हुए थे, जब बाण पहली बार उससे भेंट करने के लिए मणितारा गाँव के पास की छावनी में मिला था (पृ० ६०)। वहाँ उनके ऊपर जो बीतती थी, उसका भी बाण ने चित्र खींचा है। उससे ज्ञात होता है कि युद्ध में जिस तरह का व्यवहार जो शत्रुमहासामन्त सम्राट् के साथ करता था, उसे उसी के अनुरूप कड़ाई भुगतनी पड़ती थी। युद्ध में प्राणभिक्षा मिल जाने पर और अपना राज्य गँवा देने पर जो अपमान का व्यवहार सेवा करने के रूप में भुगतना पड़ता था, वह भी सम्राट् की अनुकम्पा ही थी। अन्यथा, विजेता को अधिकार था कि निर्जित शत्रु के राज्य, सम्पत्ति, प्राण और स्वजनों का स्वेच्छा से उपभोग करे। बाण ने लिखा है कि कुछ शत्रु महासामन्त दरबार में उपस्थित होकर सेवा-चामर अर्पित करते थे। कुछ लोग कंठ में कृपाण बाँधकर प्राणभिक्षा प्राप्त करने की सूचना देते थे। कुछ अपना सर्वस्व अपहरण हो जाने के बाद भाग्य के अन्तिम निर्णय तक दाढ़ी बढ़ाकर छावनी में हाजिरी देते थे और प्रणामांजलि अर्पित करने के लिए उत्सुक रहते थे। बाण ने लिखा है कि उनके लिए यह सम्मान ही था। सम्राट् के प्रासाद के अभ्यन्तर से जो अन्तरप्रतीहार बाहर आते थे, उनसे शत्रुसामन्त बड़ी उत्सुकता से पूछते रहते थे—'भाई, क्या भोजन के अनन्तर सम्राट् सजाये हुए भुक्तास्थान-मंडप में दर्शन प्रदान करेंगे (अर्थात्, क्या आज दरबारे खास में भीतर की मुलाकातें होंगी)? अथवा क्या वे बाह्य-आस्थानमंडप (दरबारे आम) में आयेंगे?' इस प्रकार, शत्रुमहासामन्त दर्शन की आशा लगाये दरबार में पड़े रहते थे : भुजनिर्जितैः शत्रुमहासामन्तैः समन्तादासेव्यमानम् (पृ० ६०)। बाण ने एक स्थान पर लिखा है कि निर्जित सामन्तों को अपने बालशिशुओं या नाबालिग कुमारों को विजेता सम्राट् को सौंप देना पड़ता था : प्रत्यग्रनिर्जितस्यास्तमुपगतवतो वसन्तसामन्तस्य बालापत्येषु (पृ० ४५)। ज्ञात होता है कि जो राजा युद्ध में मारे जाते थे, उनके कुमारों को विजेता सम्राट् अपने संरक्षण में ले लेते थे और उन्हें राजप्रासाद में ही रखकर शिक्षित और विनीत करते थे। कालान्तर में जब वे वयस्क हो जाते थे, तब उन्हें उनके पिता का राज्य वापिस मिल जाता था। समुद्रगुप्त ने अपनी प्रयाग-प्रशस्ति में कई प्रकार की राजव्यवहार की नीतियों का परिगणन

२. आज्ञाकरण।

३. प्रणामाकामन।

४. भ्रष्टराज्योत्सन्नराजवंशप्रतिष्ठापन।

बाण के ऊपर लिखे वर्णनों में भी चारों नीतियाँ आ जाती हैं। आमने-सामने खुले युद्ध में हारकर अनन्यशरण बने हुए शत्रुमहासामन्तों के साथ ऊपर के व्यवहार उस काल की अन्तरराष्ट्रीय युद्धनीति के अनुसार सर्वमान्य थे। ऐसे महासामान्त विजेता के सामने अपना शेखर और मौलि उतारकर प्रणाम करते थे। मौलि केशों के ऊपर का गोल सुवर्णपट्ट और शेखर उसके ऊपर लगा हुआ शिखंड ज्ञात होता है।

जैसा ऊपर कहा गया है सामन्त-प्रथा बाण के काल (७वीं शती का पूर्वार्द्ध) से पहले ही खूब विकसित हो चुकी थी। उसका सम्पूर्ण ब्यौरेवार इतिहास अभी नहीं लिखा गया। पश्चिमी भारत से मिले हुए सम्राट् विष्णुषेण के ५६२ ई० के लेख में स्थानीय देशाचार (दस्तूरुल अमल) का ब्यौरेवार संग्रह दिया गया है। उसमें लिखा है कि जायदाद और जमीन के मामलों (स्थावर-व्यवहार) का अन्तिम निपटारा सामन्तों के अधिकार से बाहर था। यदि वे उसका फैसला कर दें, तो उन्हें १०८ चाँदी के रुपये (अष्टोत्तररूपकशत) जुरमाना देना पड़ता था। उसी लेख में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह लिखी है कि जब राज्य का कोई अमात्य, दूत या सामन्त गाँव में जाता था, तब गाँववालों के लिए यह आवश्यक न था कि उनके लिए पलंग-डेरा या भोजन-पानी का प्रबन्ध करें: सामन्तामात्यदूतानामन्येषां चाभ्युपगमे शयनासनसिद्धान्नं न दापयेत्।

सामन्त की परिभाषा

शुक्रनीति गुप्त-शासन का मानों कौटिलीय अर्थशास्त्र है। उसमें गुप्त-शासनप्रबन्ध और सचिवालय का हू-ब-हू वर्णन पाया जाता है। उसकी संस्थाएँ उसी युग के लिए सत्यात्मक उतरती हैं। शुक्रनीति में एक महत्त्वपूर्ण सूचना यह पाई जाती है कि उस समय गाँव-गाँव में खेतों की नाप-जोख कर जमीन का बंदोवस्त किया गया था। एक सहस्र सीर भूमि पर एक सहस्र कार्षापण लगान, राजग्राह्य कर जिसे भाग कहते थे, नियत किया गया था। इसी निर्धारित 'भाग' के राजत कार्षापणों की संख्या के अनुसार गाँव, परगने देश, आदि की प्रसिद्धि हो जाती थी। जैसे—यदि कहा जाय शाकम्भर सपादलक्ष, तो इसका अर्थ यह हुआ कि शाकम्भर प्रदेश का भूमिकर कुल सवा लाख चाँदी के कार्षापण था। गुप्तकाल में सारे देश में इस प्रकार का एक भूमि-प्रबन्ध हुआ था और जो भाग उस समय नियत कर दिया गया था, उसी को कालान्तर में मध्यकाल तक जनता मानती रही। यह अतिरोचक विषय है, जिसमें अभी अधिक अनुसंधान की आवश्यकता है। शिलालेखों में जो देशवाची नामों के आगे भारी-भारी संख्याएँ मिलती हैं, वे इसी प्रकार की हैं। अप-

> लक्षकमितो भागो राज्ञो यस्य जायते ।
> वत्सरे वत्सरे नित्यं प्रजानां त्वविपीडनैः ॥ १ । १८२
> सामन्तः स नृपः प्रोक्तः यावल्लक्षत्रयावधि ।
> तदूर्ध्वं दशलक्षान्तो नृपो माण्डलिकः स्मृतः ॥ १ । १८३
> तदूर्ध्वं तु भवेद्राजा यावद्विंशतिलक्षकः ।
> पंचाशल्लक्षपर्यन्तो महाराजः प्रकीर्त्तितः ॥ १ । १८४
> ततस्तु कोटिपर्यन्तः स्वराट् सम्राट् ततः परम् ।
> दशकोटिमितो यावद् विराट् तु तदनन्तरम् ॥ १ । १८५
> पञ्चाशत्कोटिपर्यन्तं सार्वभौमस्ततः परम् ।
> सप्तद्वीपा च पृथिवी यस्य वश्या भवेत्सदा ॥ १ । १८६

इसकी तालिका इस प्रकार हुई—

सामन्त की वार्षिक भूमिकर से आय १ लाख = ३ लाख चाँदी के कार्षापण ।

मांडलिक	४ लाख—१० लाख	,,
राजा	११ लाख—२० लाख	,,
महाराज	२१ लाख—५० लाख	,,
स्वराट्	५१ लाख—१ करोड़	,,
सम्राट्	२ करोड़—१० करोड़	,,
विराट्	११ करोड़—करोड़	,,
सार्वभौम	इससे ऊपर की आयवाला : सप्तद्वीपा पृथिवी का स्वामी ।	

सामन्त आदि की यह परिभाषा एकदम ठोस जीवन की सचाई से ली गई है। इसके द्वारा शासन और राज्यों के अधिपति राजा-महाराजाओं का तारतम्य तुरन्त समझ में आ जाता है। 'मानसार' ग्रंथ में तो सामन्त से लेकर चक्रवर्त्ती और अधिराज तक के पदों को प्रकट करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के मौलि और मुकुटों का विवरण दिया है। इन्हीं की सहायता से दरबार आदि के समय प्रतिहारी इनकी पहिचान करके उन्हें यथोचित आसन और सम्मान प्रदान करते थे (मानसार, ४६।१२-२६)। गुप्तकाल के बाद मुद्राओं की दर सस्ती हो गई। अतएव, मध्यकाल में हम पाते हैं कि सामन्तों की आय घट गई थी। अपराजितपृच्छा ग्रंथ के अनुसार लघुसामन्त की आय ५ सहस्र, सामन्त की १० सहस्र, महासामन्त या सामन्तमुख्य की २० सहस्र होनी चाहिए (अपराजितपृच्छा, पृ० २०३, ८२ ५-१०)। सूत्रधार मंडन-कृत राजवल्लभ-मंडन (५।१७; पृ० ७२) से भी इसका समर्थन होता है। अपराजितपृच्छा में यह भी लिखा है कि महाराजाधिराज परमेश्वर उपाधिधारी सम्राट् के दरबार (सभामंडप) में ४ मंडलेश १२ मांडलिक, १६ महासामन्त, ३२ सामन्त, १६० लघु सामन्त और ४०० चतुराशिक (या चौरासी) उपाधिधारी होने चाहिएँ (७८।३२-

(१) हर्षचरित के संस्करण

१. श्रीजीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित प्रथम संस्करण (१८७६ ई०); तीसरा संस्करण (१९१८ ई०) चलतू संस्करण है, जिसमें मनमाने पाठ दिये गये हैं।
२. जम्मू-संस्करण, महाराज रणवीरसिंह बहादुर के संरक्षण में प्रकाशित, संवत् १९३६ (= १८७९ ई०)। कश्मीरी प्रतियों के आधार पर। पाठ अपेक्षाकृत शुद्ध।
३. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर-संस्करण, कलकत्ता (१८८३)।
४. निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, प्रथम संस्करण (१८९२), जिसे श्रीकाशीनाथ पाण्डुरंग परब और श्रीधोंधो परशुराम वाझे ने संपादित किया। यही संस्करण सबसे अधिक सुलभ है। इसी के पाँचवें संस्करण (१९२५) के पृष्ठांक यहाँ दिये गये हैं। मूल संस्करण को श्रीवासुदेवलक्ष्मण शास्त्री पणशीकर ने संशोधित किया है।
५. श्री कैलासचन्द्र दत्त शास्त्री, कलकत्ता द्वारा संपादित संस्करण।
६. श्री ए० ए० फ्यूहरर द्वारा संपादित संस्करण (श्रीहर्षचरितमहाकाव्यम्), बम्बई (१९०९ ई०)। यह प्राचीन कश्मीरी और देवनागरी प्रतियों के आधार पर सपरिश्रम तैयार किया हुआ संस्करण है। पाठ और अर्थों को ठीक करने में इससे मुझे सबसे अधिक सहायता मिली। इसकी त्रुटि यही है कि बाण की परिभाषाओं का ज्ञान न होने के कारण बहुत अच्छे पाठ मूल की जगह टिप्पणी में रख दिये गये हैं।
७. श्री पी० वी० काणे द्वारा संपादित संस्करण, बम्बई (१९१८, प्रथम संस्करण)। इसमें मूल हर्षचरित सम्पूर्ण है, किन्तु 'संकेत' टीका नहीं छापी गई। इस संस्करण की विशेषता उसके ४८५ पृष्ठों के नोट्स हैं, जिनमें हर्षचरित के प्रायः, प्रत्येक कठिन पद और समास पर अत्यन्त परिश्रम के साथ विचार किया गया है। बाण की पारिभाषिक शब्दावली और सांस्कृतिक सामग्री के स्पष्टीकरण की दृष्टि से इस उत्तम संस्करण की वही सीमा है, जो सन् १९१८ ई० में बाण के अध्ययन की थी। फ्यूहरर के संस्करण के पाठान्तरों का उपयोग भी इसमें कम ही हो सका है।
८. बाणकृत हर्षचरित, उच्छ्वास ४-८; श्री एस० डी० गजेन्द्र गडकर-विरचित बालबोधिनी नामक संस्कृत टीका सहित। इसी के साथ श्री ए० बी० गजेन्द्र गडकर-कृत भूमिका, टिप्पणी और अनुक्रमणी भी हैं [Introduction, (critical and explanatory) and Appendices by A. B. Gajendragadkar], पूना, १९१९ ई०।

इनमें से संख्या २, ४, ६, ७, ही मुझे उपलब्ध हो सके।

९. श्री० बी० कॉवेल और एफ० डब्ल्यू० टामस-कृत हर्षचरित का अँगरेजी-अनुवाद,

२. श्री डब्ल्यू० कार्टेलिअरी, सुबन्धु एंड बाण, वियना ओरियंटल जर्नल, भाग १, पृ० ११५-१३२। [लेखक का अभिमत है कि बाण ने सुबन्धु-कृत वासवदत्ता का आदर्श सामने रखकर कादम्बरी की रचना की।]

३. श्रीशिवप्रसाद भट्टाचार्य, सुबन्धु ऐंड बाण, हू इज अर्लिअर ? (सुबन्धु और बाण में पहला कौन ?) इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, १६२६, पृ० ६६६।

४. श्री वा० वि० मिराशी, दी ऑरिजनल नेम ऑफ् दि गाथासप्तशती रेफर्ड टू बाइ बाण ऐज कोप (गाथासप्तशती का असली नाम बाण ने कोप दिया है), नागपुर ओरियंटल कान्फ्रेन्स (१६४६), पृ० ३७०-३७४।

५. श्रीसिल्वाँ लेवी, आलेग्जाँद्र ए अलिग्जाँद्री दाँ ले दोक्युमाँजाँदियाँ, मेमोरियल सिल्वाँ लेवी, पृ० ४१४। [लेखक ने दिखाया है कि बाण का 'अलसश्र'ङकोश' (पृ० १६५) सिकन्दर और स्त्रीराज्य की पुरानी कहानी पर आश्रित था।]

६. श्रीप्रबोधचन्द्र बागची, एलेक्जेंडर ऐंड एलेक्जेंड्रिया इन इंडियन लिटरेचर, (भारतीय साहित्य में अलेग्जेंडर और अलेग्जेंड्रिया), इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, भाग १२ (१६३६), पृ० १२१-१२२। संख्या ५ के फ्रेंच लेख का अँगरेजी-अनुवाद।

७. श्रीदेवदत्त रामकृष्ण भंडारकर, नोट्स ऑन ऐंश्येंट हिस्ट्री ऑफ् इंडिया [प्रद्योत और उसके भाई कुमारसेन की पहचान, एवं शिशुनाग के पुत्र काकवर्ण की पहचान), इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, भाग १, पृ० १३-१६। और भी देखिए, श्रीसीतानाथ प्रधान का लेख, सर आशुतोष मुकर्जी सिल्वर जुबली वाल्यूम, ओरियंटेलिया, भाग ३, पृ० ४२५-४२७।

८. श्रीपरशुराम के० गोडे, तंगण हॉर्सेज इन हर्षचरित (हर्षचरित में तंगण देश के घोड़े), इंडियन हिस्ट्री काँगरेस, अन्नमलै की प्रोसीडिंग्ज, पृ० ६६।

९. श्री आर० एन० सालातोरे, दिवाकरमित्र, हिज डेट ऐंड मॉनेस्ट्री (दिवाकरमित्र, उसका काल और आश्रम), इंडियन हिस्ट्री काँगरेस, अन्नमलै की प्रोसीडिंग्ज, पृ० ६०।

१०. श्रीपरमेश्वर शर्मा, महाकवि बाण के वंशज तथा वासस्थान, 'माधुरी', संवत् १६८७ (पूर्ण संख्या ६६), पृ० ७२२—७२७।

११. श्रीशिवाधार सिंह, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन-पत्रिका, संवत् २००६, भाग ३६, तीन लेख
(अ) बाणभट्ट का उद्भवकाल तथा उनके परवर्त्ती लेखक,
माघ-चैत्र, संख्या ४—६, पृ० २२६—२३८
(आ) „ वैशाख-आषाढ, संख्या ७—६, पृ० ३७०—३८८
(इ) बाण और मयूर श्रावण-आश्विन, संख्या १०—१२, पृ० ४८८—४६७

१२. श्रीजयकिशोरनारायण सिंह, महाकवि बाण तथा पार्वतीपरिणय, 'माधुरी', संवत् १६८८ (पूर्ण संख्या १११), पृ० २८६—२६४।

जर्नल ऑफ् ओरियंटल रिसर्च, मद्रास, (बाण के ग्रंथों में चित्र और सम्बद्ध कलाएँ), भाग ६, पृ० ३६५ एवं भाग ७, पृ० ५६ ।

१४. श्रीननिगोपाल बनर्जी, श्रीहर्ष, दी किंग-पोएट (सम्राट् हर्ष कविरूप में), इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, भाग १२ (१६३६), पृ० ५०४—५१० ; ७०१—७१३ ।

१५. श्री एस्० एन्० झारखंडी, दि कोरोनेशन ऑफ् हर्ष (हर्ष का राज्याभिषेक), इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, भाग १२ (१६३६), पृ० १४१-१४४ ।

१६. श्रीकार्टेलियरी, डास महाभारत डेइ सुबन्धु उंड बाण (सुबन्धु और बाण में महाभारत), विश्रना ओरियंटल जर्नल, भाग १३, पृ० ७२ ।

१७. क्लोज लैक्सिकल एफीनिटी बिटवीन हर्षचरित ऐंड राजतरंगिणी (हर्षचरित और राजतरंगिणी में शब्दों की समानता), विश्रना ओरियंटल जर्नल, भाग १२, पृ० ३३; जर्नल ऑफ् दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, १८८६, पृ० ४८५ ।

१८. श्रीमानकोस्की, कादम्बरी ऐंड बृहत्कथा, विश्रना ओरियंटल जर्नल, भाग १३ ।

१६. श्री डी० सी० गांगुली, शशांक, इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, भाग १२ (१६३६), पृ० ४५६-४६८ ।

२०. अन्य कवियों द्वारा बाण की सराहना, संस्कृत-साहित्य-परिषद्, कलकत्ता की पत्रिका, भाग १३, पृ० ३८ तथा श्रीपिटर्सन द्वारा सम्पादित कादम्बरी की भूमिका (पृ० ४६) में भी इसपर विस्तृत विचार है ।

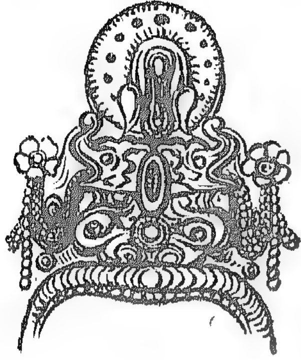
अभी हाल में अपने मित्र डॉ० श्री राघवन्, अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, मद्रास-विश्वविद्यालय, से पता चला कि कृष्णसूरि के पुत्र और नारायण के शिष्य, रंगनाथ नामक विद्वान् ने हर्षचरित पर 'मर्मावबोधिनी' नामक टीका लिखी थी। उसकी एक सम्पूर्ण प्रति गवर्नमेंट ओरियंटल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास में (सं० आर० २७०३) और दूसरी खंडित प्रति अदयार लाइब्रेरी में (सं० ८ । १ । १६, सूचीपत्र, भाग ५, पृ० ७७०) है। इस टीका के सम्बन्ध में पूछताछ जारी है। अभी कोई विशेष जानकारी नहीं मिली ।

२१. श्री एफ् डब्ल्यू० टॉमस, 'टू लिस्ट्स, ऑफ् वर्ड्स फ्रॉम बाणाज हर्षचरित, जे० आर० ए० एस्०, १८६६, पृ० ४८३—५१७ ।

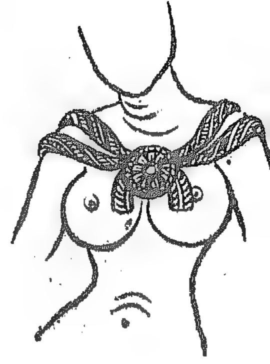
२२. टामस : 'सुबन्धु ऐंड बाण,' विश्रना ओरियंटल जर्नल, भाग १२, २१३३ ।

२३. लुई एच्० ग्रे, 'लिटरेरी स्टडीज ऑफ् दि संस्कृत नावेल,' विश्रना ओरियंटल जर्नल, भाग १८, पृ० ३६—५८ [दि संस्कृत नावेल ऐंड दि अरेबियन नाइटस, पृ० ४८; 'दि संस्कृत नावेल ऐंड दि संस्कृत ड्रामा,' पृ० ४८-५४; 'रिइनकारनेशन एज: ए नावेलिस्टिक डिवाइस, पृ० ५४—५८ । Bhan Daji : Dictionary or Complete Manuscript Copies of Bana's Harshacharita


१

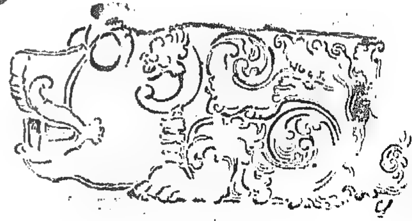

२


३

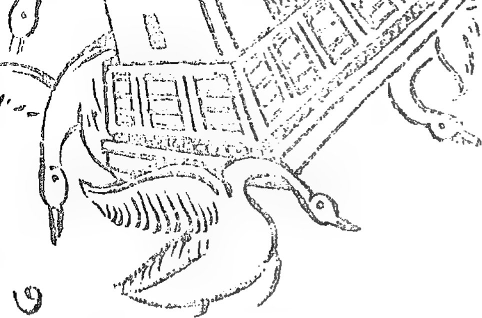

अ ३


४


५


६

१. इन्द्रादि देवों के साथ कमलासन ब्रह्मा। २. पत्रभंगमकरिका। ३. उत्तरीय की गात्रिका-ग्रन्थि।
४. कुंडलित स्कंधावलम्बी योगपट्ट। ५. पुंडरीकमुकुल-सदृश कमंडलु। ६. मकरमुख महाप्रणाल।



៧



៨

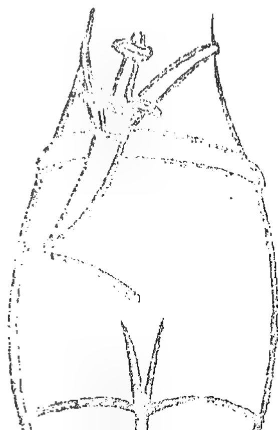


៩

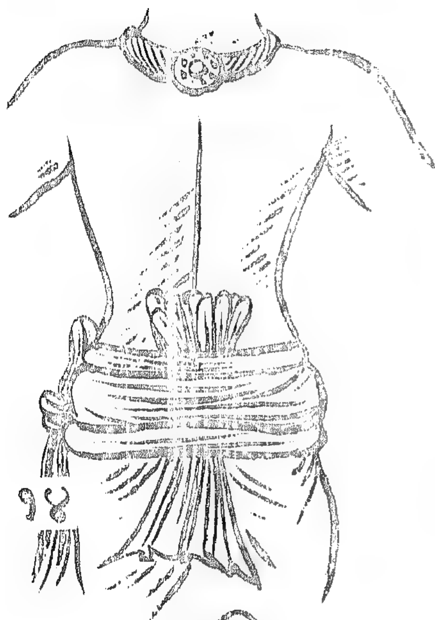


១០





१३. दो मोतियों के बीच में पन्ने सहित त्रिकंटक नामक कान का गहना।



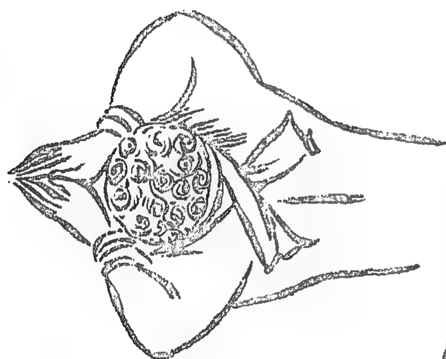








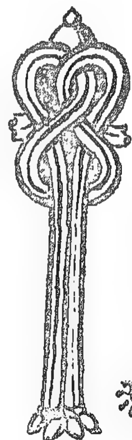
१८



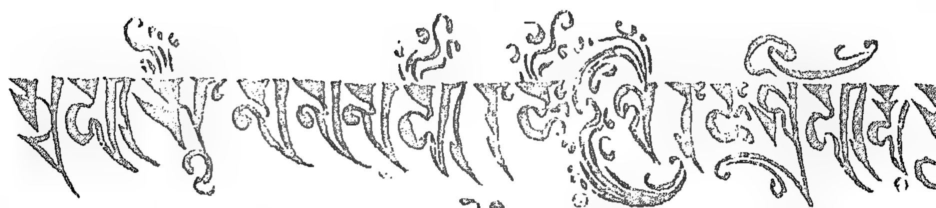
१६



२०



अ २



२१



२२



२३



२४



२५



२६



२७

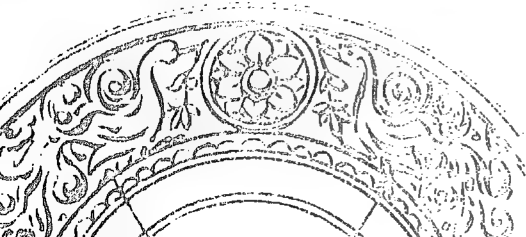

यष्टि दीप
२८


लटकता हुआ
अधर
२९


घुटनों तक चढ़े
हुए नूपुर
३१


तरंगित
उत्तरी
३२


३५





३०

भैरवाचार्य का शिष्य



सांची, शुंग

शालभंजिका





मथुरा, कुषाण



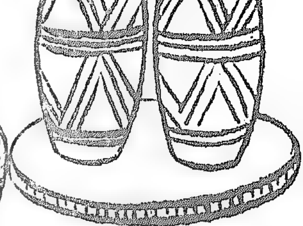
मथुरा, शुंग



गुप्त कालीन
शालभंजिका
मथुरा

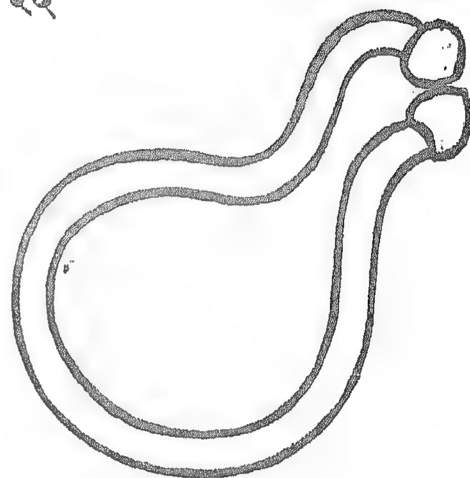






३६





३७

३८






४१



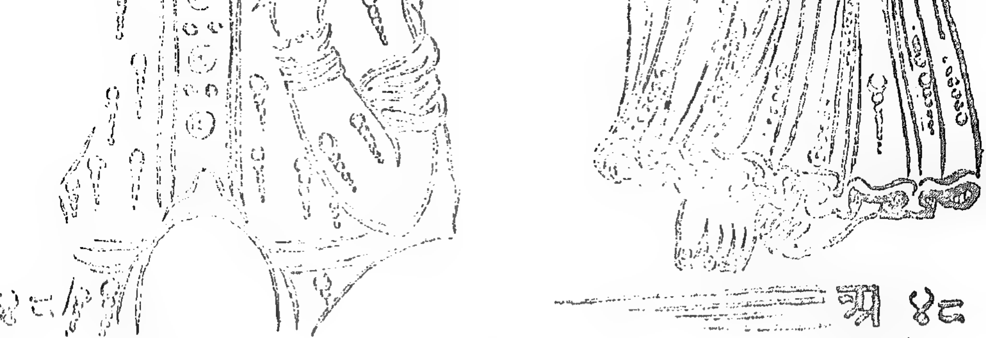








मथुरा से प्राप्त गुप्तकालीन विष्णु। सिर पर मकरिका, गले में एकावली, कटि में बँधा हुआ मेखलसूत्र, और खराद पर चढ़े हुए के जैसा गोल कटिप्रदेश (तनुवृत्तमध्य)।


श्र ४८

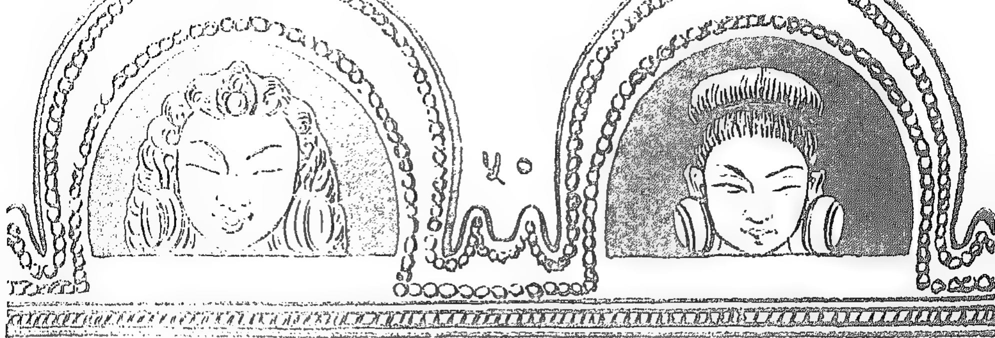


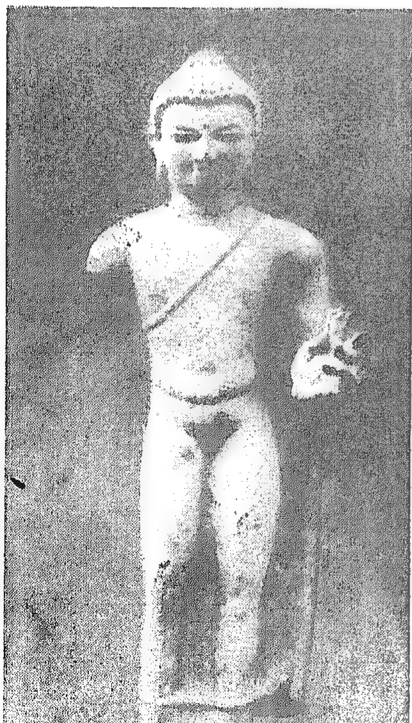
Fig. 62



५४



५५





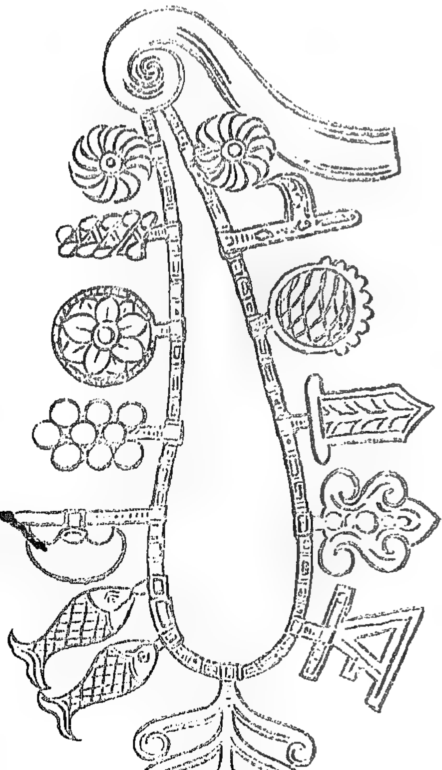


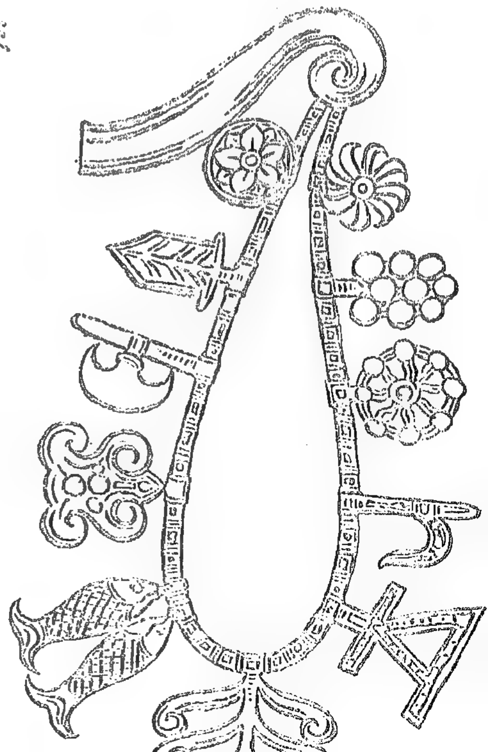
मथुरा



अष्टमंगलक माला

५६



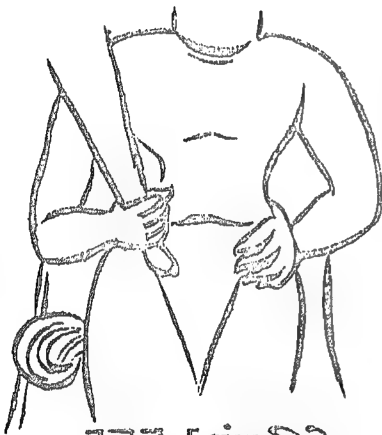




५८ शशांक की मुद्रा



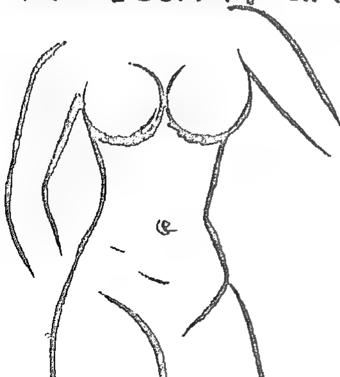
छुडु या भुजाली ६०



६१ कटक [डंडा लिये प्यादा]

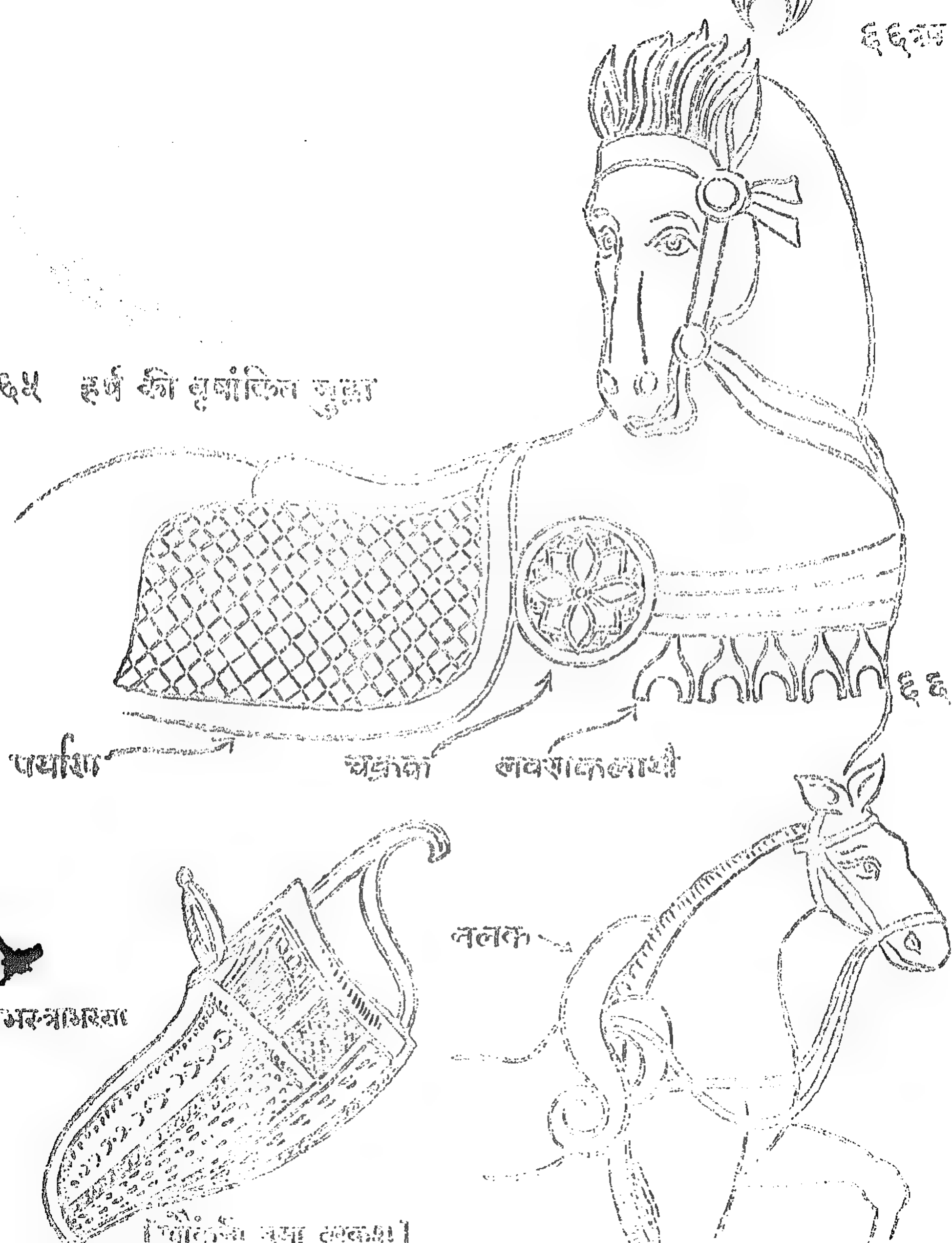


कर्पटी परिचारक ६२



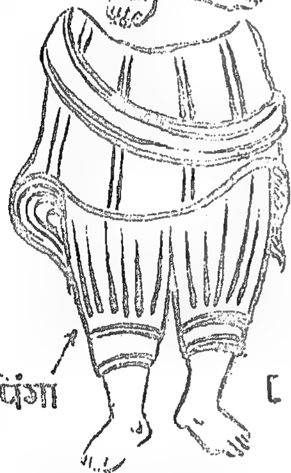


भद्रासन


६५ हर्ष की मृणांकित मुद्रा
पर्याण
चक्रक
लवणकलायी
नलक
अश्वाभरण



६ स्वस्थान [सुथन]



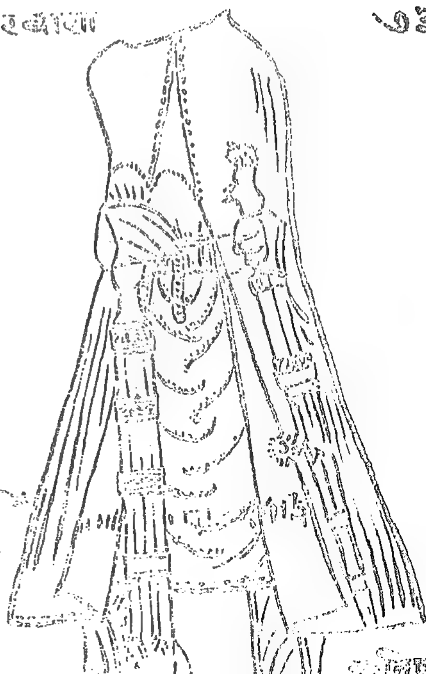
[सलवार]

१०

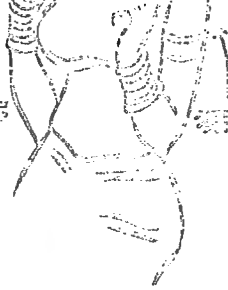


[चीना का लम्बा चोगा]

वारबाण ७३










७४
आच्छादक
७६


७५
कूर्पासक



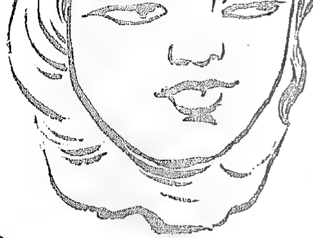



कर्णोत्पल


कुंडल


पत्रांकुर कर्णपूर






अ ८१

८१

चोटियों से युक्त काई रंग की ढालें



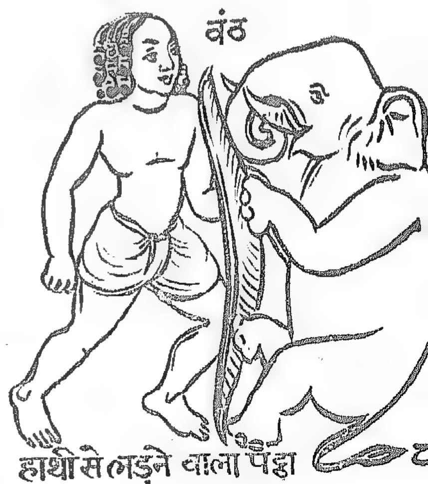


८२

८२ अ



८३



हाथी से लड़ने वाला पट्ठा

८

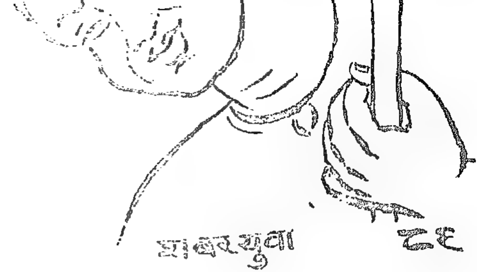
८६

राज छत्र

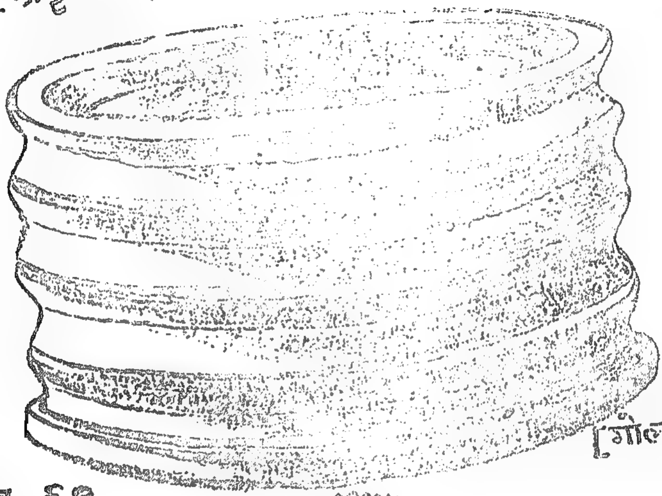
८५



वीटकुट [अमृतखाण]



झाबरखुवा ८९



[गोल चकरियों से बना कुला]

गंडकुसुल ९०



टैराकोटा मुद्रा


৬১


৬১অ


৬২


৬২অ





अजिर

राजकुल

अजिर

राजद्वार

न्तोपविष्ट
साधु

शिबिर

सर्व देशों के जनपद जन

देशान्तरागत
दूतमंडल

समुद्रतटवासी
म्लेच्छ राजा

शिबिर

नाना देशज महीपाल

वारणेन्द्र
(गजशाला)

तुरंग
मंदुरा

क्रमेलक

महानस

अजिर

भुक्तास्थानमंडप

आहार मंडप

धवलगृह
(शुद्धान्त)

तोयकर्मान्त

गृह

देवगृह

गृहोद्यान

गृहदीर्घिका

बालवन

महास्थानमंडप
(बाह्यास्थानमंडप)
(आस्थान, सभा)

अजिर

इभधिष्ण्यागार

अवस्थानमंडप
राजकुंजर दर्पशाल

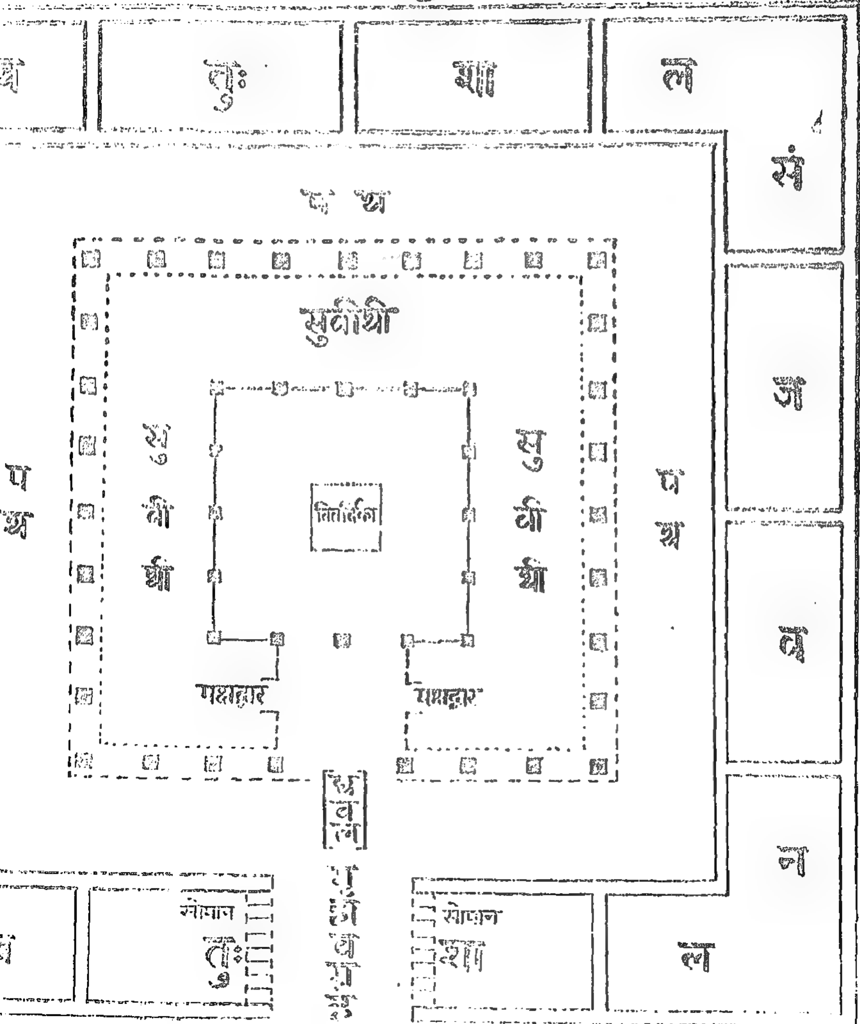
आ
लि
न्द

रा
ज
द्वा
र

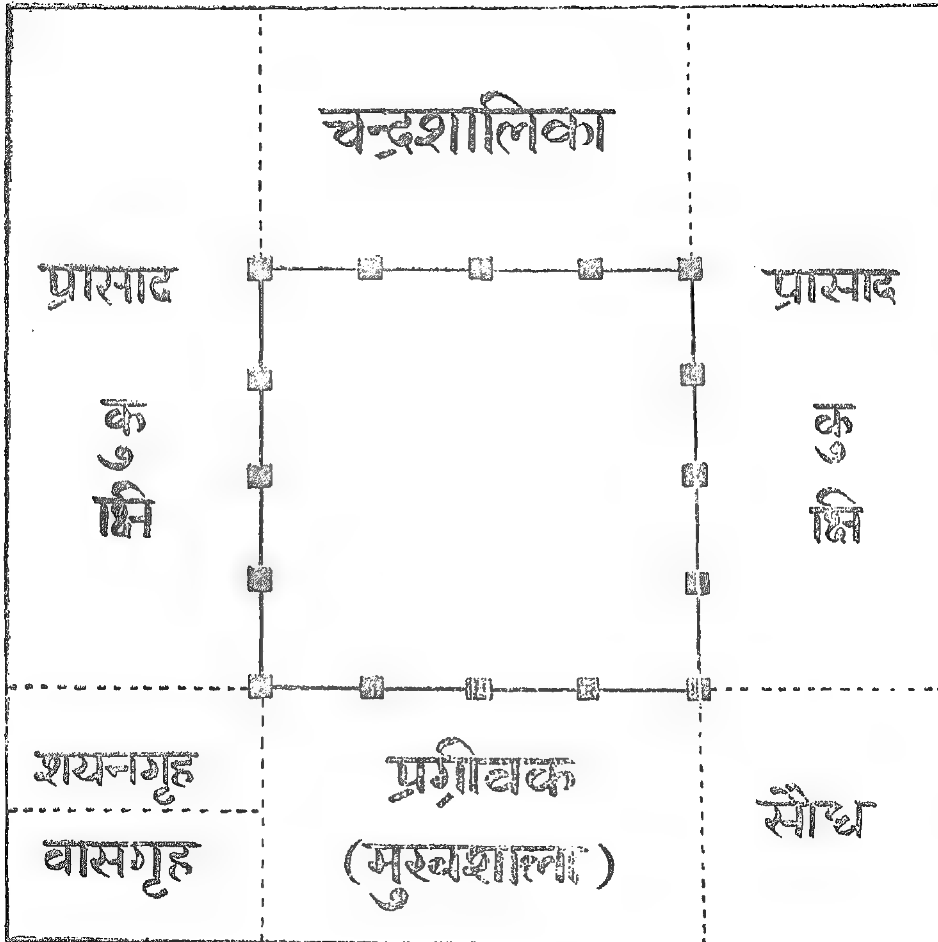
आ
लि
न्द

अजिर

धवलगृह



ऊपरी तल



अ

श